प्रस्तावना

सर्व सज्जनों को विदित हो कि:—कुछ समय के पूर्व वशिष्ठ विश्वामित्रादि प्रात: स्मरणीय महर्षियों की नाईं जिज्ञासु भक्तों के सुकृत कर्मो की व्यक्तिदत्त मूर्ति ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्मश्रोत्रिय, महा अवधूत श्री गुमानन्दजी महाराज मुमुक्षुजनों के हितार्थ मध्यप्रदेश में बहुत काल तक चन्द्रवत् सानन्द विचरते रहे और सम्वत् १९७९ में मन्दसौर ग्राम के मध्य विष्णुपुरी नामक स्थान में समाधिस्थ हुवे।

वास्तव में मनुष्य चार प्रकार के होते हैं (१) पामर (२) विषयी (३) जिज्ञासु और (४) मुक्त. इन के लिये क्रम पूर्वक वेद में एक लाख मन्त्र हैं। जिन में ८० हजार कर्म के प्रतिपादक और १६ हजार उपासना के प्रतिपादक—रोचक, भयानक, विधि तथा, निशेध—वाक्य हैं, तथा शेष ४ हजार ज्ञान—काड संबंधी यथार्थ वाक्य हैं। परन्तु—वेद भगवान् का तात्पर्य साक्षात् तथा परम्परा करके अधिकारि के प्रति कर्म रूपी बंधन की अत्यन्त निवृति और परमानन्द की प्राप्ति मोक्ष का प्रदान करना है तात्पर्य यह है कि—क्रम से प्रथम पामर को निषेध कर्म छुड़ाने के लिये स्वर्गसुख का लालच

दिया जाता है और विहित कर्म में गुडजिव्हा न्याय से प्रवृत्त करा के विषयी बनाते हैं, पश्चात विषयी पुरुष को भी सांसारिक तथा–स्वर्गादिक सुखों में परिच्छिन्नता व दुःखरूपता बताकर विचार पूर्वक वैराग्य उत्पन्न कराते हैं। इस प्रकार वैराग्यवान् जिज्ञासु होकर, अन्त में ब्रह्मात्मस्वरूप असंग निश्चय करके मुक्त होता है। आत्मा स्वयंप्रकाश होने से सदैव ही सर्व को स्वतःसिद्ध है। इसमें संशय युक्त विपरीत भावनामय अज्ञानरूपी तम के नाश करने के अर्थ महात्माओं की वाणी वेद से अभेद ज्ञानरूपी सूर्य के समान है। इस प्रकार की वाणी चाहे भाषा में हो अथवा–संस्कृत में उसका श्रवण मनन करना ही परमपुरुषार्थ है। इसके अतिरिक्त विवेकी जनों को कुछ भी कर्तव्य नहीं। यही कारण है कि–इन महात्मा ने यह ग्रन्थ 'गुरु' शिष्य संवाद रूप में सहज ही बोध कराने के लिये "चौदहरत्न गुप्तसागर" नाम से निर्माण किया है। जैसे परमात्मा ने अगाध समुद्र से जग विख्यात चौदह रत्न निकाले थे, उसी प्रकार महात्मा श्री गुप्तानन्दजी महाराज ने वेद रूपी महा–सागर से मुक्ति रत्न से लेकर विदेह रत्न पर्यन्त १४ रत्न निकाल कर जिज्ञासुजनों के सम्यक्ज्ञान, मोक्षधाम, तथा–विज्ञानियों के चित्त का चन्द्रमा प्रकट किया है और बोध की दृढ़ता के अर्थ हर एक रत्न में अनेक युक्ति प्रमाण न्याय दृष्टान्त तथा दा ष्टान्त कथन किये हैं, जिनके रहस्य को निश्चय कर अनुभव रूपी निराकार सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूपी आत्मा स्वतःसिद्ध अपरोक्ष न

सगोचर नित्य प्राप्त की प्राप्ती का अलभ्य लाभ उठा के जन्म मरण रूपी संसारमूलअविद्या से मुक्त होते हुवे तुलाशेष पर्यन्त जीवनमुक्त होकर स्वच्छन्द विचर ने का सयोग प्राप्त होता है। कर्म उपासना की अवधि केवल अन्त करण को शुद्धि पर्यन्त ही है। सो भी इस ग्रंथ के श्रवण मनन द्वारा सत्सग पूर्वक सिद्ध होकर अनेक मुमुक्षुजनों को जीवन मुक्ति का लाभ मिल सकता है।

इसके साथ ही दूसरा ग्रथ "गुप्तज्ञान-गुटका" नामक छन्दो बद्ध निदिध्यासनरूप परमार्थ छन्द लावणी, गजल, होली आदि पद रसिक विद्वानो के प्रति सर्वोपयोगी इन्हीं महात्मा का कथन किया हुवा प्रकाशित है।

यह पुस्तक प्रथम सम्वत् १९७८ मे इन्दौर निवासी माताजो नानूराम वर्मा ने परम पूज्य स्वामीजो की आज्ञा से छपाकर प्रकाशित की थी। पुस्तक का विषय अति गहन होते हुवे भी बहुत ही सरल रीति से पतिपादित किया गया है। इतना ही नहीं किन्तु रचयिता महानुभाव के बचन अनुभव सिद्ध होने के कारण उन का रसिक जनों के हृदय पर विशेष प्रकार का प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि-प्रथम सस्करण की सब प्रतियाँ शीघ्र ही बिक गई। तदुपरान्त इस परम उपयोगी तथा-अमूल्य ग्रथ का अभाव दूर करने के अर्थ अनेक सत्संग प्रेमी सज्जनों की हार्दिक प्रेरणा के कारण से इसे द्वितीयवार छापकर सर्व हितार्थ प्रकाशित करने का सयोग प्राप्त हुआ है। ॐ

तृतीयावृत्ति की प्रस्तावना

प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रथम और द्वितीय आवृत्तिकी समस्त प्रतियाँ बहुत समय हुवे बीत जाने और चारों ओर से अत्यधिक मांग होने के कारण, परब्रह्म-परमात्म स्वरूप महा-अवधूत श्री बापजी श्री १०८ श्री नित्यानन्दजी महाराज के पवित्र आदेशानुसार यह तृतीय आवृत्ति प्रकाशित हो रही है। "ऐसे महान् उपयोगी संग्रहणीय ग्रन्थ को आवृत्ति तो अब से कई वर्ष प्रथम ही प्रकाशित हो जानी चाहिए थी ?" ऐसी शंका एक बार उठने पर इस ग्रन्थ की उत्पत्ति और प्रकाश में आने की एक सत्य-घटना सुनने में आयी है, जो नीचे दीजाती है —

परब्रह्म स्वरूप, महाविरक्त, महा अवधूत, ब्रह्मलीन श्री १०८ श्री गुमानन्दजी महाराज मालवाप्रान्त के मन्दसौर नगर में जिस स्थान पर विशेष दिनों विराजते रहे, वह पवित्र स्थान, नदी के किनारे बनी हुई 'स्मशान की तिबरी' आज भी विद्यमान है।

बहुधा चातुर्मास्य के दिनों में नदी में बाढ़ (रेल) आने पर वह तिबरी जलमग्न होजाया करती है। अस्तु-प्रस्तुत ग्रन्थ पूर्ण होजाने पर एक बार एकाएक बहुत ही प्रबल बाढ़ आगयी, श्री गुमानन्दजी महाराज उस पुस्तक को एक तख्ते (जोकि बाढ़ में भी बह नहीं सकता था) के साथ बंधा छोड़कर तिबरी से निकल आए। इतने में लहरों के उठते २ उस तख्ते सहित वह पुस्तक जल के प्रवाह में प्रवाहित होगयी।

लोगों को इसका बहुत ही दुःख हुवा। क्योंकि-सच्चे महापुरुष प्रथम तो किसी से बोलते ही नहीं है, और फिर बोलते हैं, तो उनके मुख से निकली वाणी वेदार्थ को ही प्रगट करने वाली होती है। तदनुसार श्री गुमानन्दजी महाराज के मुख से निकली वाणी को समीपस्थ अधिकारी पुरुष नोट कर लिया करते थे, वह सारा भंडार इस प्रकार नष्ट होते देख किस पुरुष को दुःख न होता? अस्तु। कुछ दिनों बाद वह तख्ता जो नदी तटवर्ती १०।१२ मील पर स्थित? गाव मे पड़ा मिल गया, परन्तु-बन्धन सहित वह ग्रन्थ नहीं मिला।

६ मास के पश्चात् एक दिन नदी के किनारे २ घूमते हुवे ५।६ मील आगे जाकर एक स्थान पर श्री गुमानन्दजी महाराज ने अपने साथी पुरुषों से भूमि खोदने को कहा। ४।५ हाथ खोदने पर यह महा ग्रथ अपनी असली दशा में निकल आया। जिसे देखकर प्रत्येक व्यक्ति को साश्चर्य अपार हर्ष हुवा।

अनन्तर सभी जिज्ञासु भक्तों के अत्यधिक साग्रह प्रार्थना करने पर कई वर्ष के पश्चात् श्री अवधूतजी महाराज ने इसके छपाने की आज्ञा दी। और यह ग्रन्थ प्रकाश में आया। ॐ।

अब रही इस ग्रन्थ की उपोगिता, सो इस के बारे में एक अक्षर भी लिखना सूर्य को दीपक द्वारा दिखाना जैसा है। एवं द्वितीयावृत्ति की भूमिका मे, प्रकाशक-(ब्रह्मलीन-श्रीपं० कन्हैयालालजी उपाध्याय वकील रतलाम) ने कुछ संक्षेप में लिखाहो है। अस्तु

इस आवृत्ति में आकार परिवर्तन के साथ श्री ब्रह्मलीन महा अवधूत श्री १०८ श्रीकेशवानन्द जी महाराज (श्रीकेशव भगवान्) की वाणी का संग्रह रूप "तत्व-ज्ञान गुटका" नामक ग्रन्थ भी इसके पीछे सम्बद्धकर दिया है। तथा-श्री गुप्तानन्द जी महाराज के जो पद,कवित्त आदि तत्व ज्ञान गुटका,के पीछे लगा दिये गये थे, वह सब "गुप्त ज्ञान-गुटका" में यथा स्थान रख दिये गये हैं।

यद्यपि—'श्रीराधेश्याम-प्रेस, बरेली' के अध्यक्ष, मैनेजर कम्पोजिटर तथा-प्रेसमैनों तक ने इसे शुद्ध सुपाठ्य और अच्छे ढंग में प्रकाशित करने का पूर्ण यत्न किया है,तथापि-अनेक त्रुटियाँ रह गयी हैं,जो आशा है-चतुर्थ आवृत्ति में सन्तों के श्रीचरणों की कृपा से सुधर जायेंगी,क्योंकि-बिगड़ी के बनानेवाले हैं। ॐ तत्सत्।

प्रकाशक—

नोट—(१) चौदह रत्न-गुप्तसागर", तथा "गुप्तज्ञान-गुटका" में बहुधा 'ने' की जगह 'का' का प्रयोग पूज्य ग्रन्थ कर्ता ने किया है। हो सकता है, ऐसा प्रयोग करने में कोई गम्भीर रहस्य हो। इसी प्रकार अनेक स्थलों में विभक्तियों का परिवर्तन होगया है, अतः भावुक पुरुषों के-अतिरिक्त साहित्यिक महानुभावों से प्रार्थना है वह इस नोट पर ध्यान देवें। तथा-यह भी ध्यान में रक्खें कि- आज से लगभग २५। ३० वर्ष पहिले हिन्दी में जिस ढंग की कविता का प्रचार था उसी ढंग की कवितायें उक्त महा पुरुष की श्री वाणी से प्रगट हुई हैं और उसी ढंग से इनको पढ़ने से विशेष आनन्द की प्राप्ति होगी इस में संशय नहीं।

निवेदक—

शिशु०

विषयानुक्रमणिका

सूची

"चौदहरत्न-गुप्तसागर"

विषय

ॐ
श्री आचार्य विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार, जयपुर

श्री आचार्य विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार, जयपुर

चौदह रत्न गुप्त सागर प्रारंभः

मङ्गलाचरण

शिवः केवलो ऽ हं शिवः केवलो ऽ हमस्मि ।
शिवः केवलो ऽ हं शिवः केवलो ऽ हमस्मि ॥
शिवः केवलो ऽ हं शिवः कवलो ऽ हमस्मि ।
शिवः केवलो ऽ हं शिवः केवलो ऽ हमस्मि ॥

—०—

इस मङ्गलाचरण के अतिरिक्त और भी मङ्गल करते हैं:—

❀ त्रोटक छन्द ❀

निज आतम मङ्गल रूप सदा । फिर मङ्गल किसका कीजै जुदा ।
वो सब मङ्गल का मङ्गल है । तिसतें भिन्न और अमङ्गल है ॥१॥
दशहू दिशि मङ्गल है जिसको । जिन व्यापकरूप लख्या तिसको ।
हरि हर सूर गणेश जिते । सब आतम में कल्पित हैं तिते ॥२॥

आतम रूप का आधारा है। वह नाम रूप से न्यारा है ॥
जिसमें मिथ्या संसारा है। सो अव्ययरूप अपारा है ॥३॥
सत् चेतन का चमकारा है। जो आनन्द रूप हमारा है।
दूजे का महत्व क्या चीज। जो काल पाय के सब छीज ॥४॥
आतम त्रिकाल आप सही। दूजे का जिसमें लेश नहीं ॥
कोइ लोक न वेद न पक्ष सुरा। गुरु शिष्य न जामें परम्परा ॥५॥
कोइ मजब न पन्थ सन्यास जहाँ। कोइ साधन साध्य न भ्रम सहाँ ॥
सो ज्ञान सरूप सदा नित है। नहिं भोग्य नहीं इम्द्रीचित है ॥६॥
नहिं दृष्ट सृष्ट में आवत है। खोजे सब आपहि पावत है ॥
इम आपन महत्व आप किया। सब करना हम से दूर हुआ ॥७॥
क्रिया का मुझ में लेश नहीं। कोइ देश और परदेश नहीं ॥
मैं ही व्यापक मुझ बिना काया। कोइ जीवरु ईश नहीं माया ॥८॥

अनुबन्ध

अधिकारी के लक्षण जो मुक्ति रत्न से लेकर जिज्ञासा रत्न पर्यन्त कथन किये हैं सो जानने योग्य हैं। प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव रूप जो 'संबंध' है सो भी इस ग्रंथ में यथाक्रम कथन किया गया है। वास्तव में जीव ब्रह्म की एकता इस ग्रंथ का मुख्य 'विषय' है जो ज्ञान रत्न में विशेष रूप से प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति-रत्न में इसके प्रयोजन का विवेचन करने में आया है।

॥ अथ युक्ति रत्न ॥

शिष्य गया गुरु देव ढिंग, छांडि कपट छल बंक ॥
कर प्रणाम लखि मुदित मन, पूछन लगा निशंक॥१॥
सुख की चाहूं प्राप्ति मैं, सभी दुःख की हान ॥
सो कैसेकर होत है, कहिये कृपा निधान ॥२॥

किसी समय एक शिष्य, कपट, छल, वक्रभाव (अर्थात्-प्रमाद) आदि त्याग कर, अपने सद्गुरु के पास गया और प्रणाम करके उसने देखा कि—इस समय गुरु महाराज अपने पर बहुत प्रसन्न हैं, तब तो वह संकोच रहित, अर्थात् निर्भय होकर सविनय पूछने लगा—

हे गुरु देव! मैं सुख की प्राप्ति और सब प्रकार के दुःखों की निवृत्ति चाहता हूँ, सो हे कृपानिधान! आप मुझ पर दया करके कहिये, मेरी यह इच्छा कैसे सफल हो सकती है?" शिष्य के दीनता पूर्वक इस प्रकार प्रश्न करने पर गुरु बोले —

"हे शिष्य! तू किसके वास्ते और कैसा सुख चाहता है? वेदों में दो प्रकार के पदार्थ कहे हैं—(१) आत्म और (२) अनात्म, इनमें से तू आत्मा के सुखकी प्राप्ति चाहता है?

अथवा अनात्मा के ? यदि तू कहे कि–अनात्मा के सुख को चाहता हूँ, तो तेरा यह कहना वृथा है, क्यों कि–अनात्मा का तात्पर्य अपने से भिन्न का है, और यह स्पष्ट है कि तेरे से भिन्न माने दूसरे के आराम से तेरे को आराम नहीं होता है। जैसे किसी मनुष्य को निधि प्राप्त हो तो उस निधि-जनित-सुख की प्राप्ति भी उसी को होगी दूसरे को नहीं होगी। इसी प्रकार अनात्म को सुख प्राप्त होने से तेरा प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा।

वेद ने अनात्म-पदार्थों को सुख रूप नहीं कहे हैं,–बल्कि असत् जड़ और दुःखरूप ही कहे हैं। इसलिये इस लोक तथा परलोक के सभी अनात्म पदार्थों को सुख की प्राप्ति होना संभव नहीं।

अब यदि तू कहे कि–आत्मा के लिए सुख की प्राप्ति चाहता हूँ तो तेरा यह कथन भी बनता नहीं, क्योंकि–वेद ने आत्मा को सुख रूप कहा है और इस शरीर से लेकर स्त्री पुत्र और शरीर के उपकारक–धन, पशु आदि सभी लौकिक तथा पारलौकिक अनात्म पदार्थों का दुःखरूप बताया है।

गुरु के उक्त वचन सुनकर शिष्य बोला–हे भगवन्! आप कहते हैं कि–'पदार्थों में सुख नहीं है,' परन्तु–मुझे यह कथन अच्छा नहीं है, क्योंकि मेरे को तो पदार्थों में सुख प्रतीत होता है। यदि पदार्थों में सुख नहीं हो तो उनके प्राप्त होने से जो आनन्द होता है सो नहीं होना चाहिए, क्योंकि, बिना हुए पदार्थ

की प्रतीति होती नहीं है। यदि विना हुये पदार्थ की प्रतीति मानें तो वन्ध्या पुत्र आदि की प्रतीति होना चाहिये कि-जो किसी को भी होती नहीं। अत-ऐसा प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि-पदार्थो मे ही आनन्द हैं। आप कहते हैं कि-'पदार्थ सुख रूप नहीं है'। यह कथन मेरी समझ मे नहीं आता।

यदि ऐसा कहा जाय कि-आत्मसुख का ही विषय मे भान होता है, तो मेरे विचारानुसार यह भी सभव नहीं, क्योंकि-आत्मा का तो किसी काल में अभाव नहीं होता, आत्मा नित्य है, ऐसी स्थिति में सुख का भी कदापि-अभाव नहीं होना चाहिये। यदि विषय में आत्म सुख का भान हो तो सदैव ही सुख की प्राप्ति होना चाहिये. परन्तु-सुख सदैव होता नहीं है। इससे यही जाना जाता है कि-विषय में ही आनन्द है, और प्रत्यक्ष भी देखने और सुनने मे आता है 'मेरे स्त्री, पुत्र, धन, नहीं इस करके मैं बहुत दुखी हू'। और शास्त्र द्वारा सुनने मे आता है कि-"जिस काल मे देवराज इंद्रका और दैत्यो का पदार्थो के वास्ते बड़ा भारी युद्ध हुआ तब दैत्यों ने जय पाई और इद्र हार गया और भोगों की इच्छा करके दीन होगया, तब विष्णु भगवान् के पास जा के विषय सुख के वास्ते बहुत दीनता की, "यदि विषय में सुख नहीं होता तो-अमरेश विष्णु की कृपा का पात्र क्यों होता? इससे जाना जाता है कि-विषय में ही सुख है"।

गुरुरुवाच—हे शिष्य ! तुमने जो कहा कि–'विषय में ही सुख है' सो ऐसी बुद्धि तो विषयी पुरुषों की होती है, तू काहे को विषयी बनता है। और तुमको किसी रीति से विषय में सुख की प्रतीति भी होगई है, तो तेरे से यह पूछते हैं कि–विषय में सुख अनित्य है कि नित्य ? यदि तुम प्रथम पक्ष स्वीकार करो कि–विषय सुख अनित्य है तो अनित्य सुख की कोई भी जिज्ञासु इच्छा करता नहीं और अनित्य सुख की जो इच्छा करते हैं वे जिज्ञासु नहीं। और जो तुम दूसरा पक्ष अङ्गीकार करो कि–विषय सुख नित्य है, तो आत्मा का स्वरूप ही सुख होवेगा। क्योंकि वेद में आत्मा को सुखस्वरूप और नित्य कहा है इस लिये आत्मा से भिन्न अनात्म वस्तु कोई भी सुख रूप है नहीं, एक आत्मा ही सुखरूप है, जिसको सुख की प्राप्ति कहना बनता नहीं क्योंकि पहिले जो वस्तु नहीं होवे तिसकी ही प्राप्ति कहना बनता है सो आत्मा वेद ने आप्त स्वरूप कहा है तिसको सुख प्राप्ति की चाहना बने नहीं। और जो तूने यह बात कही थी 'जो आत्मसुख ही विषय में भान होवे तो सब काल सुख की प्रतीति होनी चाहिए।' आत्मा नित्य होने से यह कहना भी तेरा बनता नहीं। क्योंकि–आत्मा का तो उत्पत्ति नाश होता नहीं और तुम भी अंगीकार करते नहीं हो क्योंकि वह नित्य है।

परन्तु साक्षी आत्मा के आश्रित जो अन्तरात्मा अन्तःकरण की वृत्ति वह इंद्रिय द्वारा निकल के बाह्य देश में जाकर अनुकूल वा प्रतिकूल

पदार्थ से मिल के सुखाकार वा दुखाकार होती है। और जब अनुकूल विषय की प्राप्ति होती है तब वृत्ति सुखाकार होती है। यद्यपि वह वृत्ति राजस है, तिस वृत्ति से सुख की प्राप्ति कहना संभवे नहीं, क्योंकि सुख-सात्त्विकी वृत्ति से होता है तिसका कोई निमित्त है नहीं, तथापि—तिस विषय को जो प्राप्ति हुई है तिस विषय की प्राप्ति से तिस राजस वृत्ति का नाश होगया है; परन्तु तिस वृत्ति के नाश से अनन्तर दूसरी सात्त्विकी वृत्ति उत्पन्न होवे है, तिस वृत्ति के उत्पन्न होने में राजस वृत्ति का नाश ही निमित्त है, परन्तु वहिर्विषय के आनन्द का विषय करने से वह वृत्ति भी वहिर्मुख ही होती है, तिस वृत्ति से भी अन्तर आनन्द का भान होवे नहीं, परन्तु तिस बहिर्मुख सात्त्विकी वृत्ति के पीछे और अन्तर्मुख वृत्ति उत्पन्न होवे है, तिस वृत्ति से अन्तर्सुख जो अन्तःकरण उपहित आनन्द है तिसका ही भान होवे है और वहिर्मुख जो सात्त्विकी वृत्ति हुई है और विषय के आनन्द का जो लाभ हुआ है, तिस आनन्द से वृत्ति की स्थिति हुई है, यही तिस अन्तर्सुख वृत्ति के होने मे निमित्त है,।

तात्पर्य यह है कि—जितना कि अन्तर और बाहर जो आनन्द भान होता है सो सब वृत्ति के ही उत्पत्ति और नाश से होवे है, इसी करके सुख का नाश होवे है और वृत्ति की स्थिरता होने से विषय में आनन्द का भान होवे है सो आत्मा का ही

आनन्द है। जैसे जितने पदार्थन में जो मीठा मालूम होता है सो सभी गन्ने का रस है, क्योंकि जितनी कि अन्न मिश्रित मिठाई बनती हैं सो सब सठि करके मीठी होती है, तैसे ही जितना कि जो आनन्द का मान होवे है बाहर और अन्दर सो सभी ब्रह्म आत्मा तिस ब्रह्म का ही है, आत्मा से भिन्न और कोई भी आनन्द स्वरूप है नहीं। इस करके जो तू आत्मा के वास्ते सुख को चाहे सो तेरा कहना बने नहीं, क्योंकि आत्मा सदा आनन्दरूप है और वेद में भी कहा है—

"प्रज्ञानमानन्दब्रह्म"

तिस महा वाक्य करके प्रज्ञान पद जीव-आत्मा का वाचक है और ब्रह्म पद ईश्वर का वाचक है। और आनन्द पद दोनों को अपने में ही बतावे है, इस करके भी आत्मा सुख रूप ही है, परन्तु—भाग त्याग लक्षणा करके देखिये तब तेरे को मालूम होवेगा कि—आत्मा आनन्द स्वरूप ही है, और जो तू सुखादिकों को आत्मा के गुण कहे सो भी बात तेरी बने नहीं क्योंकि—गुण और गुणी का तादात्म्य सम्बन्ध होता है सो भी तिन अनात्म पदार्थों का ही होता है और जो जिसका जिसमें तादात्म्य होता है सो तिसका स्वरूप ही होवे है जैसे जाति और व्यक्ति का तदात्म्य होवे भी जाति व्यक्ति स्वरूप ही है, व्यक्ति से भिन्न करके देखिये तो जाति कहीं मिलती नहीं। यदि कहो

पदार्थन का भी जिनका तादात्म्य होवे है, तिनका भी कल्पित ही भेद होवे है, वास्तव में गुण और गुणी का अभेद ही होवे है तब अनात्म पदार्थों का भी अभेद ही है, जब अनात्म है तो निर्गुण कहाँ है ? तिस निर्गुण आत्मा का गुणो से कौन सम्बन्ध है ?

संयोग अथवा समवाय सम्बन्ध है, सो समवाय सम्बन्ध तो पूर्व की रीति से बनता नहीं क्योंकि–जिन पदार्थन का न्याय शास्त्र में समवाय सम्बन्ध माना है उन पदार्थन का वेदान्तशास्त्र में तादात्म्य-सम्बन्ध माना है, तादात्म्य के नहीं बनने से समवाय भी बनता नहीं. और दूसरा संयोग सम्बन्ध कहा सो भी बनता नहीं, क्योंकि संयोग दो के आसरे रहता है याते कोई भी आसरा संयोग का बनता नहीं।

जो ऐसा कहे कि आत्मा के आसरे संयोग रहे है, सो यह कहना बनता नहीं, क्योंकि आत्मा को असंग कहा है, याते असंग आत्मा में संयोग का आसरा बनता नहीं। और जो दूसरा पक्ष कहे कि 'गुणन के आसरे संयोग रहता है' सो भी बात बनती नहीं, क्योंकि गुण जड होने से संयोग का आसरा बनते नहीं, इस करके सुखादिक गुणन का और आत्मा का कोई भी सम्बन्ध है नहीं। याते भी सुखादिक आत्मा के गुण नहीं है, सुखादिक आत्मा के स्वरूप ही है जो जिसका स्वरूप ही होवे है, सो तिस से भिन्न होवे नहीं। जैसे द्रवता जल का स्वरूप है, जैसे

उष्णता अग्नि का स्वरूप है, वैसे ही सुखादिक आत्मा के गुण नहीं है, आत्मा के स्वरूप ही है, और जो तुम ऐसे कहो कि—

'सुखादिक आत्मा के धर्म हैं' तो हम यह पूछते हैं कि सुखादिक अन्तरात्मा के धर्म सो तैने कैसे जाना ? वह आप बताइये जो तुम यह कहो कि आत्मा करके जाना सो यह तुम्हारा कहना बनता नहीं, क्योंकि आत्मा सब धर्मों से रहित वेद ने कहा, जैसे और सर्व धर्मन से रहित है, वैसे जानना भी एक धर्म है सो तिस जानन से भी रहित है या ते साक्षी आत्मा में जानना बनता नहीं। तो यद्यपि अनात्मा में भी जानना बनता नहीं और सुखादिकों का भान होता है सो नहीं होना चाहिये तथापि जैसे दूर देश में वस्तु होवे तिसके देखने में नेत्र की सामर्थ नहीं होवे है, और एक दूरबीन शीशा होता है केवल तिसमें भी सामर्थ नहीं होवे है और जब उस दर्पण को नेत्र से मिलाइये तब दूर देश स्थित वस्तु जानी जाती है, तैसे साक्षी आत्मा में भी जानना नहीं है और जड़ अनात्मा जो अन्तःकरण तिसमें भी जानना बनता नहीं, परन्तु— चेतन आत्मा के आश्रित जो जड़ अन्तःकरण तिस अन्तःकरण की वृत्ति आत्मा के प्रकाश करके प्रकाशित हुई सुखादिकन को प्रकाशती है तिस साभास वृत्ति करके सुखादिक जाने जावे हैं इस रीति स सुखादिक आत्मा के धर्म जाने हैं।

न्यायशास्त्र में सुखादिक आत्मा के ही धर्म कहे हैं इस

करके भी सुखादिक आत्मा के ही धर्म सिद्ध होवे हैं। इस युक्ति से और न्यायशास्त्र का प्रमाण देके सुखादिक आत्मा के धर्म सिद्ध करे सो भी कहना बनता नहीं, क्योंकि प्रथम तो आत्मा को सर्व धर्म से रहित ही कहा है, उस सर्व धर्म रहित आत्मा मे किसी धर्म के आरोपण करने का नाम भ्राति है। जैसे उष्णता से रहित को उष्णतासहित कहना, तथा—दंडरहित को दंडो कहना बनता नहीं, क्योकि तत्–धर्म रहित को तत्–धर्म विशिष्ट कहना ही भ्रांति है, सो ऐसी भ्राति तेरे को कहाँ से प्राप्त हुई है।

सुखादिक आत्मा के धर्म हैं यह कहना तेरा ऐसा है, जैसे कोई कहे चंद्रमा की किरण से मेरे को बड़ी तप्ती मालूम हुई और मरुस्थळ की नदी में मैंने जळपान और स्नान किया तब मेरे को शीतलता हुई ऐसे ही तू कहता है कि मैंने साभास वृत्ति से सुखादिक आत्मा के धर्म जाने हैं, सो आत्मा के धर्म सुखादिक किस वृत्ति से जाने हैं? सात्त्विकी वृत्ति करके जाने हैं अथवा राजसी वृत्ति करके जाने हैं? अथवा तामसी वृत्ति करके जाने हैं? इसमें भी वृत्ति के भेद हैं, एक सात्त्विक सात्त्विकी होती है, दूसरी सात्त्विक राजसी है और तीसरी सात्त्विक तामसी होती है। जैसे सात्त्विक वृत्ति के तीन भेद हैं तैसेही राजस और तामस के भी जान लेना पर उनसे किसी का ज्ञान कहना सभव नहीं, सात्त्विक वृत्ति से ही सभव है।

उष्णता अग्नि का स्वरूप है, तैसे ही सुखादिक आत्मा के गुण नहीं है, आत्मा के स्वरूप ही है, और जो तुम ऐसे कहो कि—

'सुखादिक आत्मा के धर्म हैं' तो हम यह पूछते हैं कि सुखादिक अन्तरात्मा के धर्म सो तैने कैस जाना ? यह आप बताइये जो तुम यह कहो कि आत्मा करके जाना सो यह तुम्हारा कहना बनता नहीं, क्योंकि आमा सब धर्मो स रहित यह न कहा जैसे और सर्व धर्मन से रहित है, तैसे जानना भी एक धर्म है सो तिस जानने से भी रहित है या ते साक्षी आमा में जानना बनता नहीं। तो यद्यपि अनात्मा में भी जानना बनता नहीं और सुखादिकों का मान होता है सो नहीं होना चाहिये तथापि जैस दूर देश में वस्तु होय तिसके देखने में नेत्र की सामर्थ नहीं होवे है, और एक दूरबीन शीशा होता है केवल तिसमें भी सामर्थ नहीं होवे है और जब उस दर्पण को नेत्र स मिलाइये तब दूर देश स्थित वस्तु जानी जाती है, तैस साक्षी आत्मा में भी जानना नहीं है और अरु अनात्मा जो अन्तःकरण तिसमें भी जानना बनता नहीं, परन्तु— चेतन आत्मा के आश्रित जो जब अन्तःकरण तिस अन्तःकरण की वृत्ति आत्मा के प्रकाश करके प्रकाशित हुई सुखादिकन को प्रकाशती है तिस साभास वृत्ति करके सुखादिक जाने जाते हैं इस रीति स सुखादिक आत्मा के धर्म जान हैं।

न्यायशास्त्र में सुखादिक आत्मा के ही धर्म कहे हैं इस

न्ति वृत्ति है अथवा लक्षणा वृत्ति है? जो तू ऐसा कहे
ग्खादिक हमने जाने हैं सो भी तेरा कहना
ः में जिस अर्थ को शक्ति होती है सो
होता है, और तिस को वाच्य अर्थ
करके सात्विक वृत्ति द्वारा सुखादिक
य वाचक का भेद मानता अथवा अभेद
भेद मानता है, यदि तू कहे कि वाच्य
मानता हू तो वास्तव से भेद मानता है
मानता है, जो तू ऐसे कहे कि—'वास्तव में भेद
तरा कहना बनें नहीं, क्योंकि वाच्य और वाचक
. होता है। जैसे घट पद वाचक है और कलश
ाच्य है, सो घट पद और तिसका वाच्य अर्थ
क ही वस्तु के नाम हैं, इस करके वाच्य और
ास्तव में भेद बने नहीं, और दूसरा कल्पित भेद कहे,
ल्पना मात्र ही है, क्योंकि कल्पित वस्तु अधिष्ठान से
ी नहीं इस से तो हमारा ही मत सिद्ध होता है।

दूसरा अभेद पक्ष कहे सो भी बनता नहीं, क्योंकि वाच्य वाचक
अभेद हो तो जैसे अग्नि पद का अंगार वाच्य है, जो अग्नि से
त्यंत अभिन्न होवे तो अग्नि पद उच्चारण करने से मुख का दाह
होना चाहिये, ऐसे ही उदक पद उच्चारण करने से मुख शीतल होना

फिर यह पूछते हैं—जो पूर्व तीन भेद कहे हैं, उनमें से सात्विक सात्विकी से सुखादिक आत्मा के धर्म जाने जाते हैं अथवा सात्विक राजस से जाने जाते हैं अथवा सात्विक तामस से जाने जाते हैं?' यह बात तुम हमारेको बताओ।

यदि तुम कहो कि "सात्विक सात्विकी वृत्ति से सुखादिक आत्मा के धर्म हमने जाने हैं" तो यह कहना तुम्हारा बनता नहीं, क्योंकि जाग्रत अवस्था में कोई कथा प्रसंग सुनके जो चित्त का एकाग्र होजाना है अथवा-किसी ध्यान करके जो मन एकाकार होके अन्य वस्तु में वृत्ति के प्रवाह की समाप्ति होती है उसी वृत्ति को सात्विक सात्विकी कहते हैं। और इसी प्रकार जाग्रत अवस्था में स्वर्ग के भोगों की इच्छा करके यज्ञादि कर्म का करना सात्विक राजस वृत्ति का कार्य है और जाग्रत अवस्था में आलस्य निद्रा के वश होके करने योग्य कार्य को नहीं करना ही सात्विक तामस वृत्ति है, ऐसे ही राजस और तामस को भी जान लेना। वास्तव में राजस तामस वृत्ति से तो कोई भी ज्ञान यथावत बनता नहीं, किन्तु सात्विक वृत्ति से ही बनता है, ऐसा कहना पड़ेगा और हम यह भी जानते हैं कि भगवत् वचन का प्रमाण भी तुम देओगे कि "सत्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च" इस प्रकार से सुखादिक आत्मा के धर्म हैं' ऐसा तुम कहो तो हम पूछते हैं कि— किस सात्विकी वृत्ति करके सुखादिक आत्मा के धर्म जाने हैं

सो वह शक्ति वृत्ति है अथवा लक्षणा वृत्ति है ? जो तू ऐसा कहे कि शक्ति वृत्ति करके सुखादिक हमने जाने हैं सो भी तेरा कहना बनता नहीं, क्योंकि—जिस पद मे जिस अर्थ को शक्ति होती है सो अर्थ तिस पद का शक्य अर्थ होता है, और तिस को वाच्य अर्थ भी कहते हैं, सो धर्म सिद्ध करके सात्त्विक वृत्ति द्वारा सुखादिक अन्तिम आत्मा के तू वाच्य वाचक का भेद मानता अथवा अभेद मानता है, अथवा-भेदाभेद मानता है, यदि तू कहे कि वाच्य और वाचक का भेद मानता हू तो वास्तव से भेद मानता है अथवा कल्पित भेद मानता है, जो तू ऐसे कहे कि-'वास्तव मे भेद मानता हूँ, तो यह तेरा कहना बनें नहीं, क्योंकि वाच्य और वाचक का नाम मात्र भेद होता है। जैसे घट पद वाचक है और कलश अर्थ तिसका वाच्य है, सो घट पद और तिसका वाच्य अर्थ कलश दोनों एक ही वस्तु के नाम हैं, इस करके वाच्य और वाचक का वास्तव मे भेद बने नहीं, और दूसरा कल्पित भेद कहे, सो वह कल्पना मात्र ही है, क्योकि कल्पित वस्तु अधिष्ठान से भिन्न होती नहीं इस से तो हमारा ही मत सिद्ध होता है।

दूसरा अभेद पक्ष कहे सो भी बनता नहीं, क्योंकि वाच्य वाचक का अभेद हो तो जैसे अग्नि पद का अंगार वाच्य है, जो अग्नि से अत्यत अभिन्न होवे तो अग्नि पद उच्चारण करने से मुख का दाह होना चाहिये, ऐसे ही उदक पद उच्चारण करने से मुख शीतल होना

फिर यह पूछते हैं—जो पूर्व तीन भेद कहे हैं उनमें से सात्विक सात्विकी से सुखादिक आत्मा के धर्म जान जाते हैं अथवा सात्विक राजस स जाने जाते हैं अथवा सात्विक तामस से जाने जाते हैं?' यह बात तुम हमारेको बताओ।

यदि तुम कहो कि "सात्विक सात्विकी वृत्ति से सुखादिक आत्मा के धर्म हमन जाने है" तो यह कहना तुम्हारा बनता नहीं क्योंकि जाग्रत अवस्था में कोई कथा प्रसंग सुनके जो चित्त का एकाग्र होजाना है अथवा-किसी ध्यान करके जो मन एकाग्र होके ध्येय वस्तु में वृत्ति के प्रवाह की समाप्ति होती है उसी वृत्ति को सात्विक सात्विकी कहते हैं। और इसी प्रकार जाग्रत अवस्था में स्वर्ग के भोगों का इच्छा करके यज्ञादि कर्म का करना सात्विक राजस वृत्ति का काय है और जाग्रत अवस्था में आलस्य निद्रा के वश होके करन योग्य कार्य को नहीं करना ही सात्विक तामस वृत्ति है, ऐसे ही राजस और तामस को भी जान लेना। वास्तव में राजस तामस वृत्ति स तो कोई भा ज्ञान यथावत् बनता नहीं, किन्तु सात्विक वृत्ति स ही बनता है, ऐसा कहना पड़ेगा और हम यह भी जानते हैं कि भगवान वचन का प्रमाण भी तुम देओगे कि सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एवच' इस प्रकार स सुखादिक आत्मा के धम हैं ऐसा तुम कहा तो हम पूछते हैं कि—जिस सात्विकी वत्ति करके सुखादिक आत्मा के धर्म जाने हैं

यदि आत्मा से जुदी हो तब तो तेरा कहना बने, क्योंकि आत्मा तो सर्वव्यापक है। इससे जितनी अनात्म वस्तु है सो आत्मा से भिन्न है नहीं, और तुझे भिन्न भासती हैं, यह तेरे को आत्मा के अज्ञान करके प्रतीत होती है।

जैसे जेवरी के अज्ञान करके नाना प्रकार के सर्प दण्डादिक पदार्थ भासते हैं, जब जेवरी का सम्यक्ज्ञान होता है तब एक जेवरी ही प्रतीत होती है, तैसे ही तिस आत्मा के अज्ञान करके नाना प्रकार के सुखादिक धर्म आत्मा के भासते हैं। सो वह आत्मा के ज्ञान से ही दूर होंगे। दूर ऐसा नहीं जानना कि कोई कोस दो कोस चले जावेंगे। जैसे सर्प दँडादिक कहीं से आये नहीं, और कहीं जाते भी दीखे नहीं, केवल रज्जू के अज्ञान के कारण भासते थे, रज्जू का ज्ञान होने से रज्जू स्वरूप ही हो जाते हैं, तैसे आत्मा के अज्ञान करके आत्मा में सुखादिक धर्म भासते हैं, सो केवल आत्मा के ज्ञान से ही आत्म स्वरूप भासते हैं। और जो तू यह कहै, कि शक्ति वृत्ति करके आत्मा के ज्ञान के असंभव होने से सुखादिक आत्मा के धर्म विषय नहीं होवें तो लक्षणा वृत्ति से आत्मा का ज्ञान होने से सुखादिक धर्मों का ज्ञान होवेगा, सो भी कहना बने नहीं, क्योंकि लक्षणा वृत्ति दो प्रकार की होती है, एक केवल लक्षणा और दूसरी लक्षित लक्षणा। केवल लक्षणा के तीन भेद हैं—जहती, अजहती और भागत्याग।

चाहिए सो होता नहीं इससे वाच्य और वाचक का अभेद कहना संभव नहीं, और जो तीसरा भेदाभेद पक्ष कहें सो अत्यन्त ही विरुद्ध है, क्योंकि जिस वस्तु का अपर वस्तु से भेद होता है तिस वस्तु का दूसरी वस्तु से अभेद होता नहीं जैसे एक आम्र के वृक्ष में अपना अभेद होता है, भेद होता नहीं, और जैसे आम्र के वृक्ष का और करंजुवे के वृक्ष का भेद होता है तिसका अभेद होता नहीं, क्योंकि भेद और अभेद आपस में विरोधी होने से तिनका समावेश होता नहीं इस करके तीसरा भेदाभेद पक्ष भी तेरा बनता नहीं इसी से जो तू शक्ति वृत्ति मान के आत्मा के सुखादिक धर्मों का विषय करना कहे, सो तेरा कहना बनता नहीं क्योंकि आत्मा किसी पद का शक्य अर्थ ही नो शक्ति वृत्ति से आत्मा का ज्ञान होवे ।

जब आत्मा का ज्ञान होता है तभी सुखादिकों का ज्ञान भी संभव है । क्योंकि धर्मी के ज्ञान से अनन्तर ही धर्मों का ज्ञान होता है । यह बात सब के अनुभव सिद्ध है, जैसे पक्षी की जो गमन रूपी क्रिया है सो पक्षी का धर्म है सो पक्षी में रहता है, जब तक पक्षी को नहीं जाने तबतक उसके क्रिया रूपी धर्म को भी नहीं जानेंगे तैसे ही अनुभव गम्य आत्मा का किसी वृत्ति करके ज्ञान संभव नहीं तो फिर सुखादिक आत्मा के धर्म हैं यह कहना तेरा कैसे बनेगा ? कदापि भी नहीं बनेगा । क्योंकि-अज्ञात वस्तु

यदि आत्मा से जुदी हो तब तो तेरा कहना बने, क्योंकि आत्मा तो सर्वव्यापक है। इससे जितनी अनात्म वस्तु है सो आत्मा से भिन्न है नहीं, और तुझे भिन्न भासती हैं, यह तेरे को आत्मा के अज्ञान करके प्रतीत होती है।

जैसे जेवरी के अज्ञान करके नाना प्रकार के सर्प दण्डादिक पदार्थ भासते हैं, जब जेवरी का सम्यक्ज्ञान होता है तब एक जेवरी ही प्रतीत होती है, तैसे ही तिस आत्मा के अज्ञान करके नाना प्रकार के सुखादिक धर्म आत्मा के भासते हैं। सो वह आत्मा के ज्ञान से ही दूर होगे। दूर ऐसा नहीं जानना कि कोई कोस दो कोस चले जावेंगे। जैसे सर्प दँडादिक कहीं से आये नहीं, और कहीं जाते भी दीखे नहीं, केवल रज्जू के अज्ञान के कारण भासते थे, रज्जू का ज्ञान होने से रज्जू स्वरूप ही हो जाते हैं, तैसे आत्मा के अज्ञान करके आत्मा में सुखादिक धर्म भासते हैं, सो केवल आत्मा के ज्ञान से ही आत्म स्वरूप भासते हैं। और जो तू यह कहै, कि शक्ति वृत्ति करके आत्मा के ज्ञान के असभव होने से सुखादिक आत्मा के धर्म विषय नहीं होवें तो लक्षणा वृत्ति से आत्मा का ज्ञान होने से सुखादिक धर्मों का ज्ञान होवेगा, सो भी कहना बने नहीं, क्योंकि लक्षणा वृत्ति दो प्रकार की होती है, एक केवल लक्षणा और दूसरी लक्षित लक्षणा। केवल लक्षणा के तीन भेद हैं—जहती, अजहती और भागत्याग।

वाच्य अर्थ का जो संबंधी हो सो लक्षणा का स्वरूप कहलाता है, और वाच्य अर्थ सारे का त्याग करके उसके संबंधी का जो प्रतीति होती है उसे जहती' कहते हैं। और वाच्य अर्थ सारे का ग्रहण होके अधिक उसके संबंधी का भी ग्रहण होवे, उस 'अजहती' लक्षणा कहते हैं। जहाँ वाच्य अर्थ में से एक भाग का त्याग हो और एक भाग का ग्रहण हो वहाँ भागत्याग लक्षणा' होती है।

केवल लक्षणा के तीन भेद हैं। शक्य के साथ साक्षात् जिस पदार्थ का संबंध है उसी को 'केवल लक्षणा' कहते हैं। जहाँ शक्यके साथ किसी पदार्थ का परंपरा संबंध हो तहाँ 'लक्षित लक्षणा' होती है। पद का अपने अर्थ में जो संबंध है उसी का नाम वृत्ति है। आत्मा असंग होने से उस के साथ किसी भी पदार्थ का संबंध बनता नहीं। यदि तुम कहो कि-नैयायिकों ने आत्मा से मनका संयोग संबन्ध मान के आत्मा में ज्ञान गुण उत्पन्न होना कहा है, इस प्रकार के कथन से आत्मा ज्ञान गुण धर्म वाला ही मत व होता है; ऐसा कहना भी तुम्हारा फिजूल है। क्योंकि नैयायिकों ने जो संयोग संबंध माना है सो सावयव पदार्थों का ही माना है और आत्मा को तो श्रुति ने निरवयव कहा है निरवयव का संयोग कैसे होवे ? यदि समवायसंबंध कहो तो भी नहीं बनता क्योंकि समवाय गुण और गुणी का होता है,

आत्मा को तो वेद ने निर्गुण कहा है। ऐसे निर्गुण, निरवयव आत्मा का किसी पदार्थ से कोई भी संयोग कैसे बनेगा? कदापि नहीं बनेगा। किसी सम्बन्ध के नहीं बनने से 'लक्षणावृत्ति' से आत्मा को तुम कैसे जानोगे? और जब आत्मा को नहीं जाना तो फिर उसके सुखादिक धर्म कैसे जाने?

यदि तुम यह कहो कि—'तुमने भी यह बात पूर्व कही थी कि-जितना अतर बाहर जो सुख होता है सो सब वृत्ति से ही होता हैं, साक्षी आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित हुई अत करण की वृत्ति सुखाकार वा दु खाकार होती है, ऐसे ही हमने भी 'साभासवृत्ति' से सुखाकार आत्मा के धर्म जाने है तो भी तैने हमारे कहने का अभिप्राय समझा नहीं। क्योंकि—हमारे कहने का यह मतलब कि—अन्तर बाहर जो पदार्थों में सुख प्रतीत होता है—सो सभी 'साभास-वृत्ति' से होता है। आत्मा और आत्मा के धर्म—सुखादिक किसी भी 'साभासवृत्ति' के विषय हमने कहे नहीं।

यदि यह कहा जाय कि—अतर आत्मा के बिना और कौन पदार्थ है? तो सुनः—जैसे जाग्रत् अवस्था मे अंत करण की वृत्ति नेत्रादिक द्वारा निकल के—बाहर देश मे जाकर—व्यावहारिक पदार्थों को विषय करती है, सो वृत्ति का विषय करना यही है कि—पदार्थ व छिन्न चेतन के आश्रित जो आवरण है उसे दूर करती है, यही वृत्ति की विषयता

है। और कोई वृत्ति से पदार्थ का ज्ञान नहीं होता है, परन्तु-वृत्ति में जो चेतन का आभास है उसी को चिदाभास भी कहते हैं। जैसे जाग्रत के पदार्थों के आभास और वृत्ति से ज्ञान होता है तैसे ही स्वप्न के पदार्थों का भी आभास वृत्ति से हो ज्ञान होता है, सो अंतर कहा जाता है, और-साक्षीभास-कहा जाता है। क्योंकि-जिस पदार्थ को अविद्याकी वृत्ति द्वारा साक्षी प्रकाशे सो पदार्थ 'साक्षीभास्य' कहलाता है। इसमें स्वप्न के पदार्थों को साक्षीभास्य' कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि—अनात्म पदार्थ ही के प्रकाश करने में वृत्ति और आभास की सफलता है। आत्म पदार्थ के प्रकाश करने का सामर्थ्य किसी भी वृत्ति और आभास का है नहीं। इसी से आत्मा को केवल स्वयं प्रकाश कहा है, और यदि तू यह कहे कि—वृत्ति और आभास की पदार्थों के ही ज्ञान में सफलता है—तो सुषुप्ति अवस्था में कोई भी पदार्थ है नहीं और सुख का ज्ञान होता है—तो वही आत्म ज्ञान होगा—सो यह कहना भी तेरा ऐसा ही है जैसे —

(१)
वृद्ध बालक न्याय

किसी वृद्ध पुरुष के पास उसका एक बालक खेल रहा था और वहीं एक जलका भरा घट रक्खा हुआ था। वह बालक घट के पास जाके अपने मुख के प्रतिबिम्ब को देखकर भयभीत हुआ और अपन

पितामह के पास आकर कहने लगा—'यह हमारे को डराता है'। तब बुड्ढे ने कहा:—तेरे को कौन डराता है? बालक बोला कि—इस घड़े मे है?

बुड्ढा उठके घट के पास आकर देखने लगा तो सफेद दाढ़ी सहित उसका प्रतिविंब भासने लगा। तब बुड्ढा कहने लगा.—अरे बेईमान! धोली दाढ़ी तेरी होगई अब तक बच्चों को डराता है? तेरे को लज्जा नही आती? 'यह बुड्ढे का दृष्टांत है।

दार्ष्टान्त यह है—

जैसे उस बुड्ढे ने नहीं जाना कि—इस घट में मेरा ही प्रतिविंब है। कोई दूसरा भय देने वाला समझ के उसको धिक्कार देने लगा। तैसे ही तैंने जो कहा कि—'सुषुप्ति अवस्था में कोई भी पदार्थ नहीं है, और सुख का जो भान होता है सो आत्म-सुख होगा'। तू विचार करके देख—सुषुप्ति अवस्था में कारण शरीर रहता है—उस कारण शरीर को ही अज्ञान कहते हैं। और 'प्राज्ञ'नामा जीव रहता है सो अज्ञान की वृत्ति से सुषुप्ति के अज्ञान आवृत आनद को भोगता है। सो भी वृत्ति द्वारा ही आनन्द का भान होता है। और जो ईश्वर की सर्वज्ञता आदि का ज्ञान है सो भी माया की वृत्ति करके होता है। वृत्ति से जो ज्ञान होता है है सो ज्ञान अनात्म पदार्थों का ही है। तू चेतन आत्मा स्वयं प्रकाश होने से किसी भी वृत्ति का विषय नहीं है। और सुषुप्ति

है। और कोई वृत्ति से पदार्थ का ज्ञान नहीं होता है, परन्तु-वृत्ति में जो चेतन का आभास है उसी को चिदाभास भी कहते हैं। जैसे जाग्रत के पदार्थों के आभास और वृत्ति से ज्ञान होता है वैसे ही स्वप्न के पदार्थों का भी आभास वृत्ति से हो ज्ञान होता है सो अंतर कहा जाता है, और-साक्षीभास-कहा जाता है। क्योंकि-जिस पदार्थ को अविद्याकी वृत्ति द्वारा साक्षी प्रकाशे सो पदार्थ 'साक्षीभास्य' कहलाता है। इससे स्वप्न के पदार्थों को साक्षीभास्य' कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि-अनात्म पदार्थ ही के प्रकाश करने में वृत्ति और आभास की सफलता है। आत्म पदार्थ के प्रकाश करने का सामर्थ्य किसी भी वृत्ति और आभास का है नहीं। इसी से आत्मा को केवल स्वयं प्रकाश कहा है, और यदि तू यह कहे कि-वृत्ति और आभास की पदार्थों के ही ज्ञान में सफलता है-तो सुषुप्ति अवस्था में कोई भी पदार्थ है नहीं और सुख का ज्ञान होता है-वो वही आत्म ज्ञान होगा-सो यह कहना भी तेरा ऐसा ही है जैसे-

(१)

वृद्ध बालक न्याय

किसी वृद्ध पुरुष के पास उसका एक बालक खेल रहा था और वहीं एक जलका भरा घट रखा हुआ था। वह बालक घट के पास जाके अपने मुख के प्रतिबिम्ब का देखकर भयभीत हुआ और अपने

पितामह के पास आकर कहने लगा–'यह हमारे को डराता है'। तब बुड्ढे ने कहा.–तेरे को कौन डराता है? बालक बोला कि–इस घड़े में है?

बुड्ढा उठके घट के पास आकर देखने लगा तो सफेद दाढ़ी सहित उसका प्रतिबिंब भासने लगा। तब बुड्ढा कहने लगा.–अरे बेईमान' धोली दाढ़ी तेरो होगई अब तक बच्चों को डराता है? तेरे को लज्जा नहीं आती?' यह बुड्ढे का दृष्टांत है।

दार्ष्टान्त यह है—

जैसे उस बुड्ढे ने नहीं जाना कि–इस घट में मेरा ही प्रतिबिंब है। कोई दूसरा भय देने वाला समझ के उसको धिक्कार देने लगा। तैसे ही तैंने जो कहा कि–'सुषुप्ति अवस्था मे कोई भी पदार्थ नहीं है, और सुख का जो भान होता है सो आत्म–सुख होगा'। तू विचार करके देख–सुषुप्ति अवस्था में कारण शरीर रहता है—उस कारण शरीर को ही अज्ञान कहते हैं। और 'प्राज्ञ'नामा जीव रहता है सो अज्ञान की वृत्ति से सुषुप्ति के अज्ञान आवृत आनद को भोगता है। सो भी वृत्ति द्वारा ही आनन्द का भान होता है। और जो ईश्वर की सर्वज्ञता आदि का ज्ञान है सो भी माया की वृत्ति करके होता है। वृत्ति से जो ज्ञान होता है है सो ज्ञान अनात्म पदार्थों का ही है। तू चेतन आत्मा स्वयं प्रकाश होने से किसी भी वृत्ति का विषय नहीं है। और सुषुप्ति

का आनन्द जो अज्ञान की पुष्टि से होता है।

तू शुद्धरूप आत्मा अज्ञान में शामिल काहे को होता है। तू सुख को अपने से जुदा समझ के सुखकी प्राप्ति की इच्छा करता है यही इच्छा तेरे को जुदाई की देने वाली है,वास्तव में देखा जाय तो किसी भी रीति से सुख तेरे से न्यारा नहीं। क्योंकि 'असि,भाति,प्रिय, नाम और रूप, यह पाच अंश सब पदार्थों में होते हैं। पट का अस्तित्व यह 'असि,' पट का भाम होना यह 'भाति,' पट शीत उष्ण को दूर करता है, यह 'प्रिय' पट यह दो अक्षर 'नाम' और और विस्तृत आकार, शुक्ल 'रूप'।

किसी दैवयोग से उस वस्त्र में अग्नि लगजावे तब पट नाम और शुक्ल रूप दोनों बदल जाते हैं। राख नाम और काला उसका रूप होजाता है। और असि, भाति, प्रिय यह जो तीन अंश हैं सो वहां भी बने रहते हैं। राखो असि, भासती है यह भाति, और बरतन मांजने के काम में आती है इससे प्रिय है। य तीनों अंश आत्मा के हैं। नाम और रूप दो माया के माने जाते हैं। क्योंकि—व्यभिचारी होने से य दोनों अंश कल्पित, है। ऐसे ही असि, भाति प्रिय,आत्मा नाम और उसके अंश य भी नाम होने से सब कल्पित हैं, ये तेरे जताने के वास्ते कहे हैं। क्योंकि—कुछ नाम रखने स ही वाणी का व्यापार होता है और नाम स ही नामी जाना जाता है इससे बारंबार

आत्मा का कथन किया है। इसमे शिष्य शंका करता है'—'हे भगवन्, नाम से नामी की प्राप्ति भी होती है और बारम्बार जो आत्मा का कथन किया है सो भी आत्मा के समझने के वास्ते कथन किया है, क्योंकि सूक्ष्म होने से अस्ति भाति जो दो अंश आत्मा के कहे सो तो ठीक हैं, परन्तु प्रियपना, सब पदार्थों मे कैसे घटेगा, क्योंकि—शेर सर्पादिक किसी को प्यारे नहीं लगते हैं, अपने शत्रु मे प्रियपना कैसे घटेगा? आप इस शंका की निवृत्ति कीजिये ।

गुरु कहते हैं कि—हे शिष्य! सर्व वस्तु सर्व को प्रिय नहीं होती है—यह वार्ता आप की मानी, परन्तु एक अंश से प्रिय—पना सर्व वस्तुओं में घटता है—जैसे सर्पिणी को सर्प प्यारा लगता है, शेरनी कोशेर प्यारा लगता है, और अग्नि-कीट को अग्नि प्यारी लगती है, तैसे ही अपने शत्रु के दुख में प्रियता होती है, सो सर्व के अनुभव सिद्ध है, परंपरा से सर्व को अपना आत्मा ही प्रिय है, जितना चेतन शरीर के अंदर आया है उतने को आत्मा कहते हैं, जैसे जितना आकाश घट में आया है उतने आकाश को घटाकाश बोलते हैं, परन्तु—वह व्यापक आकाश से पृथक् नहीं होगया है ।

तैसे ही जो व्यापक चेतन है सो शरीर के अन्तर और बाहर व्याप रहा है ।

इससे विषय अविछिन्न और निरविछिन्न जो कुछ आनन्द का भान होता है सो सर्व तेरा ही आनन्द है, तेरे से जुदा

आनन्द कहीं भी है नहीं, फिर तेरे को सुख की इच्छा कैसे सम्भवेगी। तू सदा सुखरूप ही है, और सब ठौर में जो आनन्द प्रतीत होता है सो भी तेरा ही आनन्द है। इसी से तू चेतन स्वरूप है। जो घट पट आदिक चेतन नहीं हैं, सो आनन्द स्वरूप भी नहीं है। जो आनन्द है सो तेरा ही है, तैसे ही जो चेतना है सो भी तुझ चेतन की ही है। तेरे ही प्रकाश को पा के सब कुछ प्रकाशमान हो रहा है

गुरु के ये वचन सुनकर शिष्य बोला— हे भगवन् ! आप मेरे प्रकाश से सर्व प्रकाशमान कैसे कहते हो ? क्योंकि दिन में तो सूर्य भगवान् प्रकाश करता है और जब सूर्य नहीं होता है तो रात्रि में चन्द्रमा प्रकाश करता है, और चन्द्रमा नहीं होता है तब तारागण का प्रकाश होता है, जब बादलों में तारागण आच्छादित हो जाते हैं, तब अग्नि से प्रकाश होता है, और जब अग्नि भी नहीं होती है, तब बिजली से प्रकाश होता है,और जब बिजली भी नहीं होती है तब वाक्य इन्द्रिय का प्रकाश होता है।

इस रीति से इन षट् ज्योतियों से और इन्द्रियों से और इन्द्रियों के देवताओं से अर्थात्—इस त्रिपुटी से सर्व का प्रकाश देखने में आता है। मेरे प्रकाश से सर्व का प्रकाश कैसे कहते हो ? आपका यह कहना असम्भवसा मालूम होता है।

गुरुरुवाच:—हे शिष्य ! तेरा कहना दुरुस्त है, क्योंकि ऐसा ही मालूम होता है, परन्तु जब तू विचार दृष्टि से देखेगा, तब तेरे को मालूम होजावेगा कि—मुझ चेतन आत्मा का ही प्रकाश सर्व ठौर है, सो विचार यह है कि—जब स्वप्न अवस्था होती है तब कोई भी ज्योति है नहीं, और स्वप्न के पदार्थों का प्रकाश होता है, इस से जाना जाता है कि—कोई और ही ज्योति है जो इन ज्योतियों से भिन्न है. यदि तू ऐसा कहे कि— जैसे स्वप्न में पदार्थ कल्पित प्रतीत होते हैं, तैसे ही सूर्यादिक ज्योति भी कल्पित ही है, जिन से स्वप्न के पदार्थों का प्रकाश होता है' यह कहना तेरा ऐसा है जैसे कोई कहे कि—"मृग तृष्णा के नीर से गारा बना के मैंने घर बनाया था, और शुक्ति का रूपा बहुत सा मैंने इकट्ठा किया और उस घर में रखा था—जिसको ठूंठ का चोर फोड़ के निकाल लेगया। उस धन को ढूढने के लिये मैं गया था, रास्ते में रज्जू के सर्प ने मेरे को काट खाया—इससे मेरे को बड़ा भारी कष्ट हुआ है 'जैसे इस प्रकार के कथन को सुन के सर्व लोगों को हसी आती है—तैसे ही हमें तेरे कहने से हंसी आती है, क्यों कि—'कल्पित पदार्थों' का कल्पित सूर्य्यादिक ज्योतियों से प्रकाश होता है' यह कहना तेरा केवल हसी का ही विषय है,

कल्पित पदार्थ से कल्पित पदार्थ का प्रकाश कहना बनता नहीं, क्योंकि—कल्पित वस्तु कल्पना मात्र ही होती है, उस से किसी का

प्रकाश होता नहीं। अत —जड़पदार्थों का स्वप्न की कल्पित ज्योतियों से जो प्रकाश प्रतीत होता है सो किसी चेतन करके ही होता है। तू अपने चित्त में विचार करके देख—तेरे बिना और कोई भी यहाँ है नहीं सर्व को जानने वाला और सर्व को प्रकाशने वाला तूही चेतन, आत्मा, परिपूर्ण, स्वयं प्रकाश है, तेरे प्रकाश से ही सब प्रकाशवान् हो रहा है। जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति और तुरीया तथा तुरीयातीत इन सर्व अवस्थाओं का प्रकाश तेरे से होता है ये सब आपस में व्यभिचारी हैं। तू इन सब में अनुगत है, इससे तेरी चेतना को पाके यह मूल भौतिक जितना अनात्म प्रपंच है सो सब चेतन प्रतीत होरहा है। वास्तव में तू ही चेतन है।

तेरे से भि न और कोई भी चेतन नहीं है तू ही सर्व ज्योतियों का ज्योति है भगवान् ने भी कहा है 'ज्योतिषामपि तद् ज्योति' और वेद ने भी कहा है— यस्य हृदयेऽन्तरात्मा ज्योतिर्भवति' यही कारण है कि—आनन्द रूप होने से चेतन रूप है, और चेद रूप होने से सत्यरूप भी आत [illegible] सत् चित् आनन्द आत्मा तू ही ब्रह्म स्वरूप है, [illegible] भी ब्रह्म से नहीं है और जो भेद कहते हैं [illegible] —

दोहा—अस्ति भाति प्रिय [illegible] ।
तासे एक सरूप [illegible]

इसी से कहा है ,"भेदाभेद शब्द गलतो" अर्थात् तुझ चेतन आत्मा में भेद और अभेद का लेश भी नहीं है, और जो भेद और अभेद दो प्रकार के वचन शास्त्रकारो ने कहे इससे तात्पर्य यही है कि–'कहने मे जो बात आती है सो वाणी का विषय होने से अनात्म ही है। क्योंकि वाणी से अनात्म पदार्थ का ही कथन होता है, तू चेतन आत्मा किसी वाणी और मन का विषय नहीं है। और किसी जगह इसे मन और वाणी का विषय भी कहा है–सो दिखाते हैं कि जिस काल मे गुरू द्वारा महावाक्यों का जो उपदेश श्रवण होता है सो वाणी से ही सुना जाता है, उस श्रवण से अनन्तर मनन का कथन किया है, सो मन से ही मनन होता है, मनन किये हुए अर्थ के परिपक्व होजाने को निदिध्यासन कहते हैं और निदिध्यासन की परिपक्व अवस्था को समाधि कहते हैं, इस प्रकार से आत्मा मन और वाणी का विषय भी कहलाता है।

किसी ने मन और वाणी का निषेध भी किया है, दोनों प्रकार के वचनों को सुन के अल्प–श्रुत जिज्ञासु को भ्रम उत्पन्न होजाता है, वह कहीं भेद वचनों को सुनता है और कहीं अभेद को सुनता है परन्तु–शास्त्रकारों के जो कथन हैं सो सारे ही अध्यारोप में बनते हैं।

जितने वेद के वचन हैं सो अधिकारी भेद से सारे ही सफल हैं, जैसे किसी पुरुष को स्वप्न होता है तब उसको वेद

प्रकाश होता नहीं। अत —जड़पदार्थों का स्वप्न की कल्पित ज्योतियों से जो प्रकाश प्रतीत होता है सो किसी चेतन करके ही होता है। तू अपने चित्त में विचार करके देख–तेरे बिना और कोई भी नहीं है नहीं सर्व को जानने वाला और सर्व को प्रकाशने वाला तूही चेतन, आत्मा, परिपूर्ण, स्वयं प्रकाश है, तेरे प्रकाश से ही सब प्रकाशवान् हो रहा है। जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति और तुरीया तथा तुरीयातीत इन सर्व अवस्थाओं का प्रकाश तेरे से होता है, ये सब आपस में व्यभिचारी हैं। तू इन सब में अनुगत है, इससे तेरी चेतना को पाके यह भूत भौतिक जितना अनात्म प्रपंच है सो सब चेतन प्रतीत होरहा है। वास्तव में तू ही चेतन है।

तेरे से भि न और कोई भी चेतन नहीं है तू ही सर्व ज्योतियों का ज्योति है भगवान् ने भी कहा है 'ज्योतिषामपि तद् ज्योति'" और वेद ने भी कहा है– यस्य हृद्येऽन्तरात्मा ज्योतिर्भवति" यही कारण है कि–आनन्द रूप होने से चेतन रूप है, और चेतन रूप होने से सत्यरूप भी आत्मा ही है, सत् चित् आनन्द रूप आत्मा तू ही ब्रह्म स्वरूप है, तेरा किंचित् मात्र भी ब्रह्म से भेद नहीं है और जो भेद कहते हैं उनके वास्ते ऐसा कहा है—

> दोहा—अस्ति भाति प्रिय आत्मा ब्रह्म सच्चिदानन्द ।
> ताते एक स्वरूप है, भेद कहें मतिमन्द ॥

है और चार पुत्र सर्व गुणों की खानि और यौवन अवस्था वाले हैं। दैवयोग से उस राजा के राज मे किसी अन्य राजा ने लड़ाई छेड़ दी, जिसमें उस राजा के चारो पुत्र मारे गये। तब हलकारों खबर दी कि–हे राजन्! आपके कुँवर इस लड़ाई मे मारे गये, इस प्रकार के वचन सुन के राजा को बड़ा भारी शोक हुआ और हाहाकार शब्द करने लगा।

इतने मे राजा की निद्रा खुल गई और नेत्र उघड़ते ही उसे बड़ा विस्मय हुआ और सोचने लगा–'किसका राज और किसके पुत्र? देखो, मैं वृथा ही मोह को प्राप्त हो गया था। उसी समय मंत्रियों ने आके राजा से कहा–'हे राजन् आपके कुंवर ने तो अपने कर्म भोग की समाप्ति की, राजा इस प्रकार मत्रियों के वचन सुन के सब को अपने पास बिठा कर कहने लगा–'हे मत्रियो! तुम सब धैर्य रखो, मैं तुम्हारे से एक गाथा सुनाता हूँ, तुम चित्त लगाकर सुनना, वह गाथा–इस दुखरूप संसार से वैराग्य के कराने वाली है और उसे सुनके तीन लोक की संपदा मृग तृष्णा के जलवत् भासेगी, और वह शोक मोह को दूर करने वाली तथा आनन्द की देनेवाली है वह गाथा इस प्रकार है —

अभी थोडी देर पहिले मैं सोता था उस समय मुझे स्वप्न हुआ जिस में मेरे को इस राज से चौगुना राज प्राप्त हुआ, और यह भी देखा कि–बड़ी चतुरगिनी सेना और बडे २ शूरवीर सेनापति

और वेद का उपदेश कर्त्ता आचार्य, और जगत् में नाना प्रकार के कर्म, और उनके फल, और उनका प्रेरक ईश्वर,और भोगनेवाला-जीव आदि जो कुछ प्रतीत होता है सो सब ही अविद्या और निद्रा के कारण भासता है, सो सब मिथ्या है। यथार्थ में एक स्वप्नदृष्टा पुरुष ही सत्य होता है, इसी प्रकार एक तू ही सत्‌रूप है।

तू भ्रम के मुरदे का क्यों रोता है? विवेक रूपी नेत्र खोल कर देख, जैसे यह स्वप्न का प्रपंच बिना हुए ही सर्व अर्थाकार भासता है,वैसे ही यह जाग्रत का प्रपंच भी तू जान, यदि तू ऐसा कहे कि-'जाग्रत प्रपंच में तो पदार्थों के देश, काल, कारण,कार्य, मान भासते हैं और स्वप्न में सर्व पदार्थ सम काल भासते हैं, इन दोनों की एकता कहना बने नहीं'-यह कहना तेरा ठीक नहीं है। क्योंकि-देश काल आदि जैसे जाग्रत में भासते हैं वैसे ही स्वप्न में भी भासते हैं, पर सब अविद्या के कारण प्रतीत होता है। जाग्रत के देश काल आदि में और स्वप्न के देश, काल आदि में कुछ भी अधिक न्यूनता नहीं है, क्योंकि-ये दोनों ही अविद्या कृत हैं, इसी पर तेरे को एक—

(२)

"राजपुत्र शोक-न्याय"

सुनाते हैं'-एक राजा रात्रि के समय अपनी शय्या पर सोता था, उस समय उसको ऐसा मालूम हुआ कि मेरा राज बड़ा भारी

है और चार पुत्र सर्व गुणों की खानि और यौवन अवस्था वाले हैं। दैवयोग से उस राजा के राज मे किसी अन्य राजा ने लड़ाई छेड़ दी, जिसमें उस राजा के चारो पुत्र मारे गये। तब हलकारों खबर दी कि–हे राजन्! आपके कुँवर इस लड़ाई मे मारे गये, इस प्रकार के वचन सुन के राजा को बड़ा भारी शोक हुआ और हाहाकार शब्द करने लगा।

इतने में राजा की निद्रा खुल गई और नेत्र उघड़ते ही उसे बड़ा विस्मय हुआ और सोचने लगा–'किसका राज और किसके पुत्र? देखो, मैं वृथा ही मोह को प्राप्त हो गया था। उसी समय मंत्रियों ने आके राजा से कहा–'हे राजन् आपके कुंवर ने तो अपने कर्म भोग की समाप्ति की, राजा इस प्रकार मन्त्रियों के वचन सुन के सब को अपने पास बिठा कर कहने लगा–'हे मन्त्रियो! तुम सब धैर्य रखो, मैं तुम्हारे से एक गाथा सुनाता हूँ, तुम चित्त लगाकर सुनना, वह गाथा–इस दुखरूप संसार से वैराग्य के कराने वाली है और उसे सुनके तीन लोक की संपदा मृग तृष्णा के जलवत् भासेगी, और वह शोक मोह को दूर करने वाली तथा आनन्द की देनेवाली है वह गाथा इस प्रकार है —

अभी थोड़ी देर पहिले मैं सोता था उस समय मुझे स्वप्न हुआ जिस में मेरे को इस राज से चौगुना राज प्राप्त हुआ, और यह भी देखा कि–बड़ी चतुरंगिनी सेना और बड़े २ शूरवीर सेनापति

और अनेक प्रकार के कोष—खजाने आदि विभूतियाँ हैं और चन्द्रमा के समान मुख जिनके ऐसी मन को मोहने वाली अनेक रानियाँ हैं, और चार-पुत्र सर्व गुण संपन्न, रूपवान और जवान उमर वाले हैं जिनके देखने से मेरे को बड़ा आनन्द होता था। इस प्रकार की महान् विभूति के साथ मेरा को चिरकाल व्यतीत होगया और ऐसा भी मालूम होता था कि, मेरे बाप, दादा सभी राज करते आये हैं, और आगे हमारे पुत्र और पौत्र भी राज करेंगे। हे मंत्रियो! एक क्षण मात्र के स्वप्न में मैंने बहुत काल स्थाई देखा।

दैवयोग से मेरे उस राज में उपद्रव होगया और बड़ा भारी संग्राम हुआ, उसी युद्ध में मेरे बड़े २ शूरवार मारे गये और मेरे चारों—पुत्र भी युद्ध में अपनी २ सेना लेकर चढ़े और युद्ध करने लगे। बहुत बात अब क्या कहूँ—वे चारों कुंवर भी मारे गये। तब हलकारों ने आके कहा—हे पृथ्वीनाथ? आपके कुंवर युद्ध में मारे गये हैं? ये वचन सुनके मेरे को बड़ा भारी शोक हुआ और हाहा कार शब्द करने लगा इतने में मेरी निद्रा खुलगई।

तब मैं बड़े विस्मय को प्राप्त हुआ और अपने चित्त में विचार करता रहा था कि तुमने आके मरे से कहा कि—तुम्हारे पुत्र ने अपने कर्म भोग की समाप्ति की है। अब मैं तुम्हारे से यह बात पूंछता हूँ कि—उस राज और चारों पुत्रों को रोऊँ? अथवा—इस एक पुत्र को रोऊँ? सो तुम मरे को बताओ। मंत्री कहते हैं—"हे राजन्!

वह तो स्वप्न की सृष्टि झूठी है, और यह जाग्रत का सच्चा जगत् है। उसका क्या शोच करना है,शोच करने के योग्य तो यह जाग्रत् के भोग्य पदार्थ होते हैं, स्वप्न के पदार्थों का कौन शोच करता है" मंत्रियों की यह वार्त्ता सुन कर राजा बोला—

"हे मन्त्रियो! तुम इस मूर्खता के मोहल्ले में आके काहे का इसको सच्चा कहते हो? और उसको झूँठा कहते हो? अरे, मूर्खो! यह मनुष्य शरीर तुमको मिला है, इसमें कुछ विचार करके देखो, यह तो सभी झूठा है। विचार यही है कि—इस जीव ने अपने गले में आपही फासी डाल रखी है, क्योकि—आत्मा तो सदा अकर्ता है, परन्तु—अनात्म अन्त.करण से मिलके, भ्राति से अपने में कर्तापन आरोपण करके, कायिक, वाचिक, मानसिक, तीन प्रकार की क्रिया का अभिमान करने लगा,—इससे दो प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म कर्म हुवे।

जब जीव को स्थूल—कर्म भोग देने को सन्मुख होते हैं तब इसे कर्म के वस होके जाग्रत अवस्था होती है। ऐसी दशा मे जो स्थूल पसारा है उसको सत्य जानता है। और जिस काल मे सूक्ष्म—कर्म भोग देने को सन्मुख होते है, उस काल में जाग्रत अवस्था का विस्मरण होजाता है, और कर्मों के वस होकर स्वप्न की सूक्ष्म सृष्टि सत्‌रूप भासने लगजाती है, और जाग्रत की सृष्टि वहा पर नहीं रहती, इससे जाना जाता है कि—यह भी झूठी है।

और अनेक प्रकार के कोष-खजाने आदि विभूतियाँ हैं और चन्द्रमा के समान मुख जिनके ऐसी मन को मोहने वाली अनेक रानियाँ हैं, और चार-पुत्र सर्व गुण संपन्न, रूपवान् और अवान उमर वाले हैं जिनके देखने से मेरे को बड़ा आनन्द होता था। इस प्रकार की महान् विभूति के साथ मेरा को चिरकाल व्यतीत होगया और पता भी मालूम होता था कि, मेरे बाप, दादा सभी राज करते आये हैं, और आगे हमारे पुत्र और पौत्र भी राज करेंगे। हे मंत्रियो ! एक क्षण मात्र के स्वप्न में मैंने बहुत काल स्वाई देखा।

दैवयोग से मेरे उस राज में उपद्रव होगया और बड़ा भारी संग्राम हुआ, उसी युद्ध में मेरे बड़े २ शूरवार मारे गए और मेरे चारों-पुत्र भी युद्ध में अपनी २ सेना लेकर चढ़े और युद्ध करने लगे। बहुत बात अब क्या कहूँ-वे चारों कुंवर भी मारे गये। तब हलकारों ने आके कहा-हे पृथ्वीनाथ ? आपके कुंवर युद्ध में मारे गये हैं ! ये वचन सुनके मेरे को बड़ा भारी शोक हुआ और हाहा कार शब्द करने लगा इतने में मेरी निद्रा खुलगई।

तब मैं बड़ विस्मय को प्राप्त हुआ और अपने चित्त में विचार करही रहा था कि तुमने आके मरे से कहा कि-तुम्हारे पुत्र ने अपने कर्म भोग की समाप्ति की है। अब मैं तुम्हारे से यह बात पूंछता हूँ कि-उस राज और चारों पुत्रों को रोऊँ? अथवा-इस एक पुत्र को रोऊँ? सो तुम मेरे को बताओ। मंत्री कहते हैं-"हे राजन्!

कर्मपना, और जो इनमे अहंकार है सो ही अन्धकार है । और जब तुम इनको साक्षी रूप होके देखोगे कि-जिस काल में विवेक, वैराग्य, शम, दम, श्रद्धा समाधान, उपरति तितिक्षा और श्रवण, मनन, निदिध्यासन, और 'तत्-त्वं' पद का शोधन करोगे, तब तुम्हारे को परिपूर्ण आत्मा ही भासेगा, और तुम्हारे शोक, मोह, सब नष्ट होय जावेंगे। हे मंत्रियो! यह साराही स्वप्न है इसमे किसी का रोना और शोक करना वृथा है, क्योकि-सब जीव अपने कर्म-भोग के अनुसार जन्मते हैं और मरते हैं, इस बात को समझ के यथा योग्य कार्य को करो।

हे शिष्य! इस प्रकार पूर्व के संस्कारों से राजा को ऐसा बोध उत्पन्न हुआ और सब मंत्रियों को उपदेश करके वह शोक मोह से रहित होके अपने स्वरुप में स्थित हुवा। वह स्वरूप कैसा है? शान्त है, निर्विकार है, चेतन है, परमानन्द है, अजन्मा है, अविनाशी है और सत्-रुप है। उसी चेतन आत्मा की सत्ता का सब पदार्थों में अनिर्वचनीय सम्बन्ध उत्पन्न होके सारे पदार्थ सत्य जैसे भासते हैं, परन्तु-इसमें कोई भी सत्य नही है, क्योंकि-अविद्या कृत होने से ये तो सारे ही भ्रम रूप हैं, एक तू ही सत्य रूप है, और सर्व देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से रहित है, क्योंकि जिस पदार्थ का देश से अत होता है, उसका काल से भी अन्त होता है, उस का वस्तु से भी अंत होता है। जैसे घट, पट, आदिक पदार्थ देश, काल वस्तु से

और जब स्वप्न से कर्मों के आधीन जाग्रत होता है, तब स्वप्न के पदार्थों का अभाव होजाता है, अर्थात् झूठे मालूम होते हैं।

हे मंत्रियो! तुम अपने चित्त में विचार करके देखो, इनमें कौन सत्य है? ये तो सभी मृगतृष्णा के जलवत् हैं, और तुम अपने चित्त में विचार कर देखो—अज्ञानरूपी निद्रा में जगत्—रूप स्वप्न भासता है, इसके दूर करने के वास्ते तुम ज्ञान—रूप जाग्रत-अवस्था प्राप्त करो, तब तुम्हारे विचार—रूपी नेत्र खुलेंगे और तुमको मालूम होगा कि—ये दोनों ही 'मन के स्पंद' हैं। यह मन भी जल के बर्फ के टुकड़े के समान है जो ज्ञान—रूपी सूर्य भगवान् के उदय होने पर पिघल जाता है फिर वही जल होके बहने लगता है; ऐसी दशा में वह जल चेतन रूप ही भासता है।

इसलिये हे मंत्रियो! तुम ज्ञानरूपी सूर्य की उपासना करो, जिससे तुम्हारी जगत् की सत्तारूपी ठण्ड दूर होगी, सूर्यरूपी आत्मा का प्रकाश होगा, तब तुम्हारी मूर्खता इस प्रकार चली जावेगी जैसे सूर्य के प्रकाश से अन्धकार दूर होजाता है। देखो यही अन्धकार है—

स्थूल सूक्ष्म कारण ये तीनों शरीर और जाग्रत् स्वप्न, सुषुप्ति ये तीन अवस्था और विश्व, तैजस प्राज्ञ इन तीनों के अभिमानी तीन जीव और तीन शरीरों में अन्नमयादिक पंचकोश इनमें और इन सबों के जो धर्म हैं—कर्त्ता क्रिया,

कर्मपना, और जो इनमें अहंकार है सो ही अन्धकार है। और जब तुम इनको साक्षी रूप होके देखोगे कि–जिस काल में विवेक, वैराग्य, शम, दम, श्रद्धा समाधान, उपरति तितिक्षा और श्रवण, मनन, निदिध्यासन, और 'तत्–त्वं' पद का शोधन करोगे, तब तुम्हारे को परिपूर्ण आत्मा ही भासेगा, और तुम्हारे शोक, मोह, सब नष्ट होय जावेंगे। हे मंत्रियो! यह साराही स्वप्न है इसमें किसी का रोना और शोक करना वृथा है, क्योंकि–सब जीव अपने कर्म–भोग के अनुसार जन्मते हैं और मरते हैं, इस बात को समझ के यथा योग्य कार्य को करो।

हे शिष्य! इस प्रकार पूर्व के संस्कारों से राजा को ऐसा बोध उत्पन्न हुआ और सब मंत्रियों को उपदेश करके वह शोक मोह से रहित होके अपने स्वरुप में स्थित हुवा। वह स्वरूप कैसा है? शान्त है, निर्विकार है, चेतन है, परमानन्द है, अजन्मा है, अविनाशी है और सत्–रूप है। उसी चेतन आत्मा की सत्ता का सब पदार्थों में अनिर्वचनीय सम्बन्ध उत्पन्न होके सारे पदार्थ सत्य जैसे भासते हैं, परन्तु–इसमें कोई भी सत्य नहीं है, क्योंकि–अविद्या कृत होने से ये तो सारे ही भ्रम रूप हैं, एक तू ही सत्य रूप है, और सर्व देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से रहित है, क्योंकि जिस पदार्थ का देश से अंत होता है, उसका काल से भी अन्त होता है, उस का वस्तु से भी अंत होता है। जैसे घट, पट, आदिक पदार्थ देश, काल वस्तु से

अंतवाले हैं इसी से असत् हैं, और तू चेतन-आत्मा देश-कालादि के परिच्छेद से रहित है, इसी से तू सत् रूप है।

शिष्य प्रश्न करता है।

हे भगवन्! आपने मेरे को सत्, चित्, आनन्द रूप कैसे कहा? मैं तो जन्मता हूं और मरता हूं, पुण्य-पाप करता हूं, और उनके फल सुख-दुःख को भोगता हूं, और भी अनेक प्रकार के जीवत्व-धर्म मेरे में भासते हैं इससे मैं तो असत्, जड़, दुःखरूप हूं। और ब्रह्म को तो सच्चिदानन्द रूप हमने आप जैसे महापुरुषों के मुख से सुना है। "मैं सच्चिदानन्द रूप हूँ" यह वार्ता मैं किस प्रकार जानूं? वेद ने भी इस जीव को शोकमान और अनीश ही कहा है। इस कारण जीव विरुद्ध-धर्मवाला होने से सच्चिदानन्द रूप नहीं है, जैसे—कोई मलिन कर्मों के करनेवाले हैं और कोई शुद्ध आचरण से रहने वाले हैं, इन दोनों प्रकार के पुरुषों की एकता कैसे बनेगी? नहीं बनेगी। यदि तुम ऐसा कहो कि "भाग-त्यागलक्षणा से इनकी एकता बनती है" सो तुमने अंगीकार की नहीं; इससे किसी रीति से भी जीव को सच्चिदानन्द कहना बनता नहीं।

पूर्व आपने यह भी कहा था कि 'भागत्यागलक्षणा करके इसका तत्त्व मेरे को मालूम होगा, और फिर आप आपने सर्व वृत्तियों का निषेध कर दिया है इसमें हम कौनसी बात का

अंगीकार करें ? हमको तो गबोला मालूम होता है, आप हमें समझा कर कहो ।

गुरुवाच—

यद्यपि यह वार्ता हमने पूर्व कही थी, परन्तु तेरी समझ में गलती है सो सुन, हमने जो लक्षणा-वृत्ति कही थी सो कोई आत्मा के प्रकाशने में नहीं कही है। हमारा कथन यह नहीं था कि-'लक्षणा वृत्ति से आत्मा का प्रकाश होता है' ऐसा नहीं समझना। क्योंकि-वृत्ति का तो पदार्थ के आवरण दूर करने में सामर्थ्य है, पदार्थ के प्रकाश करने में सामर्थ्य नहीं है, तब वह आत्माके प्रकाश करने मे कैसे सामर्थ्य होगी ? इसी वास्ते यह बात कही थी कि-तेरे को आपही मालूम हो जावेगा कि, 'आत्मा किसी भी वृत्ति का विषय नहीं है' क्योंकि-वह स्वयं-प्रकाश है। इसी से वृत्ति आदिक जितने जड़-अनात्म पदार्थ हैं, सो सब आत्मा में कल्पित हैं। उन कल्पित वृत्ति आदिकों से आत्मा का प्रकाश कहना बने नहीं, क्योंकि-वे जड़ हैं।

और जो तुमने कहा था कि-'जीव तो जन्म मरण से आदि लेकर ब्रह्म से विरुद्ध धर्म वाला है, उसकी ब्रह्म से एकता बने नहीं, और भागत्यागलक्षणा मानी नहीं-इससे भी जीव को सच्चिदानन्दरूपता बने नहीं' यह जो तेने कहा है सो साराही सिद्धान्त के अज्ञान से कहा है, क्योंकि-सिद्धान्त में आत्मा से

मिश्र सर्व अनात्म–वस्तु आत्मा में कल्पित होने से रज्जू के सर्प की तरह सर्व कल्पना मात्र हैं। जैसे–रज्जू में जो सर्प प्रतीत होता है, सो केवल जेवरी के अज्ञान से प्रतीत होता है, उसके दूर करने को कौन सी वृत्ति आवश्यक है? किसी भी प्रकार की वृत्ति की जरूरत नहीं है। केवल रज्जू के ज्ञान से सर्प भ्रम निवृत्त हो जाता है। वैसे ही वृत्ति और उपादान–कारण अंतः-करण और अज्ञान और नाना प्रकार के विषय और उनका प्रकाश जितना कि–ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय त्रिपुटी समाज है सो साराही आत्मा के अज्ञान से खरे को भासता है, सो सारा आत्मा के ज्ञान से निवृत्त होगा, और प्रकार से नहीं। लिखा भी है–

भ्रान्त्या प्रतीत संसारो विवेकान्नास्ति कर्मभि ।
रज्ज्वामारोपित सर्पो घन्टाघोषान्निवर्त्यते ॥

जो वस्तु जिस के अज्ञान से प्रतीत होती है, सो उसी के ज्ञान से ही दूर होती है, और किसी भी वृत्ति आदिक की अपेक्षा नहीं। यदि तू ऐसा कहे कि–'अधिष्ठान का जो ज्ञान है और कल्पित की निवृत्ति का जो ज्ञान है, सो भी तो किसी वृत्ति से ही होता है तो यद्यपि तेरा यह कहना दुरुस्त है, क्योंकि शास्त्रकारों ने प्रमा अप्रमा और स्मृति तीन प्रकार की वृत्ति मानी है, परन्तु–इनका विषय जो ज्ञान है सो सब अनात्म ही कहा जाता है, आत्मा को तो किसी ने भी किसी वृत्ति का विषय नहीं

कहा, और तुम अपने अनुभव से देखो–शुद्ध आत्मा किसी भी लक्षणा आदिक वृत्ति का विषय नहीं है, क्योंकि–वाच्य और वाचक–भाव और लक्षण–भाव तुझ शुद्ध आत्मा में हैं नहीं, इसलिये "किसी वृत्ति से आत्मा का ज्ञान मेरे को होगा" यह इच्छा छोड़कर तू अपने आप विचार के देखेगा, तब तेरे से जुदा ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय कुछ भी नहीं मिलेगा। इसी बात पर तेरे को एक–

(२)

'रुपया, चोर, राज, न्याय'

सुनाते हैं, सो यह है कि–एक मनुष्य ने किसी का एक रुपया चुरा लिया था। जिसका रुपया चुराया उसने अपने मन में विचार किया कि–'आज के दिन अमुक मनुष्य से मिलाप हुवा था, उसने हमारा रुपया लिया है'। तब वह उसके पास जाके कहने लगा कि–भाई! हमारा रुपया तुमने लिया है सो देदो'। उसने जवाब दिया कि–'हमने तो नहीं लिया'। तब उसने राज में जाके एक कच्चा सवाल दे दिया। फिर मुद्दई और मुद्दाइलेह से इन्साफ करनेवाले ने पूछा–'तुम्हारा क्या झगड़ा है'? मुद्दई कहने लगा कि–इसने मेरा माल चुराया है।

इंसाफ करनेवाले ने कहा–'तेरा क्या माल चुराया है?' तब उसने कहा–' एक रुपया था, और दो अठन्नी, और चार चुअन्नी

भिन्न सर्व अनात्म-वस्तु आत्मा में कल्पित होने से रज्जू के सर्प की तरह सब कल्पना मात्र हैं। जैसे-रज्जू में जो सर्प प्रतीत होता है, सो केवल जेवरी के अज्ञान से प्रतीत होता है, उसके दूर करने को कौन सी वृत्ति आवश्यक है? किसी भी लक्षणा वृत्ति की जरूरत नहीं है। केवल रज्जू के ज्ञान से सर्प भ्रम निवृत्त हो जाता है। वैसे ही वृत्ति और उपादान-कारण अन्तःकरण और अज्ञान और नाना प्रकार के विषय और उनका प्रकाश जितना कि-ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय त्रिपुटी समाज है सो साराही आत्मा के अज्ञान से उठे को भासता है, सो सारा आत्मा के ज्ञान से निवृत्त होगा, और प्रकार से नहीं। लिखा भी है-

भ्रान्त्या प्रतीतः संसारो विवेकान्नास्ति कर्मभिः।
रज्ज्वामारोपितः सर्पो घन्टाघोषान्निवर्त्यते॥

जो वस्तु जिस के अज्ञान से प्रतीत होती है सो उसी के ज्ञान से ही दूर होती है, और किसी भी वृत्ति आदिक का अपेक्षा नहीं। यदि तू ऐसा कहे कि-'अधिष्ठान का जो ज्ञान है और कल्पित की निवृत्ति का जो ज्ञान है; सो भी तो किसी वृत्ति से ही होता है' तो यद्यपि तेरा यह कहना दुरुस्त है क्योंकि शास्त्रकारों ने प्रमा अप्रमा और स्मृति तीन प्रकार की वृत्ति मानी है, परन्तु-इनका विषय जो ज्ञान है, सो सब अनात्म ही कहा जाता है आत्मा को तो किसी ने भी किसी वृत्ति का विषय नहीं

नाम है सो भी रजत धातु में कल्पना मात्र है, वैसे ही जो मन नाम है सो भी तुझ चेतन आत्मा में मन की ही कल्पना है, सब चेतन का ही चमत्कार है। जैसे रुपैया और उसका विस्तार सब रजत रूप है, वैसे ही मन और मनका विस्तार सब चेतन स्वरूप है।

तू विचार करके देख—जितने घट है सो सारे मृतिका से भिन्न नहीं होते—सब मृतिकारुप ही होते हैं, जितने सुर्वण के आभूषण होते हैं सो सब सोना ही होते हैं, और जितने लोहे के विवर्त-हथियार आदिक-होते हैं सो लोहे से भिन्न नहीं होते हैं, सब लोहा ही होता है, और घट, आभूषण, हथियार, आदि नाम मृत्तिका, सुवर्ण, और लोहे मे कहीं भी नहीं मिलते, केवल पुरुषों की कल्पना मात्र से ही हैं। जिसको सुवर्ण भासता है उसको आभूषण नहीं भासता है। और जिसको आभूषण भासता है उसको सुवर्ण नहीं भासता है। परन्तु—जिस पुरुष की सुवर्ण में भूषण—बुद्धि है, सो पुरुष यथार्थ-दर्शी कहलाता है। इसी पर तेरे को एक—

(४)

"बाबा, ठाकुर, सराफ़ न्याय"

सुनाते हैं, इसको जब तू चित्त लगा के सुनेगा, तब तेरे को सुवर्ण स्थानी एक आत्मा ही भासेगा, और भूषण स्थानी नाना भाव सब दूर होजावेंगे, सो अब कहते हैं:—

एक बाबा ने जवान अवस्था में देश देशातरों में घूम के बहुत

और आठ दुअन्नी, और सोलह आने और बत्तीस अधन्ने, और चौसठ पैसे, इतना माल इसने मेरा चुराया है'। अब इंसाफकरनेवाले ने चोर से कहा–अरे तू ने इसका इतना माल चुराया है ? तब वो चार मुद्दई से कहने लगा–'अरे मलेमानस ! तेरा तो एक ही रुपया था, इतना माल मैं कहाँ से दूंगा' मुद्दई ने कहा कि–अच्छा तुम एक ही रुपया देओ हम राजीनामा लिख देंगे। उसने कहा–'बहुत अच्छी बात, यह अपना रुपया लो'। तब उसने लेलिया, और इन्साफ करने वाले से कहने लगा–'हुजूर ! हमतो राजी होगये'। इन्साफ करने वाले ने पूछा– तुम कैसे राजी हुवे ?' तब मुद्दई ने कहा–'एक रुपया लेकर राजी हो गये'। इंसाफकरनेवाले ने कहा–तुम बड़े बेईमान हो ! तब मुद्दई ने कहा–कैसे ? न्याय कर्ता ने कहा कि–'तुम्हारा एक ही रुपया था, फिर इतना माल काहे को लिखाया था ? इससे तुम बेईमान हो'। तब वह कहने लगा कि–'हुजूर ! आप विचार करके देखो, वह तो साराही इसीके अन्दर है', मुद्दई न इंसाफ कर्ता के आगे रुपये से आदि लेकर पैसे पर्यंत सारा माल उस रुपये में ही बता दिया, तब इंसाफ कर्ता ने कहा–ठीक है।

यह तो दृष्टान्त है, दार्ष्टान्त यह है कि–तेरा मन है यही रुपया है, जितना यह जगत् और बंध–मोक्ष से आदि लेकर संसार का विस्तार है; सो सारा तेरे मन के ही अन्दर है। जैसे वह रुपया

ने कहा कि—महाराज ! मैं तो सोने का मोल करता हूँ, ठाकुर जी और सिंहासन तो तुम्हारी ही दृष्टि मे हैं, मैं तो सुवर्ण ही देखता हूं, मेरे को तो कहीं भी इसमे ठाकुर और सिंहासन मालूम नहीं होता है ।

दार्ष्टान्त—यह है कि जब तू अन्दर से आकार दृष्टि को मिथ्या जान के दूर करेगा, तब तेरे को सत्चित् आनन्द रूप एक आत्मा ही परिपूर्ण भासेगा, जैसे—उस सराफ को एक सुवर्ण ही भासता था । इसी का नाम 'दृष्टि—सृष्टि वाद' कहा है, जिसका और भी विवेचन करने में आता है । बाल्मीक ऋषि ने वाशिष्ट नाम महा रामायण मे यही मुख्य सिद्धान्त रखा है ।

दोहा—दृष्टि सृष्टी बाद का, सुन लीजे शिष भेद ।
द्वैत विलय होजाय है, दूर होय सब खेद ॥

'दृष्टि—सृष्टि—बाद' के तीन भेद हैं, सो तू जब एकाग्र होकर सुनेगा, तब तेरा द्वैत रूप दुख विलय हो जावेगा, अर्थात्—जैसे अग्नि से धूम निकलता हुआ मालूम होता है, परन्तु—वह आकाश में लीन हो जाता है, तब जाना नहीं जाता कि कहाँ गया । तैसे ही जब तू इस उत्तम सिद्धांत को धारण करेगा, तब तेरा धुआं-रूपी द्वैत आकाश रूप आत्मा मे लय हो जावेगा, फिर तेरे को सर्वत्र एक आत्मा ही भासेगा । जैसे उल्लू को अंधेरा ही भासता है ।

सा रुपया इकट्ठा किया और ठाकुर पूजा भी रखता था। जवान अवस्था में उस रुपैये और ठाकुरजी का कुछ बोझा मालूम नहीं होता था, वह उन्हें उठा कर घूमा करता था। परन्तु—फिर काल पाके जब वृद्ध अवस्था आई तब वह बोझा तो इने लायक नहीं रहा। बाबा ने अपने मन में विचार किया कि—बोझे को हल्का करना चाहिये। तब उस रुपैयों का सोना खरीद के सोने के ठाकुरजी बनवालिये, और सोने ही का सिंहासन बनवाया, और जो पहिले पत्थर के ठाकुर जी थे सो गंगा में प्रवाह करदिये; और वह एक स्थान में रहने लगा, और एक चेला भी सेवा के वास्ते मूंड लिया।

जब इस प्रकार कर के शरीर के कर्मों का अंत हुआ, तब शरीर क्षीण होगया। फिर चेलेने अपने मन में विचार किया कि—गुरु महाराज का भण्डारा करना चाहिये, नहीं तो हमारे भेष के लोगों में निरादर होगा। इस प्रकार सोचकर वह ठाकुर जी को और सिंहासन को सराफ के यहां लेजा के कहने लगा कि-'भाइ इस ठाकुर जी को और सिंहासन को बचता हूं' तब उन दोनों का सराफ ने कांटे पर रख के कहा कि—सौ रुपये के तो ठाकुर जी हैं और चार सौ का सिंहासन है। चले ने कहा—अरे तू क्या बकता है ठाकुरजी तो सौ रुपये के हैं और सिंहासन चार सौ का है? तेरी अकल को क्या कोइ लेगया है? कहीं ऐसा भी होता है? सराफ

ने कहा कि–महाराज ! मैं तो सोने का मोल करता हूँ, ठाकुर जी और सिहासन तो तुम्हारी ही दृष्टि मे हैं, मैं तो सुवर्ण ही देखता हूं, मेरे को तो कहीं भी इसमे ठाकुर और सिहासन मालूम नहीं होता है।

दार्ष्टान्त–यह है कि जव तू अन्दर से आकार दृष्टि को मिथ्या जान के दूर करेगा, तव तेरे को सतचित् आनन्द रूप एक आत्मा ही परिपूर्ण भासेगा, जैसे–उस सराफ को एक सुवर्ण ही भासता था। इसी का नाम 'दृष्टि–सृष्टि वाद' कहा है, जिसका और भी विवेचन करने में आता है। वाल्मीक ऋषि ने वाशिष्ट नाम महा रामायण मे यही मुख्य सिद्धान्त रखा है।

दोहा—दृष्टि सृष्टी बाद का, सुन लीजे शिष भेद।
द्वैत विलय होजाय है, दूर होय सब खेद॥

'दृष्टि–सृष्टि–वाद' के तीन भेद हैं, सो तू जव एकाग्र होकर सुनेगा, तव तेरा द्वैत रूप दुख विलय हो जावेगा, अर्थात्–जैसे अग्नि से धूम निकलता हुआ मालूम होता है, परन्तु–वह आकाश में लीन हो जाता है, तव जाना नहीं जाता कि कहाँ गया। तैसे ही जव तू इस उत्तम सिद्धांत को धारण करेगा, तव तेरा धुआं-रूपी द्वैत आकाश रूप आत्मा मे लय हो जावेगा, फिर तेरे को सर्वत्र एक आत्मा ही भासेगा। जैसे उल्लू को अंधेरा ही भासता है।

'दृष्टिरेव सृष्टि' दृष्टि से तात्पय कहिये 'नेत्र की वृत्ति' का है। जब तक नेत्र का विषय पदार्थ है, तब तक ही पदार्थ है, जब नेत्र की वृत्ति का विषय नहीं है तब पदार्थ भी नहीं है—यह मत कनिष्ठ है। क्योंकि—जब तक नेत्र का विषय पदार्थ है, तब तक द्वैत है, इसी से 'कनिष्ठ' कहा है।

दूसरा—मत जो समझा जाता है इस प्रकार है—'दृष्टिरेव सृष्टि' स यहाँ तात्पर्य दृष्टि कहिये 'अंतःकरण की वृत्ति स है। जब तक अन्तःकरण की वृत्ति का विषय पदार्थ है, तब तक पदार्थ की साक्षात् सत्ता रहती, इस में भी द्वैत बना रहता है, इसी से यह मत 'मध्यम' कहलाता है।

तीसरा—मत जो उत्तम कहा जाता है सो दिखाते हैं—'दृष्टिरेव सृष्टि' अर्थात्-दृष्टि कहिये 'जो चेतन—आत्मा है, सो ही सृष्टि रूप होके भास रहा है' इस प्रकार समझ के अब तू इस उत्तम दृष्टि को धारण करेगा; तब तेरा द्वैत—भाव नष्ट हो जावेगा, और एक अद्वैत ही तेरे को भासेगा। परन्तु—अद्वैत भी फिर तेरे को अपने स्वरूप में कल्पित ही प्रतीत होगा। तब तू आपही जान लेगा कि 'सुखादिक आत्मा के स्वरूप ही हैं, क्योंकि—आत्मा में अनात्म—वस्तु कल्पित होने से वह आत्मा का स्वरूप ही है, वास्तव में मैं चेतन आत्मा सदा ही सुख रूप हूं और जो मेरे को सुख की इच्छा हुई थी सो तो केवल भ्रांति करके हुई थी' हे शिष्य! तू इस उत्तम

सिद्धांत को धारण कर, तूतो सदा शुद्ध-स्वरूप, सर्वगुण और धर्मों से रहित है।

इस प्रकार से गुरू ने समझाकर कहा, तब शिष्य सविनय कहता है-'हे भगवन्! शुद्ध आत्मा में कोई धर्म नहीं भी हो, परन्तु-विशिष्ट आत्मा में तो सुखादिक धर्म होंगे, क्योंकि-'अहं सुखी' 'अहं दुःखी', ऐसी प्रतीति किसको होती है? सो आप हमको बताइये। और जो आप ऐसा कहो कि-अतःकरण में होती है, तो यह कहना बने नहीं, क्योंकि-अंतःकरण को जड़ भी कहा है, परन्तु-जड़ पदार्थ में सुख दुःख की प्रतीति कहना बने नहीं, क्योंकि-जड़ पदार्थमे जो सुख-दुख का भान हो, तो घटादिक में भी होना चाहिये? सो होता नहीं, इसी से जाना जाता है-ये चेतन ही के धर्म होंगे।

यदि आप साक्षी आत्मा में इस प्रकार धर्म होना कहो तो, वह उचित नहीं होगा, और न विशिष्ठ में कहना ठीक होगा, क्योकि-जो धर्म अंतःकरण मे नहीं है और न साक्षी आत्मा में हैं, वे उनके मिलाप में कहाँ से होंगे? होना नहीं चाहिये, किन्तु-दुख-सुख प्रत्यक्ष मे होते हैं? सो कैसे होते हैं? जो धर्म जिन पदार्थ में नहीं है, वह उनके मिलाप में कैसे आवेगा? यदि पान सुपारी कत्थे में रक्तता न हो तो उनके मिलाप मे कहाँ से आवे? तैसे ही अंतःकरण और आत्मा में

मुताबिक नहीं हों तो उनके मिलाप में कैसे होंगे ? हे प्रभू ! यह बड़ा भारी सन्देह मेरे को प्राप्त हुआ है, आप कृपा कर के इस निवारण कीजिये" ।

गुरु कहते हैं—हे शिष्य ! तूने अच्छा प्रश्न पूछा है, क्योंकि–इस बात को तो मैं भी भूल ही था, तैंने स्मरण करवाया है । अब तू चित्त लगाकर श्रवण कर । यद्यपि–अंतःकरण तो जड़ है, और सुखादिक प्रतीत होवे हैं; सो कैसे ? पुन–पूर्व जन्मों में जो नाना प्रकार के कर्म किये हैं, सो सभी अंतःकरण विशिष्ट में ही हुवे हैं, और अंतःकरण विशिष्ट में ही सुख दुख की प्रतीति होती है, क्योंकि–जो कर्ता है सो ही भोक्ता है, और जो कर्ता नहीं होता है सो भोक्ता भी नहीं होता है ।

सुख–चेतन इस अनुमान से जाना जाता है कि–अंतःकरण विशिष्ट जीव-चेतन में ही सुख दुःख का भान होता है,क्योंकि–जैसे घट में जल का मानपन रूप जो कार्य होता है, सो केवल घट में नहीं होता है,और केवल आकाश में भी नहीं बनता है,उन दोनों का जो औपाधिक संबंध है, उसमें ही पाँच सेर और दस सेर संख्या का व्यवहार होता है । केवल आकाश में भी पाँच सेर कहना बनता नहीं और केवल मृत्पिंड में भी पाँच सेर की संख्या की जाती नहीं, उनका जो औपाधिक संबंध है, उसमें ही

कहना होगा, क्योंकि–कार्य–अनुमिति से जाना जाता है कि–दोनों के मिलाप मे ही व्यवहार होता है।

इसी प्रकार दु:ख सुख रूप कार्य की प्रतीति होने से जाना जाता है कि–अंत:करण विशिष्ट मे ही सुख दु:ख का भान होता है। और तैने कहा था कि–'जो धर्म दोनो पदार्थों में नहीं होता है, सो उनके मिलाप में कैसे हागा।' सो भी नियम नहीं बनता क्योंकि–विचार कर देखो, जैसे धूम्र केवल लकड़ी मे नहीं होता है, और न केवल अग्नि में होता है, परन्तु–जब दोनों मिलते हैं, तब धूम्र की प्रतोती होती है। अब तू देख–इनमे से किसमें धुवाँ था? ऐसे ही हस्त की दोनो तालियों में शब्द नहीं है, परन्तु–जब दोनों मिलते हैं तब शब्द होता है।

हे शिष्य! इस प्रकार समझके देख–यदि तुझे ऐसा दिखाई देता हो, तो अंत:करण विशिष्ट मे समझ ले, और नहीं तो पूर्व हमने 'दृष्टि–सृष्टि वाद' में जो 'उत्तम दृष्टि' कही थी उसी को धारण कर, और जो 'अंत:करण–विशिष्ट–वाद' पूर्व कथन किया है, सो तेरे प्रश्न के उत्तर देने के वास्ते है, जिससे तेरी भ्रांति दूर होवे। तुझ चेतन में जैसे और सर्व धर्म कल्पित हैं, वैसे ही विशिष्टपना और शुद्धपना भी सब कल्पित ही है। यदि तू ऐसा कहे कि–'जो कुछ भी कल्पित है सो कल्पना मात्र ही है", उस से कोई भी कार्य होता नहीं, जैसे स्थंभ मे पिशाच का भ्रम

होता है, सो वह कल्पना मात्र पिशाच किसी के बालक को मारता नहीं है, और रज्जु में कल्पना मात्र के सर्प से रज्जु विष वाली नहीं होती है। ऐसे ही जो तुमको आत्मा में अनात्मा का अभ्यास हुआ है सो तेरे आत्मा में कुछ भी हानि नहीं कर सकता, किन्तु-यह अभ्यास ही तेरे को दुःख का देने वाला है। इस पर तुम को एक—

(५)

'रूई पिंजारा न्याय'—

सुनाते हैं, सो तू अब इसको मन लगा कर सुनेगा, तब तेरा यह अभ्यास ढूंढने से भी नहीं मिलेगा और तेरे को शान्तरूप एक आत्मा हो भासेगा, तू सावधान हो के सुन—

एक पिंजारा चला जाता था, उस समय किसी नगरी में उसने रूई का बहुत भारी गंज देखा, तब उसको ऐसा शोच हुआ कि—यह 'तो सारी मुझको ही पीजनी पड़ेगी' वह रात और दिन इसी फिकर में रहने लगा, और ऐसी भारी चिन्ता के मारे उसका शरीर सूखकर कमजोर होगया, और चलने फिरने के लायक न रहा। तब किसी पुरुष ने उस पिंजारे से पूछा— अरे भाई! तू किस चिन्ता में रहता है? किस दुःख के कारण तेरा शरीर कृश हो गया है? सो बता तो सही', पिंजारे ने उत्तर दिया कि—'यह सारी रुई मेरे को ही पीजनी पड़ेगी,' तब

वह पूछने वाला बोला—'अरे भाई ! तू ऐसा फिकर कुछ भी मत कर, वह तो अग्नि लग के सारी भस्म होगई है'। यह सुन उस पिजारे ने कहा—क्या सच्ची बात है ? तब वह कहने लगा—'अरे झूठ बोलकर हमें कुछ तेरे से लेना है ? वह तो परसों के रोज भस्म होगई'। तब इस प्रकार उस पुरुष के वचनों को सुन के पिजारे का अध्यास निवृत्त हो गया। इसी प्रकार तैंने आत्मा में अनात्म अन्त.करण के सुख दुखादिक धर्म आरोपण करके 'मे सुखी हूँ मैं दुखी हूँ' ऐसा जो मान लिया है इसी का नाम 'अध्यास' है।

वास्तव में ऐसा सभी को होता है तथापि-ज्ञानवान् और अज्ञानी के अध्यास में सामान्य और विशेष की जिस प्रकार विलक्षणता होती है सो दिखाते है—ज्ञानवान् व्यवहार दशा मे 'अहं सुखी अहं दु खी' ऐसे शब्दों को उच्चारण करता मालूम होता है, परन्तु उसने जो चेतन आत्मा को अपना स्वरूप जाना है, सो सर्व दुख सुख आदि से रहित, असग है—ऐसा उसका दृढ़ निश्चय होने से ज्ञानवान् का अध्यास सामान्य होता है जिससे वह जन्मों का कारण नही होता है। अज्ञानी को ऐसा अकर्ता रूप करके आत्मा का ज्ञान है नहीं,—इसी कारण अज्ञानी को विशेप अध्यास होता है जो जन्मों का कारण होता है।

शिष्य प्रश्न करता है—हे भगवन् ! अध्यास कितने प्रकार का

होता है ? सो आप कृपा करके कहो, क्योंकि भली प्रकार से वस्तु का स्वरूप जाने बिना ग्रहण और त्याग होता नहीं इसलिये अभ्यास के भिन्न २ स्वरूप कथन करो'। इस प्रकार सुनके गुरु कहते हैं–'हे शिष्य ! अभ्यास का स्वरूप और भेद हम कहते हैं, तू चित्त लगाकर श्रवण कर। अभ्यास दो प्रकार का होता है, एक तो 'अर्था–भ्यास' और दूसरा 'ज्ञाना–भ्यास' होता है। इनमें अर्था–भ्यास के और भी बहुत भेद हैं। कहीं–केवल 'संबंधी अभ्यास' होता है और कहीं 'सबंध सहित सम्बन्धी का अभ्यास' होता है कहीं केवल धर्मा–भ्यास' होता है और कहीं 'अन्योन्या–भ्यास' होता है, और कहीं 'अनन्तरा भ्यास' होता है। सो भी दो प्रकार का होता है। एक तो 'संसगा भ्यास' होता है, और दूसरा 'स्वरूपा–भ्यास' होता है। इतने अभ्यास के भेद कहे हैं। और भी अनेक भद हैं।

माया के पदार्थों का चिंतन करने स अंत नहीं है उनको तो मिथ्या जानने से ही अंत होता है। बहुत गधे के बाल गिनने स कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, इसलिये जितना अभ्यास क्रम है सो सब 'अर्था–भ्यास' और 'ज्ञाना–भ्यास के अन्तर्भूत है। अभ्यास का स्वरूप यह है कि–मिथ्या वस्तु और उसका ज्ञान दोनों को अभ्यास कहते हैं सो अभ्यास और अभ्यस्त वस्तु के अधिष्ठान के ज्ञान बिना और प्रकार स निवृत्ति होती नहीं।

यह सुन शिष्य शंका करता है–हे भगवन आप कहते हो –कि

अधिष्ठान के ज्ञान से अध्यास और अध्यस्त की निवृत्ती होती है। सो यह नियम बनता नहीं, क्योंकि अधिष्ठान के ज्ञान बिना भी अध्यस्त की निवृत्ति देखने में आती है। जैसे--किसी पुरुष को सर्प के मंद संस्कारों से रज्जू मे सर्प भ्रम होके, उसके अन्तर फिर दंड के भी सस्करण हैं और वे तीव्र हैं, इससे पीछे दण्ड का ही भ्रम होगा, तब रज्जू के ज्ञान बिनाही, सर्प भ्रम निवृत्ति होगा, इसमें अधिष्ठान के ज्ञान की क्या जरूरत है। ऐसे ही आत्मा में कर्तापने का जो भ्रम हो रहा है सो आत्मा के अकर्तारूप ज्ञान से निवृत होजावेगा तो फिर आत्मा को ब्रह्म रूप कर के जानना, इस ज्ञान की क्या जरूरत है ?" ऐसी शंका के करने पर—

गुरु कहते हैं—हे शिष्य ' यद्यपि विरोधी पदार्थ के ज्ञान से विरोधी पदार्थ को लय रूप निवृत्ति होजावेगी, तथापि--अत्यन्त निवृति होती नहीं। क्योंकि सर्प भ्रम तो निवृत्त हो गया है, परन्तु अधिष्ठान का अज्ञान निवृत्त नहीं हुआ; इसी से फिर दण्ड का भ्रम हो जाता है। अधिष्ठान के ज्ञान बिना अत्यन्त निवृत्ति होती है नहीं। कारण सहित जो कार्य की निवृत्ति है सो ही अत्यन्त निवृत्ति कही जाती है, जो केवल अधिष्ठान के ज्ञान से ही होती है और किसी प्रकार से होती नहीं। और जो तैंने कहा था कि—आत्मा का जो ब्रह्मरूप करके ज्ञान है उसकी क्या जरूरत है? आत्मा के अकर्तापने के ज्ञान से आपही निवृत्ति हो जावेगी, सो तेरा कहना बनता नहीं,

होता है ? सो आप कृपा करके कहो, क्योंकि भली प्रकार से वस्तु का स्वरूप जाने बिना ग्रहण और त्याग होता नहीं, इसलिये अध्यास के भिन्न २ स्वरूप कथन करो' । इस प्रकार सुनके गुरु कहते हैं—हे शिष्य । अध्यास का स्वरूप और भेद हम कहते हैं तू चित्त लगाकर श्रवण कर । अध्यास दो प्रकार का होता है, एक तो 'अर्था–ध्यास' और दूसरा 'ज्ञाना–ध्यास' होता है । इनमें अर्था–ध्यास के और भी बहुत भेद हैं । कहीं केवल 'संबंधी अध्यास' होता है और कहीं 'संबंध सहित सम्बन्धी का अध्यास' होता है, कहीं केवल धर्मा–ध्यास' होता है और कहीं 'अन्योन्या-ध्यास' होता है और कहीं 'अनन्तरा ध्यास' होता है । सो भी दो प्रकार का होता है । एक तो 'संसर्गा-ध्यास' होता है, और दूसरा 'स्वरूपा-ध्यास' होता है । इतने अध्यास के भेद कहे हैं । और भी अनेक भेद हैं ।

माया के पदार्थों का चिंतन करने से अंत नहीं है उनको तो मिथ्या जानने से ही अंत होता है । बहुत गधे के बाल गिनने से कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, इसलिये जितना अध्यास क्रम है सो सब 'अर्था–ध्यास' और 'ज्ञाना-ध्यास' के अन्तर्भूत है । अध्यास का स्वरूप यह है कि—मिथ्या वस्तु और उसका ज्ञान दोनों को अध्यास कहते हैं, सो अध्यास और अध्यस्त वस्तु के अधिष्ठान के ज्ञान बिना और प्रकार से निवृत्ति होती नहीं ।

यह सुन शिष्य शंका करता है—हे भगवन आप कहते हो—कि

जहां हिसा नहीं अहिसा, नहिं जाति वरन कुल वंशा ।
कोइ निदा नहीं प्रशंसा, चहे कोइ कुछ बको जमाना ॥ २ ॥
जहां नहीं गायत्री संध्या, कोइ मोक्ष हुआ नहि वंध्या ।
आतम है सदा स्वछंदा, जहा नहीं ज्ञान अरु ध्याना ॥ ३ ॥
जहाँ नहिं मूला नहिं तूला, कभी कुम्हलाता नहिं फूला ।
कुछ जान अजान न भूला, वह ऐसा देश देवाना ॥ ४ ॥
जहं जीव ईश नहीं माया, कोइ धर्म कर्म नहिं पाया ।
तुझ चेतन की सब छाया, यह स्वर्ग पाताल जहाना ॥५॥
जब गुप्त रूप को जाना, तब मिटा भेद भ्रम नाना ।
भई माया मलकी हाना, जब देखा एक समाना ॥ ६ ॥

—इस बात को अपने चित्त मे विचार के आत्मा को एक समरूप जान, और जो पूर्व में सुख को आत्मा से भिन्न आत्मा का गुण तथा–आत्मा का धर्म रूप करके जाना था, सो वास्तव में आत्मा का स्वरूप ही जान । यदि तू ऐसा कहे कि-'सुखादिक किसी क्रिया से आत्मा को प्राप्त होते हैं' तो तेरा यह कहना बनता नहीं, क्योंकि–क्रिया करके अनात्म पदार्थ की ही प्राप्ति होती है, आत्मा तो सर्व व्यापी होने से नित्य ही प्राप्त है । और जो तू ऐसा कहे कि "नित्य प्राप्त की प्राप्ति, और नित्य निवृत्त की निवृत्ति वेदान्त शास्त्र में कही है, इसलिये प्राप्त की प्राप्ति बनती है", सो ठीक है ।

परन्तु–तैंने इस प्रकार के कथन का अभिप्राय समझा नहीं है

क्योंकि कर्त्तारूप से जो आत्मा का ज्ञान है सो तो अकर्त्तापन के ज्ञान से भ्रम रूप निवृत्ति को प्राप्त होजायगा, परन्तु–आत्मा को ब्रह्म रूप से नहीं जानेगा तब तक अज्ञान की निवृत्ति नहीं होगी। जब अज्ञान की निवृत्ति नहीं हुई तो अकर्त्तापने का ज्ञान भी अध्यास रूप ही है, जैसे सर्प ज्ञान से दंड ज्ञान हो गया है, परन्तु–दोनों ही भ्रम रूप हैं।

तात्पर्य यह है कि–जब तक अधिष्ठान के अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है, तब तक भ्रम की भी निवृत्ति नहीं हो सकती। दार्ष्टान्त में सर्व कल्पित वस्तु का अधिष्ठान आत्मा है, सो उसको ब्रह्म से भिन्न जानना अधिष्ठान का अज्ञान है, और ब्रह्म स्वरूप आत्मा को जानना ही आत्मा का यथार्थ ज्ञान है। इस प्रकार आत्मा के यथार्थ ज्ञान से सर्व अध्यास और अध्यास का कार्य जो अध्यस्त पदार्थ है, इन सब की निवृत्ति होती है, इसी को अत्यन्त निवृत्ति कहते हैं। इसी पर तेरे को एक पद सुनाते हैं सो तू मन लगा के सुन –

कहिं आना है नहीं जाना, यह मन का भेद मिटाना।
दरियाव की मौज्या देखो, दरियाव के बीच समाना ॥टेक॥
अन्य बुद्धि को त्यागो, अब भर्म नींद से जागो।
सब आतम पद से लागो तज भेद [illegible] ॥ १ ॥

जहां हिंसा नहीं अहिंसा, नहिं जाति वरन कुल वंशा ।
कोइ निंदा नहीं प्रशंसा, चहे कोइ कुछ बको जमाना ॥ २ ॥
जहां नहीं गायत्री संध्या, कोइ मोक्ष हुआ नहि वंध्या ।
आतम है सदा स्वछंदा, जहा नहीं ज्ञान अरु ध्याना ॥ ३ ॥
जहाँ नहिं मूला नहि तूला, कभी कुम्हलाता नहि फूला ।
कुछ जान अजान न भूला, वह ऐसा देश देवाना ॥ ४ ॥
जहं जीव ईश नहीं माया, कोइ धर्म कर्म नहिं पाया ।
तुझ चेतन की सब छाया, यह स्वर्ग पाताल जहाना ॥५॥
जब गुप्त रूप को जाना, तब मिटा भेद भ्रम नाना ।
भई माया मलकी हाना, जब देखा एक समाना ॥ ६ ॥

—इस बात को अपने चित्त में विचार के आत्मा को एक समरूप जान, और जो पूर्व में सुख को आत्मा से भिन्न आत्मा का गुण तथा–आत्मा का धर्म रूप करके जाना था, सो वास्तव में आत्मा का स्वरूप ही जान। यदि तू ऐसा कहे कि-'सुखादिक किसी क्रिया से आत्मा को प्राप्त होते हैं' तो तेरा यह कहना बनता नहीं, क्योंकि– क्रिया करके अनात्म पदार्थ की ही प्राप्ति होती है, आत्मा तो सर्व व्यापी होने से नित्य ही प्राप्त है। और जो तू ऐसा कहे कि "नित्य प्राप्त की प्राप्ति, और नित्य निवृत्त की निवृत्ति वेदान्त शास्त्र में कही है, इसलिये प्राप्त की प्राप्ति बनती है", सो ठीक है।

परन्तु–तैंने इस प्रकार के कथन का अभिप्राय समझा नहीं है

क्योंकि कर्तारूप से जो आत्मा का ज्ञान है सो तो अकर्तापन के ज्ञान से अध्य रूप निवृत्ति को प्राप्त होजावेगा, परन्तु—आत्मा को ब्रह्म रूप से नहीं जानेगा तब तक अज्ञान की निवृत्ति नहीं होगी। जब अज्ञान की निवृत्ति नहीं हुई तो अकर्तापने का ज्ञान भी अध्यास रूप ही है, जैसे सर्प ज्ञान से दंड ज्ञान हो गया है, परन्तु—दोनों ही भ्रम रूप हैं।

तात्पर्य यह है कि—जब तक अधिष्ठान के अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है, तब तक भ्रम की भी निवृत्ति नहीं हो सकती। दार्ष्टान्त में सर्व कल्पित वस्तु का अधिष्ठान आत्मा है, सो उसको ब्रह्म से भिन्न मानना अधिष्ठान का अज्ञान है, और ब्रह्म स्वरूप आत्मा को जानना ही आत्मा का यथार्थ ज्ञान है। इस प्रकार आत्मा के यथार्थ ज्ञान से सर्व अध्यास और अध्यास का कार्य जो अध्यस्त पदार्थ है; इन सब की निवृत्ति होती है, इसी को अत्यन्त निवृत्ति कहते हैं। इसी पर तेरे को एक पद सुनाते हैं सो तू मन लगा के सुन —

कहिं जाना है नहीं जाना, एक मन का मैल मिटाना।
दरियाव की मौज्या देखो, दरियाव के बीच समाना ॥टेक॥
कर्ता बुद्धि को त्यागे, जब भर्म नींद से जागे।
शुभ आतम पद से लागे तज देउ विषय विष खाना ॥ १ ॥

लगा तब उस बच्चे का शिर दरवाजे मे टकराने से वह रोने लगा, उसका रोना सुनके पिता को उसी वक्त पुत्र की ज्ञात होगई। अब तू इस बात को विचार कर देख, उस बच्चे की प्राप्ति किस क्रिया से हुई ? किसी भी क्रिया से नहीं हुई। पूर्व मे उस पुरुष ने अनेक क्रिया उसकी प्राप्ति के वास्ते की, परन्तु–किसी भी क्रिया से उस बच्चे की प्राप्ति नहीं हुई। जब वह पुरुष सर्व क्रिया को त्याग के निराश होकर अपने घर आया, तभी उसको अपने बच्चे की प्राप्ति हुई, यह तो दृष्टान्त है।

दार्ष्टान्त यह है कि–जब तक तेरे को किसी कायिक, वाचिक, मानसिक क्रिया का अहंकार है कि–अमुक क्रिया करके आत्मा को सुख की प्राप्ति होगी, तबतक तेरे को कभी सुख की प्राप्ति नहीं होगी।

जैसे–वह पुरुष जब तक ढूढने की क्रिया करता रहा, तब तक पुत्र की प्राप्ति नहीं हुई, जब वह निराश होकर अपने घर आया तब उसको पुत्र की प्राप्ति हुई। ऐसे ही तेरे को जो सुख प्राप्ति की इच्छा हुई है और उसके वास्ते नाना प्रकार की जो क्रिया करता है, जब तू इन सर्व से निराश होगा, और जो सच्चा आत्मा-रूपी घर है उस की तरफ आवेगा, तब तेरे पुत्र स्थानी आत्म–स्वरूपी 'नित्य–सुख' की प्राप्ति होगी।

परन्तु–वह तभी होगी, जब दरवाजा स्थानी जो 'सत् शास्त्र

जो वस्तु निस्य ही प्राप्त है उसकी फिर किस क्रिया से प्राप्ति होगी? उसका तो अज्ञात होना ही अप्राप्ति है, और ज्ञात होना उसकी प्राप्ति कही जाती है, यथार्थ में किसी से उसकी प्राप्ति नहीं होती है। और जो नित्यपद दिया है, उसको तू विचार के देख, जब तू इस प्रकार विचार करेगा, तब तेरी क्रिया-जन्य प्राप्ति की शंका निवृत्त हो जावेगी, सो विचार यह है जिस पर तेरे को एक-

(६)

"बच्चा-बाजार-पिता-न्याय"

सुनाते हैं—एक पुरुष अपने बच्चे को संग लेके बाजार की सैल करने गया था, उसने बाजार में गाड़ी घोड़े की बहुत सी भीड़ देख कर अपने मन में विचार किया कि—इस बच्चे को कोई चोट फेंट लगे नहीं। इसलिये उसने उस बच्चे को अपने कंधे पर बिठा लिया, और बाजार में घूमता रहा। वह अनेक प्रकार के कौतुक तमाशे देखता रहा और बाजार की अनेक वस्तु देखके उसका मन रंजू होने के कारण उसे उस लड़के का विस्मरण होगया, फिर उस पुरुष को ऐसा भ्रम हुआ कि लड़का तो कहीं बाजार में खोगया है।

तब वह उस लड़के को ढूंढने लगा और सारा ही बाजार उसने ढूंढा, परन्तु—वह बच्चा उसको कहीं भी नहीं मिला। ऐसी दशा में वह पुरुष हैरान होकर घर पर पहुंचा। जब घर के दरवाजे में घुसने

लगा तब उस बच्चे का शिर दरवाजे मे टकराने से वह रोने लगा, उसका रोना सुनके पिता को उसी वक्त पुत्र की ज्ञात होगई। अब तू इस बात को विचार कर देख, उस बच्चे की प्राप्ति किस क्रिया से हुई ? किसी भी क्रिया से नहीं हुई। पूर्व में उस पुरुष ने अनेक क्रिया उसकी प्राप्ति के वास्ते की, परन्तु–किसी भी क्रिया से उस बच्चे की प्राप्ति नहीं हुई। जब वह पुरुष सर्व क्रिया को त्याग के निराश होकर अपने घर आया, तभी उसको अपने बच्चे की प्राप्ति हुई, यह तो दृष्टान्त है।

दार्ष्टान्त यह है कि–जब तक तेरे को किसी कायिक, वाचिक, मानसिक क्रिया का अहंकार है कि–अमुक क्रिया करके आत्मा को सुख की प्राप्ति होगी, तबतक तेरे को कभी सुख की प्राप्ति नहीं होगी।

जैसे–वह पुरुष जब तक ढूढने की क्रिया करता रहा, तब तक पुत्र की प्राप्ति नही हुई, जब वह निराश होकर अपने घर आया तब उसको पुत्र की प्राप्ति हुई। ऐसे ही तेरे को जो सुख प्राप्ति की इच्छा हुई है और उसके वास्ते नाना प्रकार की जो क्रिया करता है, जब तू इन सर्व से निराश होगा, और जो सच्चा आत्मा-रूपी घर है उस की तरफ आवेगा, तब तेरे पुत्र स्थानी आत्म–स्वरूपी 'नित्य–सुख' की प्राप्ति होगी।

परन्तु–वह तभी होगी, जब दरवाजा स्थानी जो 'सत् शास्त्र

और महात्मा का सत्संग है,' उसी में तू आवेगा, और तेरे "अहं ब्रह्मास्मि" ऐसी चोट लगेगी, तब तू उस बच्चे की तरह चिल्लावेगा कि—मैं ही चेतन आत्मा परिपूर्ण ब्रह्मरूप हूँ और अक्रिय हूँ, इसी से मैं सर्व धर्मों से रहित हूँ, और सभी धर्म और सभी क्रिया मेरे द्वारा सिद्ध होती हैं, और मेरे से कोई भी पदार्थ जुदा नहीं है। जब इस प्रकार समझेगा, तब तू जान लेगा कि—नित्यप्राप्ति जो कही है, सो केवल प्राप्त पदार्थ का ज्ञान कराने के वास्ते कही है, और किसी क्रिया से प्राप्त की प्राप्ति नहीं होती है।

जिस पदार्थ की किसी क्रिया से प्राप्ति होती है, सो पदार्थ अनात्म ही होता है जैसे—घट—पटादिक पदार्थ हैं, ये सारे क्रिया जन्य होने से अनात्म ही हैं। जो पदार्थ किसी क्रिया से उत्पन्न होता है सो नाशवान हो है। यज्ञादिक कर्मो से स्वर्ग के भोग पदार्थ प्राप्त होते हैं, सो भी काल पा के नाश हो जाते हैं। यदि किसी क्रिया अन्य पदार्थ से आत्मा के सुख की प्राप्ति कहो, तो वह सुख भी नाश वाला ही होगा। वास्तव में वेद न आत्मा को अक्रिय ही कहा है। उसमें किसी क्रिया का आरोपण करके उसको सुख की प्राप्ति कहना सर्वथा वेद और शास्त्र से विरुद्ध है। इस बात को सुन के शिष्य प्रश्न करता है —

'हे गुरो ! वेद में दो प्रकार के कर्म कहे हैं, उनमें एक तो विधि' और दूसरा निषेध' कर्म कहा है। इन दोनों में से निषेध—कर्म

का तो त्याग ही कहा है, और जो विधि-कर्म है सो करने के वास्ते कथन किया है। विधि-कर्म से सुख की प्राप्ति कही है। जीवात्मा से भिन्न और किसी को भी कर्म का अधिकार है नहीं, जीवात्मा ही कर्म का अधिकारी है। इसलिये जीवात्मा के सुख के वास्ते ही वेदने कर्म का कथन किया है, सो कर्म किसी क्रिया से होता है। और आप कहते हो कि—'किसी भी क्रिया के करने से आत्मा को सुख की प्राप्ति होती नहीं।' इस में तो आपका कहना ही वेद से विरुद्ध मालूम होता है, क्योंकि वेदने कर्मों का जो कथन किया है, 'वह कथन जीवात्मा के सुख के ही वास्ते करने में वेद का 'अभिप्राय है। और जो किया-जन्य कर्म से सुख नहीं होता, तो वेद ऐसा कथन क्यों करता ? इससे जाता है कि—वेद का तो किसी के बहकाने में तात्पर्य नहीं है, वेदो को ईश्वर ने सर्व जीवों के भले के वास्ते ही उत्पन्न किया है"। ऐसी शङ्का होने से—

गुरु कहते हैं— यद्यपि वेद ईश्वर ने जीवों के भले वास्ते ही उत्पन्न किये है, और विधि-निषेध दो प्रकार के कर्मों का कथन किया है, सोभी जीवो के कल्याण वास्ते ही है। परन्तु—अपनी बुद्धि में जो असम्भवनादिक दोष होने से वेद के वचनों का तात्पर्य समझ मे नहीं आता है, इसी कारण विरोध मालूम होता है। क्योंकि—किसी स्थान में तो ऐसा कहा है कि 'जब तक जीवे तब तक कर्मों को ही करे" और किसी जगह ऐसा भी कथन किया

और महात्मा का सत्संग है,' उसी में तू आवेगा, और तेरे "अहं ब्रह्मास्मि" ऐसी चोट लगेगी तब तू उस बच्चे की तरह चिल्लावेगा कि—मैं ही चेतन आत्मा परिपूर्ण सद्रूप हूँ और अक्रिय हूँ, इसी से मैं सर्व धर्मों से रहित हूँ, और सभी धर्म और सभी क्रिया मेरे ही से सिद्ध होती हैं, और मेरे से कोई भी पदार्थ जुदा नहीं है। जब इस प्रकार समझेगा, तब तू जान लेगा कि—नित्यप्राप्ति जो कही है, सो केवल प्राप्त पदार्थ का ज्ञान कराने के वास्ते कही है, और किसी क्रिया से प्राप्त की प्राप्ति नहीं होती है।

जिस पदार्थ की किसी क्रिया से प्राप्ति होती है, सो पदार्थ अनात्म ही होता है; जैसे—घट-पटादिक पदार्थ हैं, ये सारे क्रिया जन्य होने से अनात्म ही हैं। जो पदार्थ किसी क्रिया से उत्पन्न होता है, सो नाशवान् ही है। यज्ञादिक कर्मों से स्वर्ग के भोग पदार्थ प्राप्त होते हैं, सो भी काल पा के नाश हो जाते हैं। यदि किसी क्रिया जन्य पदार्थ से आत्मा के सुख की प्राप्ति कहो, तो वह सुख भी नाश वाला ही होगा। वास्तव में वेद ने आत्मा को अक्रिय ही कहा है। उसमें किसी क्रिया का आरोपण करके उसको सुख की प्राप्ति कहना सर्वथा वेद और शास्त्र से विरुद्ध है। इस बात को सुन के शिष्य प्रश्न करता है —

'हे गुरो! वेद में दो प्रकार के कर्म कहे हैं, उनमें एक तो विधि और दूसरा निषेध कर्म कहा है। इन दोनों में से निषेध-कर्म

का तो त्याग ही कहा है, और जो विधि-कम है सो करने के वास्ते कथन किया है। विधि-कर्म से सुख की प्राप्ति कही है। जीवात्मा से भिन्न और किसी को भी कर्म का अधिकार है नहीं, जीवात्मा ही कर्म का अधिकारी है। इसलिये जोवात्मा के सुख के वास्ते ही वेदने कर्म का कथन किया है, सो कर्म किसी क्रिया से होता है। और आप कहते हो कि–'किसी भी क्रिया के करने से आत्मा को सुख की प्राप्ति होती नहीं।' इस मे तो आपका कहना ही वेद से विरुद्ध मालूम होता है, क्योंकि वेदने कर्मों का जो कथन किया है, 'वह कथन जीवात्मा के सुख के ही वास्ते करने मे वेद का 'अभिप्राय है। और जो किया-जन्य कर्म से सुख नहीं होता, तो वेद ऐसा कथन क्यो करता? इससे जाता है कि–वेद का तो किसी के बहकाने में तात्पर्य नहीं है, वेदो को ईश्वर ने सर्व जीवो के भले के वास्ते ही उत्पन्न किया है"। ऐसी शङ्का होने से—

गुरु कहते हैं— यद्यपि वेद ईश्वर ने जीवों के भले वास्ते ही उत्पन्न किये हैं, और विधि-निषेध दो प्रकार के कर्मों का कथन क्रिया है, सोभी जीवो के कल्याण वास्ते ही है। परन्तु–अपनी बुद्धि में जो असम्भवनादिक दोष होने से वेद के वचनों का तात्पर्य समझ में नहीं आता है, इसी कारण विरोध मालूम होता है। क्योंकि–किसी स्थान में तो ऐसा कहा है कि 'जब तक जीवे तब तक कर्मों को ही करे" और किसी जगह ऐसा भी कथन किया

कि–"कर्मणा बध्यते जन्तु" (अर्थात्–कर्मों से जाव बन्धायमान होते हैं।) इस रीति से नाना प्रकार के वचनों को सुनके पुरुषों की बुद्धि में भ्रम होजाता है। इस से न तो कर्मों का त्याग होता है, और न कर्मों के करने में चित्त की प्रवृत्ति ही होती है, उमयथ संशय में ही उमर बीत जाती है।

इससे प्रथम अपनी बुद्धि में जो 'असम्भावना' दोष है उसकी निवृत्ति करनी चाहिये। उसकी निवृत्ति वारम्वार शास्त्र के विचार न, और महा पुरुषों के वचनों में विश्वास रखने स होती है। जब इस प्रकार महात्मा पुरुषों के वचनों को वारम्वार सुनेगा; और शास्त्र का विचार करेगा, तब ज्ञान आवेगा कि– अधिकारी भेद से सारही वेद के वचन ठीक हैं'।

'विधि, निषेध' य दो प्रकार के 'कम वद न कहे हैं। निषेध–कर्म स रोक के विधि–कर्म' में लगाना और फिर सकाम को छुड़ा कर 'निष्काम विधि–कर्म में लगाना, और जबतक अशुभ–वासना दूर नहीं हो तब तक निष्काम कर्म करना, और और जब अशुभवासना नहीं मालूम हो; तब निष्काम–कर्म को भी नहीं करना, किन्तु–'निष्काम–उपासना' को करना, और वह भी जबतक चित्त का स्थिरता नहीं दीख तबतक करना; और जब 'विक्षप–दोष' दूर होजाय तब निष्काम–उपासना भी नहीं करना और वैसी दशा में 'नित्य–अनित्य वस्तु का विचार'

करना, और कुछ भी नहीं करना।

ऐसे ही विधि कर्म से लेकर ज्ञान की प्राप्ति पर्यन्त 'सोपान-कर्म' अर्थात्—अधिकार भेद से एक कर्म का त्याग और दूसरे का ग्रहण वेद ने कहा है। सो कर्म के कराने में वेद का तात्पर्य नहीं है, किन्तु- सर्व कर्मों को क्रमश. छुड़ाने मे ही वेद का गूढ़ अभिप्राय है। क्योंकि—जिन कर्मों में अहंकार करके जन्म—मरण रूप नाना प्रकार के क्लेश प्राप्त होते है, उन कर्मों के दूर होने से ही दुख की निवृत्ति होगी। कर्मों का नाश तीन प्रकार से होता है—(१) किसी ज्ञात मे पाप हो जावे तो उसकी निवृत्ति 'विरोधी—कर्म' से होती है, जैसे 'प्रायश्चित—कर्म', (२) कर्म के भोगने से कर्म नाश होते हैं, जैसे 'प्रारब्ध—कर्म' और (३) 'ब्रह्मज्ञान' से सर्व 'संचित' और आगामी—'कर्म' नाश होते हैं।

इस प्रकार से 'क्रिया—जन्य—कर्म' का वेद ने जो कथन किया है-सो कर्म के ही नाश करनेके वास्ते है। जैसे-किसी के भूत चिपट जाता है तब उसको बलि-दान देकर निवृत्त करते हैं। परन्तु-जैसा प्रेत होता है वैसा उसका बलि होता है। इसी प्रकार इस जीव को 'कर्म—रूपी—भूत' लगा है, तो 'कर्म—रूपी बलिदान' देने से ही वह दूर होता है। और किसी क्रिया के करने से आत्मा को सुख की प्राप्ति नहीं होती है। ऐसा जो 'अक्रिय' और सुखरूप' आत्मा है; उसको किसी क्रिया से सुख की प्राप्ति

कि-"कर्मणा बध्यते जन्तु" (अर्थात्-कर्मों से जीव बन्धायमान होते हैं।) इस रीति से नाना प्रकार के वचनों को सुनके पुरुषों की बुद्धि में भ्रम होजाता है। इस से न तो कर्मों का त्याग होता है, और न कर्मों के करने में चित्त की प्रवृत्ति ही होती है, उभयतः संशय में ही उमर बीत जाती है।

इससे प्रथम अपनी बुद्धि में जो 'असम्भावना' दोष है उसकी निवृत्ति करनी चाहिये। उसकी निवृत्ति बारम्बार शास्त्र के विचार न, और महा पुरुषों के वचनों में विश्वास रखने से होती है। जब इस प्रकार महात्मा पुरुषों के वचनों को बारम्बार सुनेगा, और शास्त्र का विचार करेगा तब ज्ञान आवेगा कि- अधिकारी भेद से सारेही वेद के वचन ठीक हैं'।

'विधि, निषेध' य दो प्रकार के 'कर्म' वेद ने कहे हैं। निषध-कर्म स रोक के विधि-कर्म' में लगाना और फिर सकाम को छुड़ा कर 'निष्काम विधि-कर्म' में लगाना और जबतक अशुभ-वासना दूर नहीं हो, तब तक निष्काम कर्म करना, और और जब अशुभवासना नहीं मालूम हो, तब निष्काम-कर्म को भी नहीं करना, किन्तु-'निष्काम-उपासना' को करना, और वह भी जबतक चित्त का स्थिरता नहीं दीख तबतक करना और जब 'विक्षेप-दोष' दूर होजावे तब निष्काम-उपासना भी नहीं करना और वैसी दशा में 'नित्य-अनित्य वस्तु का विचार'

करना, और कुछ भी नहीं करना।

ऐसे ही विधि कर्म से लेकर ज्ञान की प्राप्ति पर्यन्त 'सोपान-कर्म' अर्थात्–अधिकार भेद से एक कर्म का त्याग और दूसरे का ग्रहण वेद ने कहा है। सो कर्म के कराने मे वेद का तात्पर्य नहीं है, किन्तु– सर्व कर्मों को क्रमश. छुड़ाने मे ही वेद का गूढ़ अभिप्राय है। क्योंकि–जिन कर्मों में अहकार करके जन्म–मरण रूप नाना प्रकार के क्लेश प्राप्त होते हैं, उन कर्मों के दूर होने से ही दुख की निवृत्ति होगी। कर्मों का नाश तीन प्रकार से होता है–(१) किसी ज्ञात में पाप हो जावे तो उसकी निवृत्ति 'विरोधी–कर्म' से होती है, जैसे 'प्रायश्चित्त–कर्म', (२) कर्म के भोगने से कर्म नाश होते हैं, जैसे 'प्रारब्ध–कर्म' और (३) 'ब्रह्मज्ञान' से सर्व 'संचित' और आगामी–'कर्म' नाश होते हैं।

इस प्रकार से 'क्रिया–जन्य–कर्म' का वेद ने जो कथन किया है-सो कर्म के ही नाश करने के वास्ते है। जैसे-किसी के भूत चिपट जाता है तब उसको बलि-दान देकर निवृत्त करते हैं। परन्तु-जैसा प्रेत होता है वैसा उसका बलि होता है। इसी प्रकार इस जीव को 'कर्म–रूपी–भूत' लगा है, तो 'कर्म–रूपी बलिदान' देने से ही वह दूर होता है। और किसी क्रिया के करने से आत्मा को सुख की प्राप्ति नहीं होती है। ऐसा जो 'अक्रिय' और सुखरूप' आत्मा है, उसको किसी क्रिया से सुख की प्राप्ति

कि–"कर्मणा बध्यते जन्तुः" (अर्थात्–कर्मों से जीव बन्धायमान होते हैं।) इस रीति से नाना प्रकार के वचनों को सुनके पुरुषों की बुद्धि में भ्रम होजाता है। इस से न तो कर्मों का त्याग होता है, और न कर्मों के करने में चित्त की प्रवृत्ति ही होती है, उभयत्र संशय में ही उमर बीत जाती है।

इससे प्रथम अपनी बुद्धि में जो 'असम्भावना' दोष है उसकी निवृत्ति करनी चाहिये। उसकी निवृत्ति बारम्बार शास्त्र के विचार से; और महा पुरुषों के वचनों में विश्वास रखने से होती है। जब इस प्रकार महात्मा पुरुषों के वचनों को बारम्बार सुनेगा, और शास्त्र का विचार करेगा, तब जान जावेगा कि–अधिकारी भेद से सारेही वेद के वचन ठीक हैं।

'विधि, निषेध' ये दो प्रकार के 'कर्म' वेद ने कहे हैं। निषेध–कर्म से रोक के विधि–कर्म' में लगाना और फिर सकाम को छुड़ा कर 'निष्काम विधि–कर्म' में लगाना; और जबतक अशुभ–वासना दूर नहीं हो, तब तक निष्काम कर्म करना, और और जब अशुभवासना नहीं मालूम हो तब निष्काम–कर्म को भी नहीं करना, किन्तु–'निष्काम–उपासना' को करना, और वह भी जबतक चित्त का स्थिरता नहीं दीख तबतक करना और जब 'विक्षेप–दोष' दूर होजावे तब निष्काम–उपासना भी नहीं करना और वैसी दशा में 'नित्य–अनित्य वस्तु का विचार'

में होती है, तैसे ही–जितनी साधनरूपी दवाई हैं–सो अज्ञानरूप-रोग के दूर करने में तो समर्थ हैं; परन्तु–आत्मा को सुख की प्राप्ति कराने मे समर्थ नहीं है। क्योंकि–आत्मा तो सदा सुख रूप ही है। जैसे–कपडे मे जो मैल होता है उसकी मल से ही निवृत्ति होती है, परन्तु– साबुन–रूपी–मल' से उस वस्त्र मे सफेदी नहीं उत्पन्न होती है क्योंकि–'सफेदी तो वस्त्र का स्वरूप ही है'। कोई कहे कि–'जल को ठंडा करो' वह कौन वस्तु है जो जल को ठडा करेगी ? वस्तव मे जितनी वस्तु ठंडी मालूम होती हैं, सो सब जल ही से ठंडी होती हैं। इसी प्रकार पदार्थों में जो सुख की प्रतीति होती है सो सारा सुख चेतन आत्मा का है, फिर आत्मा को सुख की प्राप्ति कौन पदार्थ करायेगा। पदार्थ मात्र को वेद ने दुख रूप कहे हैं यही वेद का गूढ अभिप्राय है, सो तेंने समझा नहीं, जैसे एक वैरागी ने गुरु के उपदेश का अर्थ नहीं समझा था। इसी पर तेरे को एक—

(७)

"गुरु-शिष्य उपदेश न्याय"

सुनाते हैं सो यह है कि'–एक गृहस्थी को उसके पूर्व जन्म के उत्तम संस्कारों के योग से वैराग्य उत्पन्न हुआ, तब वह घर छोड़ कर चल दिया और अपने कल्याण की इच्छा करके विचरने तथा

कहना संभव नहीं। परन्तु—जो तेरे को सुख प्राप्ति की इच्छा हुई है सो दोष है, इसी से तेर को 'अक्रिय—आत्मा में नाना प्रकार की क्रिया और कर्म' प्रतीत हुवे हैं।

जैसे—किसी के नेत्र में दोष होता है उसको आकाश में दो चन्द्रमा भासते हैं, इसी प्रकार किसी को 'पित्त—दोष' हो तो उसे सभी पदार्थ पीले प्रतीत होते हैं। वास्तव में दोष केवल नेत्र में ही है चन्द्रमा तो एक ही है—और सारे पदार्थ पीले नहीं होते हैं परन्तु—अपने नेत्र के दोष से पीले भासते हैं। फिर वह पुरुष दवाई करता है और आराम होने पर जो पदार्थ जैसा होता है वैसा ही भासने लग जाता है। वास्तव में दवाइ से नेत्र का दोष ही दूर होता है; नेत्र में उस दवाई से सामर्थ्य नहीं बढ़ती है।

वैसे हो 'अज्ञान—रूपी—दोष' से अपनी बुद्धि में ही कर्ता, क्रिया, कर्म भासता है सो किसी दवाई से ही दूर होगा, और वह दवाई 'निष्काम—कर्म' है। उससे अन्त' करण शुद्ध होता है। शुद्ध अन्त'—करण में विवेक, वैराग्य, आदि साधन उत्पन्न होते हैं। फिर श्रवण, मनन, निदिध्यासन म 'असंभावना' और 'विपरीत—भावना' दूर होकर आत्मा का यथार्थ ज्ञान होता है। 'जैसा वस्तु का स्वरूप हो वैसा ही जानना' इसी का नाम "यथार्थ—ज्ञान" है।

तात्पर्य यह है कि—जैसे दवाइ की सामर्थ्य रोग क दूर करने

में होती है, तैसे ही-जितनी साधनरूपी दवाई हैं-सो अज्ञानरूप- रोग के दूर करने मे तो समर्थ हैं, परन्तु-आत्मा को सुख की प्राप्ति कराने में समर्थ नहीं है। क्योंकि-आत्मा तो सदा सुख रूप ही है। जैसे-कपडे में जो मैल होता है उसकी मल से ही निवृत्ति होती है, परन्तु- साबुन-रूपी-मल' से उस वस्त्र में सफ़ेदी नहीं उत्पन्न होती है क्योंकि-'सफ़ेदी तो वस्त्र का स्वरूप ही है'। कोई कहे कि-'जल को ठंडा करो' वह कौन वस्तु है जो जल को ठंडा करेगी ? वस्तव मे जितनी वस्तु ठंडी मालूम होती हैं, सो सब जल ही से ठडी होती हैं। इसी प्रकार पदार्थों मे जो सुख की प्रतीति होती है सो सारा सुख चेतन आत्मा का है, फिर आत्मा को सुख की प्राप्ति कौन पदार्थ करायेगा। पदार्थ मात्र को बेद ने दुख रूप कहे हैं यही वेद का गूढ अभिप्राय है, सो तेने समझा नहीं, जैसे एक वैरागी ने गुरु के उपदेश का अर्थ नहीं समझा था। इसी पर तेरे को एक—

(७)

"गुरू-शिष्य उपदेश न्याय"

सुनाते हैं सो यह है कि'-एकगृहस्थी को उसके पूर्व जन्म के उत्तम सस्कारों के योग से वैराग्य उत्पन्न हुआ, तव वह घर छोड़ कर चल दिया और अपने कल्याण की इच्छा करके विचरने तथा

तीर्थ यात्रा करने लगा । एक दिन वह किसी वैरागी के मंदिर में जाकर ठहरा, तब मंदिर वाला वैरागी उससे पूछने लगा,'तुम कहां से आये और कहां जाते हो ?' वह कहने लगा कि-"महाराज जी ! मैं तो ऐसे ही तीर्थ यात्रा में विचरता रहता हूं अपने घर का तो मैंने त्याग किया है, परन्तु मेरे को यह इच्छा बनी रहती है कि-इस जन्म मरण रूपी संसार-दुःख से किसी प्रकार मुक्त होऊँ"। इस प्रकार सुन कर वे बाबाजी कहने लगे-'अरे ! यह तो तेरे को हम बता देंगे'। तब वह बोला कि-'महाराज बहुत अच्छी बात है, आप कृपा करके बताइये' ।

बाबाजी कहने लगे कि-"भाई ! तुम तीन काम करते रहो तो तुम्हारी मुक्ति हो जावेगी, वे तीन काम यह हैं-एक तो गऊ का गोबर थाप दिया करो दूसरा काम-तमाखू को कूटकर भरे को भर दिया करो, और तीसरा काम गऊ के वास्ते हरी हरी घास जंगल से खोद लाया करो, इन तीन कामों के करने से तुम्हारा मोक्ष हो जावेगा" । तब वह पुरुष इस बात को सुनकर उस बाबा का चेला होकर उसी मन्दिर में रहने लगा और ये तीनः काम करने लगा । बहुत दिन व्यतीत होने पर वह अपने मन में विचार करने लगा कि ये काम तो हम अपने घर पर भी करते थे जो इनमें कल्याण होता तो वहीं होजाता ! महाराज ने कहा है मो कुछ समझ के ही कहा होगा !' इस प्रकार विचार

करता ही रहा।

फिर एकदिन वह बाबा गैया के वास्ते किसी तालाब के किनारे घास खोद रहा था, उस समय उसी तालाब पर कोई परमहंस महात्मा विचरते हुए चले आये। उन्होने वहा स्नान किया, तब वह पुरुष उन महात्मा की तरफ देख रहा था। स्नान करके वे महात्मा उसी तालाब के किनारे,आसन लगा कर बैठ गये और गीता का पाठ करने लगे। जब वे पाठ कर चुके, तब वह मनुष्य उनके पास जा के 'जय सीताराम',कहता हुआ, वन्दना पूर्वक उनके समीप बैठ गया।

फिर वे महात्मा उससे पूछने लगे कि-'तुम कौन हो?' उसने कहा कि- महाराज मैं भी साधू हू' तब उन्होने कहा कि-'बहुत अच्छी बात है'। वह मनुष्य कहने लगा कि-'महाराज! मैं आपसे एक बात पूछता हूँ, सो आप कृपा करके बताइये"। महात्मा ने कहा-'बहुत अच्छा आप पूछिये' तब वह कहने लगा कि-"महाराज, मेरे गुरु ने तीन काम मेरे को बताये हैं, और यह कहा है कि-इनको तुम करते रहो, तुम्हारा मोक्ष हो जावेगा। वे काम ये हैं-(१) गऊ का गोबर थापना (२) तमाखू को कूट कर, भर २ के देना, और (३) गऊ के वास्ते हरी २ घास खोद लाना। इन कामों के करने से मोक्ष होता है? या-क्या? सो आप बताइये"। तब वे महात्मा कहने लगे—

'हे सज्जन, इन कामों के करने से तो मोक्ष नहीं होता है, परन्तु

तीर्थ यात्रा करने लगा। एक दिन वह किसी बैरागी के मंदिर में जाकर ठहरा, तब मंदिर वाला बैरागी उससे पूछने लगा, 'तुम कहां से आये और कहां जाते हो ?' वह कहने लगा कि-"महाराज जी ! मैं तो एम ही तीर्थ यात्रा में विचरता रहता हूँ अपने घर का तो मैंने त्याग किया है, परन्तु मेरे को यह इच्छा बनी रहती है कि-इस जन्म मरण रूपी संसार-दुख से किसी प्रकार मुक्त होऊं'। इस प्रकार सुन कर वे बाबाजी कहने लगे-'अरे ! यह तो तेरे को हम बता देंगे'। तब वह बोला कि-'महाराज बहुत अच्छी बात है, आप कृपा करके बताइय ।

बाबाजी कहन लगे कि-"भाई ! तुम तीन काम करते रहो तो तुम्हारी मुक्ति हो जावेगा, वे तीन काम यह हैं-एक तो गऊ का गोबर थाप दिया करो दूसरा काम-तमाखू को कूटकर मरे को भर दिया करो, और तीसरा काम-गऊ के बछड़े हरी हरी घास जंगल म से खोद लाया करो, इन तीन कामों के करने स तुम्हारा मोक्ष हो जावेगा'। तब वह पुरुष इस बात को सुनकर उस बाबा का चेला होकर उसी मन्दिर में रहने लगा और य तीन काम करने लगा। बहुत दिन व्यतीत होने पर वह अपने मन में विचार करने लगा कि-' य काम तो हम अपने घर पर भी करते थे जो इनसे कल्याण होता तो वहीं होजाता ! महाराज ने कहा है मो कुछ समझ के ही कहा होगा।" इस प्रकार विचार

करता ही रहा।

फिर एकदिन वह बाबा गैया के वास्ते किसी तालाव के किनारे घास खोद रहा था, उस समय उसी तालाव पर कोई परमहंस महात्मा विचरते हुए चले आये। उन्होंने वहा स्नान किया, तव वह पुरुष उन महात्मा की तरफ देख रहा था। स्नान करके वे महात्मा उसी तालाव के किनारे आसन लगा कर बैठ गये और गीता का पाठ करने लगे। जब वे पाठ कर चुके, तब वह मनुष्य उनके पास जा के 'जय सीताराम', कहता हुआ, वन्दना पूर्वक उनके समीप बैठ गया।

फिर वे महात्मा उससे पूछने लगे कि-'तुम कौन हो?' उसने कहा कि- महाराज मैं भी साधू हू' तव उन्होंने कहा कि-'बहुत अच्छी बात है'। वह मनुष्य कहने लगा कि- 'महाराज! मैं आपसे एक बात पूछता हूँ, सो आप कृपा करके बताइये"। महात्मा ने कहा-'बहुत अच्छा आप पूछिये' तव वह कहने लगा कि-"महाराज, मेरे गुरु ने तीन काम मेरे को बताये हैं, और यह कहा है कि-इनको तुम करते रहो, तुम्हारा मोक्ष हो जावेगा। वे काम ये हैं-(१) गऊ का गोबर थापना (२) तमाखू को कूट कर, भर २ के देना, और (३) गऊ के वास्ते हरी २ घास खोद लाना। इन कामों के करने से मोक्ष होता है? या-क्या? सो आप बताइये"।

तव वे महात्मा कहने लगे—

'हे सज्जन, इन कामों के करने से तो मोक्ष नहीं होता है, परन्तु

इनका अर्थ समझने से मोक्ष होता है, तुम्हारे गुरु ने ठीक बातें बतलाई परन्तु—तुमने इनका अर्थ नहीं समझा।" तब वह कहने लगा कि—'महाराज! कृपा करके अर्थ बताइये'। इस पर वे महात्मा बोले कि—'गोबर थापन का अर्थ यह है, कि—'गो' नाम इंद्रियों का और 'थापना' से तात्पर्य खोटे विषयों से रोकने का है ऐसे ही 'वर' नाम श्रेष्ठ का है। वही पुरुष श्रेष्ठ है—जिसने अपनी इन्द्रियों को दुष्ट विषयों से रोका है। तमाखू 'कूटने' और 'फूंकने' का अर्थ तमा अर्थात्—तम (लोभ और आलस्य आदि) का कूट कूट के फूंक देना ही तमाखू कूट कूट २ कर भर देना है। तीसरे। काम—जो हरी २ घास खोद लाने का है इसका अर्थ यह है कि—जब तू खोटे विषयों से मन और इंद्रियों को रोकेगा और लोभ आलस्य काम, क्रोध आदि सबों को कूट २ के फूंक देगा तब 'हरि' अर्थात्-विष्णु भगवान् को खोजने से ही तेरा मोक्ष होगा।"

इस प्रकार से उन कामों के अर्थ को समझ के वह जाकर मुरली खोद के मंदिर में आकर बैठ गया और माला हाथ में लेकर ठाकुर जी का भजन करने लगा जब गुरु जी उसे पुकार कर कहने लगे, अरे! जानकीदास पहला अमुक—काम नहीं किया? तो वह बोला कि— महाराज आज तो मैं सब कामों के अर्थ को समझ गया हूं, अब पहिले जैसे काम करने से क्या प्रयोजन है? यह सुन गुरुजी कहने लगे—

अरे, जानकीदास! काम तेरे को कोई पोटीकट तो नहीं

मिला ?" यह गुरु-चेले का दृष्टांत है। दार्ष्टीन्त यह है-कि जबतक उन कामों का अर्थ जानकीदास ने नहीं समझा था, तब तक गोवर को थापा, तमाकू को कूटा और घास को भी खोदता रहा। जिस समय उनके अर्थ को जान लिया, तो सर्व कामो से निवृत्त होगयो और आनन्द को प्राप्त हुआ। तैसे ही-जब तक तू किसी क्रिया से आत्मा को सुख की प्राप्ति चाहता है, तब तक तेरे को सुख की प्राप्ति कदापि नहीं होगी। क्योंकि कर्म और उन के फल को वेद ने दुःखरूपी कहा है, इस से भी जाना जाता है कि-कर्म और उन के फल दुःख रूपही हैं। प्रत्यक्ष में भी यही देखने मे आता है कि-विना संतोषके जो पुरुष नाना प्रकार के लौकिक कार्य आरंभ करता है, उसको देख के लोग कहते हैं-यह तो बहुत दुःखी है। और जो पुरुप सर्व कार्यों को त्याग, विवेक पूर्वक एकान्त देश में रहता है, उसे देख कर लोग कहते हैं कि-'यह पुरुष आनन्द में है'। कहीं ऐसा लिखा भी है—

दोहा-नहीं देव नर तास सम, जो नर वसै एकान्त।
भोगों की नहिं वासना, मन हुवा ब्रह्म में शान्त॥
कर्ता क्रिया कर्म का, टूट गयाऽहंकार।
तास समान न और सुख, सब कहते संत पुकार॥

हे शिष्य! जैसे उस महात्मा ने उस वावा को उन कर्मों का गूढ अर्थ समझाया, तब अर्थ समझने पर वावा को आनन्द

इनका अर्थ समझने मे मोक्ष होता है, तुम्हारे गुरु न ठीक बातें बतलाई परन्तु–तुमन इनका अर्थ नहीं समझा ।" तब वह कहने लगा कि–'महाराज ! कृपा करके अर्थ बताइये' । इस पर स वे महात्मा बोले कि–' गोबर थापन का अर्थ यह है, कि–'गो' नाम इंद्रियों को और 'थापना' स तात्पर्य खोटे विषयों से रोकने का है एसे ही वर' नाम मेरु का है। वही पुरुष मेरु है–जिसने अपनी इन्द्रियों को दुष्ट विषयों से रोका है । तमाखू 'कूटने' और 'फूंकने' का अर्थ यथा अर्थात्–वाम (लाभ और लालच आदि) को कूट कूट के फूंक देना ही तमाखू कूट कूट २ कर भर देना है । तीसरा काम–जो हरी २ घास खोद लाने का है इसका अर्थ यह है कि–जब तू खोटे विषयों स मन और इंद्रियों को रोकेगा और लोभ, लालच काम, क्रोध आदि सब को कूट २ के फूंक देगा, तब हरि' अर्थात्–विष्णु भगवान को खोजने से ही तेरा मोक्ष होगा ।"

इस प्रकार स उन कामो के अर्थ को समझ के वह जानकी सुरूपी खोज के मंदिर में जाकर बैठ गया और माला हाथ में लेकर ठाकुर जी का भजन करने लगा जब गुरु जी बस पुकार कर कहने लगे, अरे ! जानकीदास पहमना अमुका–काम नहीं किया' ? तो वह बोला कि– 'महाराज आज तो मैं सब कामों के अर्थ को समझ गया हूं अब पहिले कैसे काम करने से क्या प्रयोजन है ?' यह सुन गुरुजी कहते हैं —

"अरे, जानकीदास ! आज तेरे को कोई पोटीकट तो नहीं

मिला ?' यह गुरु--चेले का दृष्टात है। दार्ष्टान्त यह है--कि जबतक उन कामों का अर्थ जानकीदास ने नहीं समझा था, तब तक गोबर को थापा, तमाखू को कूटा और घास को भी खोदता रहा। जिस समय उनके अर्थ को जान लिया, तो सर्व कामों से निवृत्त होगयो और आनन्द को प्राप्त हुआ। तैसे ही—जब तक तू किसी क्रिया से आत्मा को सुख की प्राप्ति चाहता है, तब तक तेरे को सुख की प्राप्ति कदापि नहीं होगी। क्योंकि कर्म और उन के फल को वेद ने दुःखरूपी कहा है, इस से भी जाना जाता है कि—कर्म और उन के फल दुःख रूपही हैं। प्रत्यक्ष में भी यही देखने में आता है कि—बिना संतोषके जो पुरुष नाना प्रकार के लौकिक कार्य आरंभ करता है, उसको देख के लोग कहते हैं—यह तो बहुत दुःखी है। और जो पुरुष सर्व कार्यों को त्याग, विवेक पूर्वक एकान्त देश में रहता है, उसे देख कर लोग कहते हैं कि—'यह पुरुष आनन्द में है'। कहीं ऐसा लिखा भी है—

दोहा—नहीं देव नर तास सम, जो नर बसै एकान्त।
भोगों की नहिं वासना, मन हुवा ब्रह्म में शान्त॥
कर्ता क्रिया कर्म का, टूट गयाऽहंकार।
तास समान न और सुख, सब कहते संत पुकार॥

हे शिष्य! जैसे उस महात्मा ने उस बाबा को उन कर्मों का गूढ अर्थ समझाया, तब अर्थ समझने पर बाबा को आनन्द

प्राप्त हुआ, तैसे ही तू मा वेद के गूढ़-अर्थ को समझ । वेद का गूढ़ अर्थ यह है कि- कर्म के करने से कर्म का नाश होता है'-इस वास्ते कर्म का कथन वेद में किया है 'किसी क्रिया अन्य कर्म से आत्मा की प्राप्ति होती है'-ऐसा वेद ने कथन नहीं किया । क्योंकि आत्मा तो नित्यही प्राप्त है, नित्य-प्राप्त वस्तुकी किसी क्रिया से प्राप्ति होती नहीं, जैसे कोई पुरुष कहे कि-'मेरे को आकाश की प्राप्ति किस क्रिया से होगी'? तब सुननेवाला उसे कहता है- 'अरे, मूर्ख। कहीं क्रिया से आकाश की प्राप्ति होती है? आकाश तो नित्य ही प्राप्त है, इसकी प्राप्ति क्या होगी, ऐसी इच्छा करना ही मूर्खता का चिन्ह है" । इस प्रकार की बात सुनके साधारण मनुष्य भी ऐसा बकझक करते हैं, तो विद्वान् लोग क्या कहेंगे?

आकाश की किसी क्रिया से प्राप्ति नहीं बनती । आकाश भी चेतन-आत्मा में सुमेरु-पर्वत के तुल्य है, सूक्ष्म से सूक्ष्म सर्व जीवों के अन्दर और बाहर जो व्याप रहा है-ऐसा परिपूर्ण-आत्मा कैसा है? वह सर्व विशेषों से रहित और सदा शुद्ध रूप है; इसमें कुछ भी संदेह की बात नहीं है कि- आत्मा स्वयं आनंद स्वरूप है । उसका किसी क्रिया से आनंद की प्राप्ति कहना सर्वथा असंभव है

जैसे-जल में जो लहरें होती हैं वे पूछें कि-'जल किस क्रिया से हम को मिलेगा ? और वस्त्र पूछे कि-'मेरे को सूत किस क्रिया से मिलेगा इसी प्रकार भूषण कहे कि-'स्वर्ण कहां और किस

क्रिया से मिलेगा'। ऐसे प्रश्न पूछने वाले की केवल मूर्खता सिद्ध होती है, तैसे ही तुम कहते हो कि–'किसी क्रिया से आत्मा को सुख की प्राप्ति होगी' सो यह तुम्हारा कहना भी उन लहरों आदि के प्रश्न करने के तुल्य है। वे तो जड पदार्थ हैं, परन्तु–तू बुद्धिमान् मनुष्य होकर ऐसी वात क्यों करता है ?

वास्तव में 'सच्चिदान्द–स्वरूप' जो तूही है–तो फिर किस क्रिया से सुख की प्राप्ति चाहता है ? तू केवल अपनी भूल से ही दुख को प्राप्त होता है। जैसे कोई वनिया अपने घर को भूल के सारे वाजार मे फिरा और दुख पाया, तैसे ही तू अपने को नहीं जान के नाना प्रकार की क्रिया–जन्य' क्लेशों को प्राप्त हो रहा है, इसी पर तेरे को एक—

(८)

"बनिक, अफीम, घर–विस्मरण न्याय"

सुनाते हैं, सो तू चित्त लगा कर सुन—एक बनिये की दुकान बाजार में थी और उसका घर जरा फासले पर था। एक दिन ऐसा हुवा कि–रात्रि के समय जव कुछ वर्षा हो रही थी तव सर्दी की वजह से उस बनिये ने कुछ अफीम खालिया। वैसी दशा में वह वनिया दुकान से घर को चला। रास्ते में किसी जगह पेशाव करने वैठ गया, तव अफीम के नशे में उसकी आख लग गई। कुछ देर बाद उसकी आख खुली–तो वह अपने मन में

प्राप्त हुआ, वैसे ही तू भी पद के गूढ़–मर्म को समझ। वेद का गूढ़ मर्म यह है कि– कर्म के करने से कर्म का नाश होता है'–इस वास्ते कर्म का कथन वेद में किया है 'किसी क्रिया जन्य कर्म से आत्मा की प्राप्ति होती है'–ऐसा वेद ने कथन नहीं किया। क्योंकि आत्मा तो नित्यही प्राप्त है, नित्य–प्राप्त वस्तुकी किसी क्रिया से प्राप्ति होती नहीं, जैसे कोई पुरुष कहे कि– मेरे को आकाश की प्राप्ति किस क्रिया से होगा'? तब सुनने वाला उसे कहता है– 'अरे, मूर्ख! कहाँ क्रिया से आकाश की प्राप्ति होती है? आकाश तो नित्य ही प्राप्त है, इसकी प्राप्ति क्या होगी, ऐसी इच्छा करना ही मूर्खता का चिन्ह है"। इस प्रकार का भाव सुनके साधारण मनुष्य भी ऐसा उलहना देते हैं, तो विद्वान् लोग क्या कहेंगे?

आकाश की किसी क्रिया से प्राप्ति नहीं बनती। आकाश में चेतन–आत्मा में सुमेरु–पर्वत के तुल्य है, सूक्ष्म से सूक्ष्म सर्व जीवों के अन्दर और बाहर जो व्याप रहा है–ऐसा परिपूर्ण–आत्मा कैसा है? वह सर्व विक्षेपों से रहित और सदा मुक्त रूप है, इसमें कुछ भी संदेह की बात नहीं है कि– आत्मा स्वयं आनन्द स्वरूप है। उसको किसी क्रिया से आनन्द की प्राप्ति कहना सर्वथा असम्भव है।

जैसे–जल में जो लहरें होती हैं वे पूछें कि–'जल किस क्रिया से हम को मिलेगा'? और वस्त्र पूछे कि–'मेरे को सूत किस क्रिया से मिलेगा' इसी प्रकार मूर्ख कहे कि– स्वर्ग कहाँ और किस

की क्रिया से घट की प्राप्ति है और पुरुषों को दन्ड आदिकों के प्रहाररूप-क्रिया करने से सर्प आदिकों का नाश रूप फल की प्राप्ति होती है, इसी प्रकार पंडाई* पुरुष को चलनरूप-क्रिया से ग्राम आदि की प्राप्तिरूप फल होता है, और रसोई करनेवाले को पाक-क्रिया से नाना प्रकार के पदार्थों का विकाररूप फल होता है, और संस्काररूप-क्रिया से मल की निवृत्ति और गुण की प्राप्ति रूप फल होता है।

ऐसे क्रियाजन्य-कर्म से ये फल होते हैं, परन्तु-आत्मा तो इन क्रियाओं में से किसी भी क्रिया का फल नहीं है, क्योंकि-जो आत्मा पूर्व में नहीं हो तो 'उत्पाद्यरूप-क्रिया' से होना सम्भव हो सकता है, परन्तु-आत्मातो 'अज' है, इसी से आत्मा का नाश भी नहीं होता है, क्योंकि जिसका जन्म होता है उसी का नाश होता है, जैसे-घट, पट आदि। यदि, आत्मा किसी एक देश में हो तो गमनरूप-क्रिया से प्राप्त होवे, परन्तु-आत्मा को तो वेद ने 'सर्वव्यापी' कहा है। आत्मा 'सावयव' हो तो 'विकाररूप-क्रिया' का फल होवे, परन्तु-आत्मा को तो श्रुति ने 'निरवयव' कहा है। ऐसे ही आत्मा में 'मैल' हो तो मैल की 'निवृत्तिरूप-क्रिया' का फल होवे, परन्तु-आत्मा को वेद ने 'निर्मल' कहा है। गुण की 'प्राप्तिरूप-क्रिया' का फल भी तभी हो सकता है; जब

---

*(१) पत्रवाहक।

विचार करता है कि—'हम घर को चले थे सो घर तो अब तक आया ही नहीं'। वह वहाँ से उठ के आगे चला और भयभीत होगया। फिर अपने घर की आँख उसको नहीं रही। तब जिसका घर आवे उसीको अपना घर समझके वह दरवाजे के किवाड़ खोलने लगा। वे घर वाले कहने लगे—'अरे कौन है!' तब वह बनिया वहाँ से भग गा। इस ही और भी अनेक गृहों में जा-जा के मारखाता रहा—आखिर दैवयोग से उसी का घर आगया। वहाँ सेठानी रास्ता देखती रही थी। तब सेठजी गर्म पानी से पैर धोके रसोई जीमे और पलंग पर विराजे गये। फिर हुक्का गुड़गुड़ाने लगे। तब कहते हैं कि— सुख तो अपने ही घर में है क्योंकि—जब तक मैं अपने घर को प्राप्त नहीं हुवा, तब तक दूसरे गृहों में जा २ के अनेक प्रकार के तिरस्कार—अन्य—दुःख को प्राप्त हुवा। अब अपने गृह में आया तभी मुझको सुख प्राप्त हुवा"।

वैसे ही तू अपने सच्चित् आनन्द—स्वरूप को भूल के किसी क्रिया से सुख की प्राप्ति चाहता है। यह इच्छा अपने स्वरूप के अज्ञान से ही हुई है—सो स्वरूप के ज्ञान से ही दूर होगी। वह स्वरूप कैसा है? 'नित्यही प्राप्त है' ऐसा समझनाही 'नित्य प्राप्त की प्राप्ति है,' और किसी क्रिया से प्राप्त की प्राप्ति किसी से भी नहीं कही है। और जो किसी क्रिया से प्राप्ति कही है—सो तो, अनात्म-पदार्थ की ही प्राप्ति होती है, जैसे—कुम्हार

की क्रिया से घट की प्राप्ति है और पुरुषों को दन्ड आदिकों के प्रहाररूप–क्रिया करने से सर्प आदिकों का नाश रूप फल की प्राप्ति होती है, इसी प्रकार पंडाई* पुरुष को चलनरूप–क्रिया से ग्राम आदि की प्राप्तिरूप फल होता है, और रसोई करनेवाले को पाक–क्रिया से नाना प्रकार के पदार्थों का विकाररूप फल होता है, और संस्काररूप–क्रिया से मल की निवृत्ति और गुण की प्राप्ति रूप फल होता है।

ऐसे क्रियाजन्य–कर्म से ये फल होते हैं, परन्तु–आत्मा तो इन क्रियाओं में से किसी भी क्रिया का फल नहीं है, क्योंकि–जो आत्मा पूर्व में नहीं हो तो 'उत्पाद्यरूप–क्रिया' से होना सम्भव हो सकता है, परन्तु–आत्मातो 'अज' है, इसी से आत्मा का नाश भी नहीं होता है, क्योंकि जिसका जन्म होता है उसी का नाश होता है, जैसे–घट, पट आदि। यदि, आत्मा किसी एक देश मे हो तो गमनरूप–क्रिया से प्राप्त होवे, परन्तु–आत्मा को तो वेद ने 'सर्वव्यापी' कहा है। आत्मा 'सावयव' हो तो 'विकाररूप-क्रिया' का फल होवे, परन्तु–आत्मा को तो श्रुति ने 'निरवयव' कहा है। ऐसे ही आत्मा में 'मैल' हो तो मैल की 'निवृत्तिरूप–क्रिया' का फल होवे, परन्तु–आत्मा को वेद ने 'निर्मल' कहा है। गुण की 'प्राप्तिरूप–क्रिया' का फल भी तभी हो सकता है, जब

*(१) पत्रवाहक।

गुणादि-पदार्थ आत्मा से जुदे हों वास्तव में गुणादिक आत्मा में कल्पित होने से आत्मा के स्वरूप ही हैं, जैसे-शुक्ती में जो रजत कल्पित होता है; सो शुक्ती का स्वरूप ही है, इसी से आत्मा को वेद ने 'निर्गुण' कहा है। श्रुति इस प्रकार कहती है —

एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढ़ः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ॥
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

हे शिष्य ! प्रथम तैने कहा था कि- मैं सुख की प्राप्ति और दु:ख की निवृत्ति चाहता हूँ" सो तेरा कहना तभी बन सकता है, जब आत्मा में दु:ख हो और सुख नहीं हो ! वास्तव में-आत्मा सदा ही सुख-रूप है और सुखादिक आत्मा के गुण और धर्म नहीं हैं किन्तु-आत्मा के स्वरूप ही हैं। इसी से-किसी भी क्रिया की जरूरत नहीं है। इस रीति से पूर्व जो अनेक प्रकार के दृष्टान्त, प्रमाण, युक्ति और न्याय कहे हैं-सो केवल आत्मा को 'सुखरूप और 'स्वयंप्रकाश-रूप' जानने के वास्ते कहे हैं। ऐसा सुखरूप और स्वयं-प्रकाश-आत्मा' तू ही है।

(२)

॥ अथ सत्संग रत्न ॥

(शिष्य पूर्व सुने अर्थ को अपना दृढ़ निश्चय करने के वास्ते

पूछता है .–) 'हे भगवन् ! आपने अनेक प्रकार के दृष्टान्त और सिद्धान्त कहके आत्मा को सर्व गुण और धर्मों से रहित, सुख-रूप, कथन किया, इसी से क्रिया का निषेध किया और स्वयम्-प्रकाश होने से सर्व वृत्तियों का भी निषेध किया है।

इस रीति से–आत्मा को 'सुख-रूप' और स्वयंप्रकाश' कथन किया, सो मैंने भली प्रकार से जाना, और आपने कहा कि–'वह आत्मा तू ही है'–इस बात को मैं कैसे निश्चय करूं कि–मैं ही सुख रूप और स्वयंप्रकाश हूँ ? और 'प्राप्त-वस्तु' की प्राप्ति में किसी भी क्रिया को कथन नहीं किया , किन्तु–कहा कि 'उसका ज्ञान होना ही प्राप्ति है'–इस प्रकार जो आपने कहा; उस पर से मैं जानना चाहता हूँ कि– 'उसका ज्ञात होना कैसे संभव है ? सो आप कृपा करके बताइये'।

श्रीगुरुरुवाच– 'हे शिष्य ! यह बात तो हमने पूर्व भी कही थी कि–जब तू सत्-शास्त्र और सत्संग-रूपी दरवाजा में दाखिल होगा–तब तेरे "अहं ब्रह्मास्मि" ऐसी चोट लगेगी, ओर वैसी दशा में तू बच्चे की तरह चिल्लावेगा"। यह सुन शिष्य **बोला** "हे भगवन् ! मेरी बुद्धि अल्प है, मैं थोड़े में नहीं समझ सकता हूँ।आप विशेष प्रकार से समझाइये–सत्-संग किस को कहते हैं ? सत् शास्त्र कौन से हैं ? सत्-संग का कारण और स्वरूप क्या है ? उसका फल किस प्रकार होता है ? उसकी अवधि क्या

गुणादि-पदार्थ आत्मा से जुदे हों वास्तव में गुणादिक आत्मा में कल्पित होने से आत्मा के स्वरूप ही हैं, जैसे-जुण्डे में जो रजत कल्पित होता है, सो जुण्डे का स्वरूप ही है, इसी से आत्मा को वेद ने 'निर्गुण' कहा है। श्रुति इस प्रकार कहती है —

एकोदेव सर्वभूतेषु गूढ
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ॥
कर्माध्यक्ष सर्वभूताधिवास
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

हे शिष्य ! प्रथम तैने कहा था कि- मैं सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति चाहता हूँ" सो तेरा कहना तभी बन सकता है, जब आत्मा में दुःख हो और सुख नहीं हो। वास्तव में-आत्मा सदा ही सुख-रूप है और सुखादिक आत्मा के गुण और धर्म नहीं है किन्तु-आत्मा के स्वरूप ही हैं। इसी से-किसी भी क्रिया की जरूरत नहीं है। इस रीति से पूर्व जो अनेक प्रकार के दृष्टान्त, प्रमाण, युक्ति और न्याय कहे हैं-सो केवल आत्मा को 'सुखरूप और 'स्वयंप्रकाश-रूप' जानने के वास्ते कहे हैं। ऐसा सुखरूप और स्वयं-प्रकाश-आत्मा' तू ही है।

(२)

॥ अथ सत्संग रत्न ॥

(शिष्य पूर्व सुन अर्थ को अपना दृढ़ निश्चय करने के वास्ते

अन्धे हाथ लगाय २ के ठाकुरजी का स्पर्श करने लगे। एक का हाथ अंगुली के लगा, दूसरे का पजे के लगा, तीसरे का पैरो के लगा, चौथे का धड़के लगा, और पाँचवें का सिर के लगा। इस रीति से जिसका जहां २ हाथ लगा था, उसने वैसा ही ठाकुरजी का स्वरूप निश्चय किया, और काणे ने तो जैसा ठाकुरजी का स्वरूप था वैसा ही जान लिया।

जब वे इस प्रकार दर्शन करके मन्दिर से बाहर आये तब आपस में कहने लगे कि—भाई ! ठाकुरजी का कैसा स्वरुप था? एक ने तो अंगुली जैसा ही बताया, दूसरे ने पंजे जैसा बताया, तीसरे ने डडे जैसा बताया, चौथे ने सारंगी जैसा बताया और पाँचवें ने गोले जैसा बताया। वे इस प्रकार आपस में एक दूसरे के विरुद्ध बकने लगे, तब उनके परस्पर विवाद होगया। उस समय छटा जो काणा था उनकी बातें सुन २ के हंसता रहा, क्योंकि—वे पाचों ही वृथा बकते थे।

ऐसे ही ये जो पांच शास्त्र हैं सो अंधों के समान हैं छटा जो वेदान्त है, सो काणे के समान है। क्योंकि—जैसे काणे को ठाकुरजी का यथार्थ ज्ञान था, और वे अधे किसी एक अङ्ग को ही ठाकुरजी कहते थे। तैसे ही पाचों शास्त्र हैं। कोई तो अन्नमय कोष—जो यह स्थूल शरीर है—उसी को आत्मा कहते हैं, और कोई प्राणमय को कोई मनोमय को कोई विज्ञानमय को और कोई

है ? और जिस शास्त्र को आप सत् कहते हो उसमें सत्पना क्या है ? क्योंकि—'आत्मा से भिन्न कोई भी अनात्म–वस्तु सत् नहीं है'—ऐसा जो आपने कहा था उस पर से ये शंकाएँ उत्पन्न हुई हैं'।

गुरु कहते हैं "हे शिष्य ! यद्यपि आत्मा से भिन्न कोई भी 'अनात्म–वस्तु' सत्य नहीं है, तथापि–सत्यता दो प्रकार की होती है, एक तो 'व्यावहारिक सत्यता' और दूसरा 'पारमार्थिक सत्यता'। पारमार्थिक सत्यता तो वेद में नहीं है, परन्तु–व्यावहारिक सत्यता वेद में है, जैसे–सत्य वचन कहने वाले को सत्यवादी कहते हैं, वैसे ही सत्वस्तु–प्रति पादन करने वाला वेदान्त शास्त्र है; इसस उसको सत् कहा है, और वेदान्त शास्त्र स भिन्न जो पाँच–'न्याय, वैशेषिक आदिक' शास्त्र हैं सो द्रव्य गुण, प्रमाण प्रमेय आदिक–अनात्म पदार्थों का ही कथन करते हैं इसी से वे 'सत्य' नहीं कहे जाते हैं। जैसे–कोई छे पुरुष किसी मन्दिर में दर्शन करने को गये थे उसमें पाँच तो अंधे थे और एक काणा था, वे नीचे लिखे अनुसार दर्शन करने लगे —

१

"अन्धे, ठाकुर, न्याय"

अन्धों ने कहा कि—पुजारी जी ! हमको नेत्र से दिखता नहीं है इसलिये ठाकुरजी का हमारे हाथ से स्पर्श करावें'। तब पुजारी ने बता दिया कि—'य ठाकुरजी हैं'। वे पाँचों

अन्धे हाथ लगाय २ के ठाकुरजी का स्पर्श करने लगे। एक का हाथ अंगुली के लगा, दूसरे का पंजे के लगा, तीसरे का पैरों के लगा, चौथे का धड़के लगा, और पाँचवें का सिर के लगा। इस रीति से जिसका जहां २ हाथ लगा था, उसने वैसा ही ठाकुरजी का स्वरूप निश्चय किया, और काणे ने तो जैसा ठाकुरजी का स्वरूप था वैसा ही जान लिया।

जब वे इस प्रकार दर्शन करके मन्दिर से बाहर आये तब आपस में कहने लगे कि—भाई! ठाकुरजी का कैसा स्वरूप था? एक ने तो अंगुली जैसा ही बताया, दूसरे ने पंजे जैसा बताया, तीसरे ने डंडे जैसा बताया, चौथे ने सारंगी जैसा बताया और पाँचवें ने गोले जैसा बताया। वे इस प्रकार आपस में एक दूसरे के विरुद्ध बकने लगे, तब उनके परस्पर विवाद होगया। उस समय छटा जो काणा था उनकी बातें सुन २ के हंसता रहा, क्योंकि—वे पाचों ही वृथा बकते थे।

ऐसे ही ये जो पाच शास्त्र हैं सो अंधो के समान है छटा जो वेदान्त है, सो काणे के समान है। क्योंकि—जैसे काणे को ठाकुरजी का यथार्थ ज्ञान था, और वे अंधे किसी एक अङ्ग को ही ठाकुरजी कहते थे। तैसे ही पाचों शास्त्र हैं। कोई तो अन्नमय कोष—जो यह स्थूल शरीर है—उसी को आत्मा कहते हैं, और कोई प्राणमय को कोई मनोमय को कोई विज्ञानमय को और कोई

आनन्दमय कोष को ही आत्मा कहते हैं ।

(इस प्रकार तीन शरीर और उनमें जो पंचकोष हैं) वे किसी एक अनात्म-पदार्थ में आत्म-बुद्धि करके नाना प्रकार के विवादों से उन अंधों की तरह क्लेश को ही प्राप्त होते हैं । जैसे- कोण्ण ठाकुरजी के यथार्थ स्वरुप को जानता है, सो उन अंधों की बात को सुनके हंसता है । वैसे ही अन्नमय आदि कोष को आत्मा मानकर अन्यथा कहते हुवे सुन के हंसी आती है ।

और जैसा आत्मा का स्वरुप है वैसा ही 'सत्‌चित्, आनन्द-स्वरूप'से जो शास्त्र कथन करता है;वही उसमें 'सत्‌पना' है । इसी प्रकार जो पुरुष 'सत्-वचन' बोलने वाला होता है; उसको बात सुनके संशय दूर हो जाता है । तैसे ही आत्म-वस्तु में जो कुछ भी संशय हो, वह 'वेदान्त-शास्त्र' के बारम्बार श्रवण करने से निवृत्त हो जाता है और जो नित्य-प्राप्त आत्मा है उसकी 'स्मृति' हो जाती है, उसी को 'ज्ञान' कहते हैं, इसी से वेदान्त-शास्त्र को 'सत्' कहा है । परन्तु-उसको 'कणा' भी कहते हैं,क्योंकि केवल वेदान्त के पढ़ने से 'परोक्ष-ज्ञान' होता है परन्तु-जब 'गुरु-मुख' से वेदान्त के अर्थ का श्रवण' होता है-तब दोनों से ही आत्मा का 'अपरोक्ष-ज्ञान हो सकता है । इस प्रकार "दूसरा-नेत्र गुरु है" । और जो तू यह बात कहे-'गुरु किस को कहते हैं ? तो सुन—

॥ दोहा ॥

वेद शास्त्र में कुशल है आतम ब्रह्म स्वरूप ।
आंख तले आने नहीं चहे होय भूप का भूप ॥
एक अखंडित आत्मा, करे यही उपदेश ।
देश काल अरु वस्तु का, जामें नाहीं लेश ॥

अर्थ स्पष्ट है, परन्तु—भाव यह है कि—"वेद शास्त्र के जानने में चतुर हो, और आत्मा को ब्रह्मरूप करके जानने वाला और निस्पृही हो, चाहे कोई राजाओं का भी राजा हो—तो भी उसे नेत्र के नीचे नही लावे, जिज्ञासु—जनों को यही उपदेश करे कि—तू चेतन आत्मा एक है, अखंड है और देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से रहित है। इस प्रकार जिज्ञासु—पुरुषों की बुद्धि में नाना प्रकार के जो भेद—रूपी पक्षी बैठे हों, उनको ज्ञान-रूपी ताली बजा कर के तत्काल उड़ा देवे और सत्मार्ग में चलावे सो "सद्गुरु" कहलाता है।

ऐसे सत्-पुरुषों का संग और 'सत्-शास्त्र का विचार' जो नित्य प्रति करते हैं उनके कल्याण होने में क्या संशय है? वे तो सदा ही कल्याण रूप हैं, आप स्वत संसार—समुद्र से तरते हैं और दूसरों को भी तार देते हैं। जैसे नौका आप तरती है और अन्य को तार देती है। ऐसे "सत्शास्त्र के, विचार, और ऐसे महा-पुरुषों के संग ही का नाम सतसङ्ग है"। सत्संग के कारण

आस्तिक के संबंध में जो प्रश्न किया है, उसका उत्तर तू मन श्रवण कर—

जब मनुष्य को किसी पूर्व-जन्म के शुभ-कर्म भोग देने के अर्थ सम्मुख होते हैं, तब उसके अन्तःकरण में 'शुभ-वासना' उत्पन्न होती है। उस वासना के अनुसार जो 'पुरुषार्थ' किया जाता है वही पुरुषार्थ 'सत्संग का कारण' होता है, और सत् शास्त्र और सत्पुरुषों के वचनों में चित्त की स्थिति होना 'सत्संग का स्वरूप' है, ('तत्कथनं तच्चिन्तनं तत्परस्पर-बोधनम्" अर्थात्—बारम्बार उसी सत्-वस्तु का कथन करना, उसी का चिन्तन करना और उसी को परस्पर विचार करके अधिकाधिक आनन्द यही 'सत्संग का स्वरूप' है)। निष्काम-कर्म से लेकर मोक्ष पर्यंत जो 'साधन—साध्य—पदार्थ' प्राप्त होते हैं, वो 'सत्संग का फल' है। और 'सत्संग की अवधि' तो कुछ है नहीं, परन्तु जबतक कण्ठ में प्राण रहे, वहाँ तक; अथवा—'विदेह मोक्ष' पर्यन्त सत्संग अवश्य ही करना चाहिये, फिर आपही अवधि हो जायेगी यही उसकी अवधि है।

जब इस प्रकार कारण को स्वरूप को और उसके फल तथा अवधि को जानकर निष्यप्रति सत्संग करेगा; तब दीर्घ काल के अभ्यास से उस 'सत्-वस्तु' का ज्ञान तेरे को होगा। क्योंकि-सत्-पुरुषों में और सत्शास्त्र में यही सत्पना है कि—अपने

सहित जितना स्थूल और सूक्ष्म पसारा है उसको मिथ्या करके जनाते हैं, और जो चेतन–आत्मा है, उसे सत्‌रूप करके कथन करते हैं, यह सत्यवादीपना उनमें होने से ही वे 'सत्' कहे जाते हैं।

'सत्‌शास्त्र' के अतिरिक्त अन्यग्रन्थ जो–वस्तु का यथार्थ कथन नहीं करते हैं, सो सभी 'असत्' कहे जाते हैं। तैसे ही जो सत् का उपदेश करने वाला 'गुरु' है, उससे भिन्न जो कण्ठी माला के बाँधने वाले, और कान में फूक मारने तथा मंत्र यंत्र के सुनाने वाले और चोटी काट के गेरुए कपड़े रंगने आदि नाना प्रकार के चिन्हों वाले हैं –सो सब "असत् गुरु" कहे जाते हैं। उनका संग करने से जीव इस संसार–समुद्र में तिर नहीं सकते, क्योंकि–काठ के संग में लोहा तिर जाता है, परन्तु–लोहे के संग लोहा नहीं तिरता। इसी प्रकार से वे तो आपही काम, क्रोध, लोभ, मोह–रूप लोहे समान भार को प्राप्त हो रहे हैं, दूसरे को कैसे तिरावेंगे? इससे जो पुरुष ऐसे गुरु का संग करेगा सो–

(२)

"कुत्ता कान फड़क थूक न्याय"

को कैसे? प्राप्त होगा सो दिखाते हैं–एक गृहस्थी ऐसा था कि–अपने हाथोंसे कुछ काम उसने नहीं किया; और उसके भाई

पिता आदि जो कमाई करके उसका पालन पोषण करते थे सो दैवयोग से हैजे की बीमारी चलने से सारे मर गये। तब उस पुरुष ने अपने मन में विचार किया कि–'कमाई तो हाथ नहीं, और खाने को दोनों वक्त चाहिये, इसलिये कोई ऐसा हुनर–धंधा करना चाहिये कि–जिससे तकलीफ नहीं होवे, और खाने पीने का काम चल जाय'।

उसने सब कामों को अपने मन में विचारा तो सभी में उसको तकलीफ दिखाई दी परन्तु–'माँगना' उसको सुगम मालूम हुआ। तब बाबा का स्वांग बना कर नजदीक के ग्रामों में जा के माँग खाने लगा। फिर लोगों में जान पहिचान भी हो गई तब तो गांजा गोष्ठी भी करने लगा और चेली चेला भी बहुत से हो गये। कुछ चेले कहने लगे कि–महाराज! आप काहे को तकलीफ उठाते हो? यहीं एक बहुत अच्छा मकान बनवा दिया और महाराज उस में रहने लगे। फिर और भी चेले बहुत से होगये और खूब ही आनन्द के तार बाजने लगे। कोई तो पुत्र की इच्छा करके उनकी सेवा करे और कोई धन की कामना करके सेवा करे इस प्रकार जब गाड़ा गुड़कने लगा–तब उन चेलों में कोई पुरुष परमार्थ के भी जिज्ञासु थे उन्होंने महाराज से पूछा कि– हे भगवन्! इस दुःख-रूप संसार से यह जीव किस प्रकार दुःख हो सकता है? यह बात आप कृपा करके हमारे को

बताइये"। तब वे कहने लगे कि—"भाई! अभी तो तुम्हारी जवान उमर है, बच्चे बच्चियो का विवाह करो, फिर तुमको बता देंगे, अभी क्या जल्दी है"। तब उन चेलों ने काल पाके फिर पूछा कि—'महाराज! अब तो कुछ बताओ, उमर तो बीती जाती है"। तब बाबा ने कहा—"अरे! तुम ऐसी जल्दी काहे को करते हो? बेटो के बहू आनेदो और पोते पोती होने दो।" इस प्रकार वो लपोडशंख वाली बातें करता रहा। अन्त में दैवयोग से उस बाबा का शरीर शान्त होगया, तब कुत्ते की योनि को प्राप्त हुआ। उसके जिज्ञासु चेलों को गुरू से मिलने की कामना थी, वे भी मरके कुत्ते ही हुवे, गुरू जी तो पहिले ही से हाड़ चाबते फिरते थे। वे चेले गुरु जी को मिलकर कहने लगे कि—"महाराज! आप और हम कौन गति को प्राप्त हुवे हैं? अब तो कुछ बताओ।" तब वह कान हिलाके कहता है—"अरे! मैंने तो खाने पीने के लिये स्वाँग बनाया था और मैं कुछ भी नहीं जानता था"। तब वे चेले कहने लगे कि—"धिक्कार हो तेरे को, क्योंकि—तू आप भी डूबा और हमें भी डुबाया"। इसी पर कहते हैं—

॥ दोहा ॥

झूठे गुरु के आसरे, डूबि गये बहु जीव।
सच्चा सत् गुरु सेइये, जासे पावे पीव॥
झूठे गुरुवा मरि गये, हो गये भूत मसान।
सच्चे गुरु से पाइये, सत् वस्तु का ज्ञान॥

अब इस प्रकार 'सत्-गुरु' और 'सत्-शास्त्र' का विचार और महा-पुरुषों का संग करा करता है, तभी यह जीव कल्याण का भागी होता है।

॥ चौपाई ॥

जो तिरि गये तिरगे जेते ।
अब तिरते हैं कहु अरु केते ।
सो सब साधु-सगति सेजानो ।
दूजा और उपाय न मानो ॥

इस में बहुत लिखने की जरूरत नहीं है, जिस किसी के घर की बुद्धि होती है वह थोड़े ही में समझ लेता है और उस के समझने के लिये एक-कुंडलिया, लिखते हैं—

सत-संगति महिमा कही, कीजै यही प्रसाद ।
हम कह्या तुम सुन्या, इसको रखना याद ॥
इसको रखना याद, बाद काहु से न कीजे ।
जो कोइ साधू मिले, सग वाहू का कीजे ॥
कामी कपट लालची, इनसे रहना दूर ।
शुद्धानन्द निज रूप लखि सदा एक भरपूर ॥

हे शिष्य ! तेरे को 'कर्ता-बुद्धि' है इसी से तुझे आत्मा में कर्तव्य भ्रान्ति हो रही है। अब तू और सर्व क्रिया का त्याग

करके एक 'सत्-संग' को ही करेगा, तो उस से तेरी कर्तापने की भ्रान्ति मिट जायगी, और आत्मा को ब्रह्मरूप करके अपने आप ही जानेगा कि—वह कर्ता, क्रिया, कर्म से रहित है।

॥ इति श्रीसत्संग—रत्न, समाप्तम् ॥

(३)

॥ अथ निष्काम रत्न ॥

कर्म कहे हैं वेद में, सुन तिनका विस्तार।
एक निषेध दूजा विधी, सो कहिये चार प्रकार॥
काम्य प्राश्चित नित निमित, करो काम का त्याग।
नित्त निमित्तक कीजिये, फल का तजि के राग॥

अर्थ यह है कि—वेद में जो कर्म का कथन किया है उसका विस्तार यह है—एक तो 'निषिद्ध—कर्म' कहाता है जिसको कभी नहीं करना चाहिये, क्योंकि—वह वेद विरुद्ध है। यदि कोई ऐसा पूछे कि—"निषिद्ध कर्म—कौन से हैं?' तो सुन—

पर स्त्री गमन करना, जुवाँ खेलना, मदिरा—माँस खाना, वेश्या का संग करना, झूठ बोलना, कमती तोलना, इत्यादि सब निषिद्ध ही हैं। इससे ये कर्म कदापि नहीं करना चाहिये।

दूसरे 'विधि—कर्म' हैं सो चार प्रकार के हैं (१) काम्य (२) प्रायश्चित, (३) नित्य और (४) नैमित्तिक। जिज्ञासु

पुरुष 'काम्य–कर्म' और 'निषिद्ध' का त्याग करके, 'नित्य' और 'नैमित्तिक–कर्म' का फल की इच्छा से रहित होकर करे. तब उसे ऐसे कर्म से नित्य–सुख' की प्राप्ति होती है और जो फल की इच्छा रख कर करता है, उसे अनित्य ही फल मिलता है इसी पर तेरे को एक–

'राज मन्दिर मजदूर न्याय'

सुनाते हैं, सो अपने मन को सावधान करके सुन–किसी राजा का एक मकान बनता था उसमें बहुत से मजदूर लग हुए थ। उन मजदूरों में एक ऐसा मजदूर था जो काम तो कर द और मजदूरी चुकाते समय नहीं ल, फिर जब गिनती होवे तब एक मनुष्य ज्यादा निकले और जब मजदूरी चुकावे तब कमती होव। इस प्रकार एक मजदूर की मजदूरी बच जाती थी। सो मजदूरी चुकाने वाला कामदार था सो कहने लगा–'अरे मजदूरो! यह एक मनुष्य की मजदूरी बच जाती है और गिनती पूरी होती है, वह कौन मजदूर है जो मजदूरी नहीं लेता है?' तब फिर जिन मजदूरों क पास में वह रहता था वे कहने लगे कि–हुजूर! वो यह है'। तब कामदार बोला–'अरे! तुम मजदूरी क्यों नहीं लते'? तब वह कहने लगा कि–'काम तो हमारा ही है; मजदूरी किस से लवें? क्योंकि–राजा तो सारी प्रजा का पिता है और प्रजा पुत्र क समान होती है, फिर पुत्र पिता स क्या मजदूरी लेवे?"

ऐसी बातें उस मजदूर की सुन के कामदार ने वह हकीकत राजा की कचहरी मे जाकर कही, और आखिर जब ये सब राजा के कान तक पहुँची तो राजा ने कहा—'उस मजदूर को हमारे पास लाओ'। इस पर से कामदार मजूर को राजा के पास ले गया। तब राजा ने पूछा—'अरे! तुम मजदूरी क्यों नहीं लेते?' उसने जैसा कामदार से कहा था वैसा ही राजा को भी उत्तर दिया। उसकी बात सुन के राजा बड़ा प्रसन्न हुवा, और बोला कि—'तुम हमारे पास रहा करो'। उसने कहा—'हुजूर! बहुत अच्छा' फिर राजा के पास रहने लगा। उसका सच्चा व्यवहार और निष्कामता देख के कुछ काल पाकर, ज्यादे क्या कहें—उसको ही राजा बना दिया और राजा खुद ठाकुरजी के भजन करने के वास्ते वन को चला गया। यह दृष्टान्त है।

दार्ष्टान्त—यह है कि—'राजा' की नाई तो 'ईश्वर' है और 'मजदूर' की नाई यह 'जीव' है। जिसके अनेक प्रकार के 'शुभ-कर्म' का फल ही 'मजदूरी' है, ऐसे फल की कामना का त्याग ही 'निष्कामता' है। जैसे राजा ने उस मजदूर को अपने पास ही रख लिया था, तैसे ही ईश्वर 'निष्काम—कर्म' करने वाले 'भक्त' के वश होकर (वह) आपही उसके पास रहता है, और जिस प्रकार राजा ने सब राज दे दिया था, तैसे ही वह 'निष्कामी-भक्त' अपने आपको ईश्वर के अर्पण कर देता है।

इस प्रकार 'निष्काम-कर्म' का महात्म 'नित्य-सुख'-रूपी फल है, जो सर्व पापों का नाश करने वाला है''।

यह बात सुन शिष्य प्रश्न करता है—हे भगवन्! आप कहते हैं कि—'निष्काम-कर्म सर्व पापों को नाश करता है' सो यह कहना आपका बनता नहीं। क्योंकि—जो ज्ञानवान् हैं, वे दुःख भोगते हुवे देखने में आते हैं, और ज्ञान से पूर्व उन्होंने निष्काम-कर्म किये, तो फिर उनको दुःख नहीं होना चाहिये? ऐसी शंका होने पर!

गुरु कहते हैं कि—"निष्काम-कर्म करने से पापों की सर्वथा निवृत्ति नहीं होती है। जैसे बीज से दो अङ्कुर निकलते हैं, एक तो नीचे को जाता है और दूसरा ऊपर को जाता है। नीचे के अङ्कुर में पुरुषार्थ नहीं चलता है, ऊपर के हो में पुरुषार्थ चलता है, वैसे ही—कर्मरूपी—बीज से भी दो अङ्कुर निकलते हैं, एक—तो 'वासना' और दूसरा—'प्रारब्ध'। प्रारब्ध से सुख-दुःख का जो भोग होता है सो दूर नहीं हो सकता, परन्तु—वासना रूपी अङ्कुर ऊपर के अङ्कुर की नाईं फिर जाता है, और सर्वथा नाश तो उसका भी नहीं होता है, परन्तु—विरोधी 'शुभ-वासना' से 'अशुभ-वासना' जो जन्मान्तर के मलिन-कर्म से होती है; सो पलट के 'शुभ' हो जाती है। ऐसा अवसर प्राप्त होने पर विवेक, वैराग्य उत्पन्न हो के 'श्रवण' में प्रवृत्ति हो जाती है, श्रवण से ज्ञान होकर सर्व 'सञ्चित' तथा 'आगामी' कर्मों का नाश हो जाता है। और

'प्रारब्ध-कर्म' का भोगने से नाश होता है। इस रीति से सर्व कर्मों का नाश 'निष्काम-कर्मों' से कहा है-सो 'वासना के पलट जाने द्वारा ही संभव है', साक्षात् 'निष्काम-कर्म' से सर्व कर्मों का नाश नहीं होता है। इसी से ज्ञानवान् को भी सुख-दुख होते हैं"। इस बात को भली भांति समझ कर **शिष्य पूछता है-**

"भगवन्! आपने जो यह 'निष्काम-कर्म-रत्न' कहा है, सो इस में 'रत्नपना' क्या है? और 'निष्कामता' क्या है? और इसका 'कारण?' तथा 'स्वरूप' क्या है? और 'फल' तथा 'अवधि' क्या है? यह सब आप हमारे को समझाय के कहिये"।

गुरू कहते हैं-"हे शिष्य! श्रुति, स्मृति आदि मे अनेक प्रकार के कर्मों का कथन किया है, सो सब कर्मों का सार खींच के महात्मा पुरुषों ने 'निष्काम-कर्म' के रूप में जिज्ञासु-पुरुषों के वास्ते रक्खा है, यही उसमें 'रत्नपना' है, और इस लोक तथा परलोक के पदार्थों की कामना इसमें नहीं है, यही इस मे 'निष्कामपना' है। शास्त्रों में सकाम-कर्म के फल को 'अनित्य' कहा है, और निष्काम-कर्म के फल को 'नित्य' कहा है, जैसे गीता में भगवान् कहते हैं—

॥ श्लोक ॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति, प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य, त्रायते महतो भयात्॥

इस प्रकार ऐसे शास्त्र का बारंबार श्रवण करना ही निष्काम-कर्म का 'कारण' है। और किसी भी लौकिक, वैदिक आदि पदार्थों की कामना नहीं, किन्तु—'केवल अपने कल्याण की कामना' ही उसका 'स्वरूप' है। और 'अशुभ-वासना की निवृत्ति' होना उसका 'फल' है। अशुभ-वासना निवृत्त नहीं हो; तबतक निष्काम-कर्म करे, और जब अशुभ-वासना अपने अंतःकरण में नहीं रहे-तब नहीं करे, यही उसकी 'अवधि' है। फिर 'मल' दोष निवृत्त हो जाता है, इसी मल दोष को 'अशुभ-वासना' कहते हैं सो 'निष्काम-कर्म' से दूर होती है।

भगवान् ने सब कर्मों से 'निष्काम-कर्म' ही को श्रेष्ठ कहा है, और उसके करने वाला जो पुरुष है उसको सर्व तपस्वी, ज्ञानी, कर्मी से भी श्रेष्ठ कहा है। चांद्रायण कृच्छ्र आदिक उपासना करने वाले को 'तपस्वी' और शास्त्र के पद पदार्थों के जानने वाले को 'ज्ञानी' और सकाम कर्म करने वाले को 'कर्मी' कहते हैं। इन से 'अपरोक्ष-आत्मज्ञानी' ऊंचा है। इस प्रकार निष्काम कर्म करने वाले को भगवान् ने सब से ऊंचा कहा है।

॥ इति श्री निष्काम कर्म रत्न समाप्तम् ॥

—०—

(४)

॥ अथ भक्ति रत्न ॥

॥ दोहा ॥

भक्ति नाम यक कहत है, तिसके सुन अब भेद ।
नौधा, प्रेमा, अरु परा, यों कहत शास्त्र अरु वेद ॥

वास्तव में (१) नौधा, (२) प्रेमा, (३) परा भेद से भक्ति तीन प्रकार की होती है । इस प्रकार शास्त्र में भक्ति के तीन भेद कहे है ।

॥ दोहा ॥

नौधा नौ प्रकार से, ईश्वर में चित लाय ।
याही से भक्ति कही, भय सब गत होजाय ॥

अर्थ–नौधा कहिये 'नौ प्रकार से ईश्वर में अपना मन लगाने से नाना प्रकार के जो जगत् के भय हैं– सो सारे दूर हो जाते हैं, इसी से इसे नौधा भक्ति कहते हैं ।

शिष्य पूछता है–'हे भगवन्, वह नौ प्रकार कौन से हैं ? जिनसे ईश्वर में मन लगे, सो आप कृपा करके बतलाइये' । **गुरु कहते हैं**–'हे शिष्य ! जिस कथा में परमेश्वर का कथन होता हो उसको चित्त लगा कर श्रवण करना, इसको 'श्रवण–भक्ति' कहते है ॥ १ ॥ ईश्वर के जिन विशेषणों को श्रवण किया

हो उन विशेषणों का भिन्न भिन्न कथन करना कि-ईश्वर कैसा है ? सत्यकाम है, सत्य संकल्प है, दयालु है, अन्तर्यामी है, एक है चैतन्य है, परमानन्द स्वरूप है, व्यापक है, अजन्मा है, अविनाशी है, और ऐसा चिद्घन ब्रह्म है कि-जिसका नाश कभी नहीं होता है, इसको 'कीर्तन' कहते हैं ॥ २ ॥ जो ईश्वर के विशेषण पूर्व कथन किये हैं उनको बारम्बार याद करना ही उसको 'नामस्मरण' भक्ति है ॥ ३ ॥ जो पादसेवन रूपी भक्ति कही है सो प्रत्यक्ष में तो ईश्वर के पादों का सेवन बनता नहीं क्योंकि-ईश्वर में परोक्षता धर्म है परन्तु-'चल' और 'अचल' ये दो प्रकार के परमेश्वर के स्वरूप कहे हैं, इस में महात्मा तो 'चलरूप परमेश्वर का रूप है,' और 'मूर्ति आदिक अचलरूप हैं' इनके पैरों का पूजन करना ही परमेश्वर की 'पाद-सेवन' भक्ति कही जाती है ॥ ४ ॥ दो प्रकार का परमेश्वर का स्वरूप कहा है उन दोनों का श्रद्धा पूर्वक नाना प्रकार के धूप, दीप, पुष्पमाला चन्दनादिका जो लेपन करते हैं-उसी को 'अर्चन' भक्ति कहते हैं ॥ ५ ॥-'उनके चरणों में प्रेम पूर्वक श्रद्धा भक्ति से नमस्कार करने' को 'वन्दना' भक्ति कहते हैं ॥ ६ ॥ परमेश्वर में इस प्रकार 'दास-भाव' होना कि-'परमेश्वर ही मेरे कर्म के फल को देने वाला है, और मैं उसका दास हूँ' इसी को "दास-भाव" भक्ति कहते हैं ॥ ७ ॥ जैसे ग्वालों ने अपना सखा रूप जान के परमेश्वर को भजा था; उसी प्रकार 'परमेश्वर को अपना

सखा रूप जान के हर वक्त याद रखने' ही को 'सखाभाव' भक्ति कहते हैं ॥ ८ ॥ और 'निज के शरीर से आदि लेकर स्त्री, पुत्र, धन, इत्यादि को अपने नहीं जाने, किन्तु–इन सब को परमेश्वर के ही जाने' इसको "आत्मनिवेदन" भक्ति कहते हैं ॥ ९ ॥

इस प्रकार नौधा भक्ति का विवेचन है। अब प्रेमा भक्ति के सम्बन्ध में कहते हैं—

॥ दोहा ॥

प्रेमा प्रीति हरि से बढ़ी, और न कछू सुहाय।
भक्ती भाग्या जगत से, मन दर्शन में जाय॥
जहां प्रेम तहं नेम नहिं, तहां न विधि व्यवहार।
प्रेम मगन जब मन भये, कौन गिनै तिथि वार॥

अर्थ—यह है कि जिस काल में नवधा–भक्ति के दृढ़ अभ्यास होने से फिर 'प्रमा–भक्ति होती है तब सब पदार्थों' से प्रीति छूट कर एक परमेश्वर में ही प्रेम होजाता है इसी से प्रेमा-भक्ति कहते हैं। भक्ति यों कहा है कि-मन जगत् की तरफ़ से तो भगता है और परमेश्वर की ओर जाता है। जैसे विषयाशक्त पुरुष का मन परमेश्वर मे लगाने से भी नहीं लगता है, और विषय भोगों की तरफ़ स्वत ही चला जाता है तैसे ही 'प्रेमी–भक्त' का मन परमेश्वर की ओर तो स्वत हो जाता है, और ससार के विषय भोगों में लगाने से भी नहीं लगता है। जल जैसे नीचे की ओर

जाके ठहरता है, तैसे ही भक्त का मन एक परमात्मा में ही जाकर ठहरता है, क्योंकि–उस के अन्तःकरण से जो वृत्ति उठती है, सो परमेश्वर–आकारही होती है और जो कुछ देखता है, सो सब परमेश्वर का स्वरूपही उसको भासता है।

॥ शेर ॥

नगर में बाग में बन में, कुछ आलम निहारा है।
जिधर देखूं उधर प्यारे, सभी जलवा तुम्हारा है॥

इसी पर तेरे को एक—

'लैली मजनूँ न्याय'

सुनाते हैं, सो यह है कि–दिल्ली के किसी बादशाह का लैला नाम की एक लड़की थी, और लाहौर के बादशाह का मजनू नाम का एक लड़का था। जब लैली ने मजनू की तसवीर देखी और मजनू ने लैली की तसवीर देखी, तब परस्पर उनका स्नेह बढ़ गया। दिल्ली के बादशाह ने लैली के निकाह की तयारी की, तब लैली ने कहा कि– मैं तो मजनूं से निकाह करूंगी, और किसी के साथ नहीं करूंगी।" बादशाह ने हुक्म दिया कि सब दरबारों में खबर करवादो कि–अमुक रोज लैली का निकाह होगा। जो कोई मजनूं हो सो आवे। तब सब–दरबारों में ढंढोरा फिर गया बहुत से मजनूं बन २ कर आगए, और वह सच्चा मजनूं भी आया।

बादशाह ने सारे दिल्ली शहर मे यह ढिंढोरा फिरवा दिया कि-'जिसकी दूकान से मजनूं जो कुछ भी ले, सो दे देना दाम सरकार से मिल जावेंगे'। तब देश देशातरो से जो अनेक मजनूं बन २ के आये थे, सो दूकान दूकान से अनेक प्रकार की चीजें लेते रहे और खूब माल उड़ाने लगे। वह जो सच्चा मजनू था, सो तो दिल्ली से तीन मील दूर जमुना किनारे पर रहता था। जब निकाह का दिन आगया, तब सारे शहर में खबर करवादी कि-"आज लैली का निकाह होगा, जो कोई मजनू हो सो आवे"। और जो निकाह का मकान मुकर्रर किया था, उसमे लैलो को सामने बिठादिया और बीच में लोहे की तवी गर्म करवादी, मजनूं आने लगे, और तपती हुई तवी को देख के उलटे फिरने लगे। जो उलटे फिर कर चले उनको पींजरा पौल में रोक दिये, वहा वे बनावटी मजनूं चक्की फेरने लगे।

अन्त में जो सच्चा मजनूं था सो भी आया, और उसने लैली को देखा, तब उसकी वृत्ति लैली में ही लग गई, और जो वह तवी गरम होरही थी उस की तरफ उसने देखा ही नहीं। क्योंकि-उसकी वृत्ति तो लैली में ही लग गई थी, लैली के सिवाय उसको दूसरा कुछ भी नहीं दीखता था।

उस सच्चे मजनू से लैली का निकाह हुआ और झूठे मजनू चक्की फेर २ के दाना दलते रहे। यह तो दृष्टान्त है दार्ष्टान्त-

यह है कि–बादशाह की नाईं परमेश्वर है, और लैली की नाईं भक्ति है, और मजनूं की नाईं प्रेमा–भक्त है। जैसे–सच्चे मजनूं को लैला मिली है, वैसे ही–सच्चे प्रेमी–भक्त ही को लैला रूपी भक्ति प्राप्त होती है और जैसे झूठे मजनूं चक्की पीसते थे, वैसे ही सकामी झूठे भक्त जन्म–मरण रूपी चक्की के फेर से नहीं छूटते। इस संसार रूपी कैदखाने में ही पड़े रहते हैं। इसी प्रकार जो निष्काम–प्रेम भक्ति' को करते हैं सो ही इस जन्म–मरण से छूटते हैं, इसी का नाम प्रेमा भक्ति है। अब परा भक्ति को दिखाते हैं–

महतः परमव्यक्त मव्यक्तात्पुरुष परः ।
पुरुषान्नपर किंचित्सकाष्ठा स परागतिः ॥

॥ दोहा ॥

परा न पारावार है, व्यापक एक स्वरूप ।
भक्ती ही से पाइये ऐसा रूप अनूप ॥

अर्थ यह है कि–जिस से पर कोई पदार्थ नहीं है, वाही सर्व पदार्थों की अवधि रूप है, और सर्व से सूक्ष्म है, (यह परा शब्द का अर्थ है) ऐसा व्यापक, उपमा रहित, एक स्वरूप, भक्ति से ही प्राप्ति होता है यही परा भक्ति का तात्पर्य है। जो ऐसा व्यापक उपमा से रहित, एक रूप एक प्रभ ही कहा जाता है।

श्रुतिः-इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था, अर्थेभ्यश्च परं मनः।

मनसस्तुपराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।

पुरुषान्न परः कश्चित् सः काष्ठासः परागतिः॥

अर्थ यह है (अर्था.) कहिये-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये जो विषय है सो (पराः) कहिये-इंद्रियों से सूक्ष्म और ापक हैं, और इन विषयों से मन सूक्ष्म और व्यापक है, और न से बुद्धि सूक्ष्म और व्यापक है, और व्यष्टि-बुद्धि से समष्टि-द्धि रूप जो महान् आत्मा हिरण्यगर्भ है, उसको समष्टि-बुद्धि ूक्ष्म और व्यापक है, और समष्टि-बुद्धि से माया सूक्ष्म और यापक है, और अव्यक्त माया से पर कहिये सूक्ष्म और व्यापक ाह्म आत्मा है, ब्रह्म आत्मा से पर कहिये सूक्ष्म ओर कोई नहीं है, सलिये परा गति कहिये ब्रह्म-आत्मा सर्व की अवधि कहिये सीमाँ अथवा हद है। इस प्रकार आत्मा को सर्व से सूक्ष्म और व्यापक-रूप करके जानना ही 'पराभक्ति' का स्वरूप है। वास्तव में 'परा-भक्ति' और 'परोक्ष-ज्ञान' में कुछ भी भेद नहीं है।"

शिष्य कहता है-"हे गुरो ? यह जो आपने तीन प्रकार की भक्ति कही है,इसका कारण कौन है? और इसका स्वरूप और फल क्या है ? और उसकी अवधि किस प्रकार है ? क्योंकि-किसी

भी कार्य का कारण, स्वरूप, फल तथा-अवधि जाने बिना उस कार्य में यथार्थ प्रवृत्ति होती नहीं है।"

गुरु कहते हैं-"हे शिष्य! पूर्व जन्मों में जो 'निष्काम-कर्म' किये हैं, उन कर्मों के संस्कार और इस जन्म के पुरुषार्थ से जो 'महापुरुषों का संग' किया है, ये तीनों ही 'भक्ति' के कारण हैं, और पूर्व जो तीन प्रकार की भक्ति कथन की है; और तीनों के जुदे २ लक्षण कहे हैं, सोही भक्ति का स्वरूप है, विक्षेप दोष की निवृत्ति उसका फल है, जब तक सत् असत् वस्तु का दृढ़ निश्चय नहीं हो; तब तक भक्ति करे और जब दृढ़ निश्चय होजावे तब नहीं करे यही भक्ति की अवधि है। फिर सत् असत् वस्तु का विचार ही किया करे" ॥ इति श्रीभक्तिरत्न समाप्त ॥

— ० —

[५]

॥ अथ विवेक रत्न ॥

इसी में विचार संबंधी कुछ विवेचन भी किया जावेगा।

जाग्रत अवस्था में 'स्थूल-शरीर' से नाना प्रकार के स्थूल-पदार्थों का भोग रूपी व्यवहार होता है, ऐसे 'व्यवहार' और स्थूल-शरीर को और उसकी 'जाग्रत्-अवस्था' को जानेवाला मैं इन सबसे जुदा हूं। इसी प्रकार "स्वप्न अवस्था में जो १७ तत्व का

'सूक्ष्म-शरीर' है और उस मे नाना प्रकार के जो 'सूक्ष्म-भोग्य पदार्थ' हैं उनको और 'सूक्ष्म-शरीर' को और उनकी 'स्वप्न-अवस्था' को जाननेवाला मैं उन से जुदा ही हू" । तैसे ही "सुषुप्ति अवस्था में जो कारण-शरीर' है, और उस मे जो 'सुख का भोग' और 'सुषुप्ति-अवस्था' है, इन सर्व का जाननेवाला मैं तो वहा भी सब से जुदाही हूँ ।" इस प्रकार इन तीन शरीर के विवेक से ही पचकोषों का विवेक होजाता है ।

तीन शरीर और पचकोष से आत्मा को पृथक् जनने का नाम यथार्थ विचार है । इस प्रकार के विचार से ही नित्य-अनित्य पदार्थ जाना जाता है, क्योकि—ये तीन शरीर तो व्यभिचारी हैं । वास्तवमें—इस स्थूल देह की प्रतीति स्वप्न में नहीं होती है, और स्वप्न-पदार्थों का जाननेवाला मैं वहां भी हू । सूक्ष्मशरीर सुषुप्ति में नहीं रहता है, और सर्व के अनुभव करनेवाला मैं तो वहाँ भी हू । सुषुप्ति का कारण शरीर है, जो—जाग्रत, स्वप्न में नहीं रहता है और सूक्ष्म—स्थूलपदार्थो का जाननेवाला मैं वहाँ भी हू । इस प्रकार के विचार से ही 'तीन-शरीर' और उन में जो पचकोष' और 'तीन अवस्था' हैं ये सब व्यभिचारी और 'अनित्य' हैं और आत्मा अनुगत होने से 'नित्य' कहलाता है । अत —"आत्मा की नित्यता और अनात्मा की अनित्यता का जो दृढ निश्चय है, उसी को विवेक कहते है ।"

शिष्य प्रश्न करता है—"हे भगवन्! सब तो सभी जानते हैं कि-शरीर आदि अनित्य हैं, और आत्मा नित्य है, ऐसे विवेक हो से वैराग्यादि उत्पन्न होते हैं। परन्तु—ऐसा विवेक तो कर्मी पुरुषों को भी होता है, क्योंकि—शरीर से भिन्न आत्मा का ज्ञान, कर्म का हेतु है। यदि—शरीररूपही आत्मा को मानें तो शरीर जब यहीं भस्म हो जावेगा फिर कर्म के फल को कौन भोगेगा? इससे भोगने वाले को जुदाही मानते हैं, फिर उनको वैराग्य होना चाहिये, सर्व कर्मों से रहित होना चाहिये, परन्तु—इस प्रकार होते तो नहीं हैं, कर्मों को ही करते देखने में आते हैं, सो इसमें कारण क्या है? आप कृपा करके कहिये"।

गुरु कहते हैं—"हे शिष्य! यद्यपि कर्मी को देह से भिन्न और नित्य रूप करके आत्मा का ज्ञान है भी परन्तु—अकर्ता रूप से आत्मा का ज्ञान कर्मी को नहीं है। इसी से वैराग्य आदि उत्तम साधन नहीं होते हैं। और जो तुमने कहा था कि—ऐसा सभी जानते हैं कि—आत्मा नित्य है, और शरीर आदि अनित्य हैं।' सो तो तेरा कहना दुरुस्त है; परन्तु—उसके निश्चय में भेद है। क्योंकि—विवेकी पुरुष को तो अन्वय व्यतिरेक युक्तियों के सम्बन्ध में विचार पूर्वक दृढ़ निश्चय है, और अविवेकी का विवेक 'स्मशान-वैराग्य' की नाईं होता है, इसी कारण अविवेकी की शरीर आदि में आत्मा बुद्धि होती है। और विवेकी को दृढ़ निश्चय होने से

शरीर आदि में आत्मबुद्धि नहीं होती है, इसी से विवेकी को वैराग्यादि उत्पन्न होते हैं, और अविवेकी को आत्मा अनात्मा का दृढ़ निश्चय पूर्वक विवेक है नहीं, इसी से वैराग्य नहीं होता है, अतः—उसको अविवकी कहते हैं।

इस प्रकार सुनके **शिष्य पूछता है**— हे भगवन्। आपने यह जो विवेक का कथन किया है उसमें 'रत्नपना' क्या है? और इस का 'कारण' 'स्वरूप' तथा 'फल' क्या है? और उस की 'अवधि' क्या है? सो आप कृपा करके कहिये'।

गुरु कहते हैं—कि—जैसे रत्नों से अनेक प्रकार के स्वर्ण, रजत आदि अशरफियें सराफे में प्राप्त होती हैं, तैसे ही विवेक रूपी रत्न से सतसंग रूपी सराफे में अनेक प्रकार के वैराग्यादि अशरफियें, रुपये प्राप्त होते हैं, और जिस प्रकार द्रव्य पदार्थ से व्यावहारिक सुख की प्राप्ति होती है, तैसे ही—वैराग्यादि से पारमार्थिक आनन्द की प्राप्ति होती है, यही उस विवेक में रत्नपना है।

पूर्व जो तीन प्रकार की भक्ति कही थी, सो वास्तव में ऐसी भक्ति से चित्त की एकाग्रता होकर सत् असत् पदार्थों का विचार उत्पन्न होता है, इस प्रकार विचार करने पर पदार्थों से नित्य अनित्य वस्तु का विवेक उत्पन्न होता है इसलिये भक्ति और विचार में दोनों ही विवेक के कारण हैं। और नित्य, अनित्य

स तात्पर्य यह है कि–आत्मा तो नित्य है, और जो वैराग्य आदि के उत्तम साधन विवेक से होते हैं, यही विवेक का फल है। और ज्ञान प्राप्ति ज्ञान पर्यन्त उसकी अवधि है। और यह विवेक रत्न जो कहा है उस जिज्ञासु पुरुषों को अवश्य सम्पादन करना चाहिये क्योंकि–यही ज्ञान के अन्तरंग साधनों का मूल है।

॥ इति श्री विवेक रत्न समाप्त ॥

—०—

[६]

॥ अथ वैराग्य रत्न ॥

॥ कुण्डलिया ॥

वैराग नाम एक कहत हैं, उभय भेद तिहिं जान।
पर अपर दो कहत हैं, तिन का करूं बखान॥
तिन का करूं बखान अपर का यह विस्तार।
यतमान व्यतिरेक एक इन्द्रिय अरु वशिकार॥
वशीकार है तीन विधि तीव्र तर तीव्र मन्द।
जो इन को धारन करे सोइ पावै गुप्तानन्द॥

अर्थ यह है कि–एक तो वैराग्य के 'पर' और 'अपर' दो भेद हैं। इस में अपर–वैराग्य के चार भेद हैं–यतमान व्यतिरेक,

एकेन्द्रिय और वशीकार। वशीकार भी मन्द, तीव्र और तीव्रतर ऐसे भेद से तीन प्रकार का होता है। ये सब एकही वैराग्य की तारतम्यता करके भेद कहे जाते हैं। परन्तु—जितनी वैराग्यमाला है, उस से तात्पर्य—सूक्ष्म, स्थूल, लोक, परलोक के जो पदार्थ है, उन सब के त्याग करने ही का है।

दोहा।

भोग लोक परलोक का मन में रहे न राग।
दारा सुत वित गेह का करना चाहे त्याग॥
ऐसी बात विचार के छांडि गये नृपराज।
धारण कर निरवेद को कीन्हा अपना काज॥

अर्थ यह है कि-स्त्री, पुत्र, धन, आदि इस लोक के जितने भोग पदार्थ हैं, और अमृत पान अप्सरादिक जो ब्रह्म-लोक के भोग हैं, उन सबका 'राग' मन से जिसने दूर किया है, और उनके 'त्याग' करने की इच्छा जिसको उत्पन्न हुई है—उस पुरुष को ऐसा विचार करना चाहिये कि—इन भोग पदार्थों मे सुख होता ? तो राजा लोग राज को छोड़ के वैराग्य को क्यों धारण करते ? इसी से जाना जाता है कि—पदार्थों में सुख नहीं है। जो पदार्थों में सुख होता तो उन राजाओं को तो वहुत से पदार्थ प्राप्त थेइस प्रकार अपने चित्त में विचार करना चाहिये कि—विषयो के भोग से सुख नहीं होता है, किन्तु विषयों के त्याग में ही सुख है।

इसी युक्ति के न्याय को विचारना चाहिये कि—विषयों में जो सुख प्राप्ति की इच्छा है, उसको त्याग के सर्व विषयों का त्याग करना चाहिये, क्योंकि— जिन राजाओं को सर्व भोग पदार्थ प्राप्त थे उन को भी सुख नहीं हुआ, तो हमारे को कहाँ से सुख होगा ?' इस प्रकार स जो विचार करता है; सो ही वास्तव में मनुष्य है। जो मनुष्य शरीर पाके ऐसा विचार करके वैराग्य धारण नहीं करता है—वह गर्दभ के समान है। इसी पर तेरे को एक—

(१)

राजा, साधु, शोक–निवर्तन न्याय

सुनाते हैं, सो तू सुन—एक राजा को मन्द वैराग्य उत्पन्न हुआ था। मन्द वैराग्य का स्वरूप है कि—न तो विषयों का त्याग होना,और न भोग होना। उभयथ संदिह ही रहता है। इस प्रकार वह राजा दोनों तरफ संदिह करके शोकातुर हुआ। तब कामदार मंत्री आदि सभी लोग राजा की दशा देख के चिन्ता में रहे और आपस में विचार किया करते कि— 'राजा की तो ऐसी दशा होगई कि जैसे कोई सर्प चूहे के धोखे में छछूंदर पकड़ लेता है,तब वह उसको खाता भी नहीं और न उसको छोड़ता है, क्योंकि—उसको खावे तो कोढ़ी होजावे, और छोड़े तो वह उसके नेत्र फोड़ दे। इसी प्रकार राजा को भी कोई बड़ा भारी खेद आके प्राप्त हुआ है इसकी

निवृत्ति का कोई उपाय करना चाहिये। क्योंकि–सच्चा मंत्री भी वही है, जो अपने महाराज को दुःख प्राप्त होने पर उसकी निवृत्ति का उपाय करे, नहीं तो सुख में तो बहुत मंत्री होजाते हैं"।

जब इस प्रकार मंत्रियों ने विचार करके अच्छे बुद्धिमान् पंडितों को बुला के पूछा कि–"महाराज! राजा को जो बड़ा भारी शोक हुआ है, उसकी निवृत्ति का कोई उपाय आप बताइये" मंत्रियों की बात सुनके पंडितों ने कहा कि–'शोक निवृत्ति तो कोई साधु महात्मा करते हैं, इससे तुम किसी साधु को ढूंढ के लाओ' तब मंत्री ने चारों तरफ ढूंढने वाले भेज दिये। किसी जगह गुरु चेला दो साधू मिल गये, उस समय वे अपनी कुटिया को लीप रहे थे। ढूंढने वालों ने उनको नमस्कार किया, और कहने लगे कि 'महाराज! आप कृपा करके चलिये, हमारा राजा बड़े शोक को प्राप्त हुआ है, उसके शोक को आप निवृत्ति कीजिये।' तब गुरु ने कहा कि–'बहुत अच्छा', और चेले से कहा कि–'जाओ, राजा के शोक को निवृत्त करो।'

वह मिट्टी से भरा हुआ ही चलदिया, और उनके संग में राजा की कचहरी में आया। तब राजा ने उस महात्मा की तरफ देखा, उसको बेढंगा देखके उस राजा को हसी आई, और अपने पास में उसके वास्ते गादी बिछवादी। वह तो मिट्टी से भरे हुए शरीर से उस गादी पर एक दम गिरगया, क्योंकि–"ढोल ढंग दुनिया, बेढंग फकीर" अर्थात्–जैसे राजा तैसे ही फकीर।

वह राजा कहने लगा कि–'महाराज! आप में और गधे में कितना फर्क है? आप बताइये।' वह महात्मा अपने और राजा के बीच की जमीन हाथ से नापकर कहने लगा कि"–गधे में और हमारे में तो हाथ का फर्क है।" तब तो राजा लज्जित होके बोला कि–'महाराज! आपने तो हम रे को ही गधा बनाया, मैं किस रीति से गधा हूँ? सो कहिये।" उस महात्मा ने उत्तर दिया कि–'हमने अपनी युक्ति से तुमको गधा नहीं कहा है, किंतु–तुम्हारे जैसे को शास्त्र ही गधा कहता है —

रलोक

आत्मानमात्मस्थमवेत्सि मूढ',
संसारकूपे परिवर्तितो य ॥
कृत्वाऽऽत्मरूपं विषयाग्नि,सु क्ते।
मतः स साक्षान्नर एव गर्दभ' ॥

भावार्थ यह है कि–आत्मा को परमात्मा रूप करके तुमने नहीं जाना है, और संसार रूपी कूप में पड़े हुवे हो इसी से तुम मूढ़ हो और आत्मा का जो 'व्यापक–रूप' है, सो भी तुमन नहीं जाना है; और यत्किंचित् वैराग्य के होने से पदार्थों में दोष–दृष्टि होने के कारण उनको भी भोग नहीं सके हो; ऐसे पुरुष को ही शास्त्र ने साक्षात् 'गर्दभ' कहा है। इस प्रकार के लक्षण तुम्हारे में घटते हैं, इसी से तुमको गधा कहा गया है।"

इस रीति से जब मद वैराग्यवाले को भी गर्दभ कहा है, तो जिस को सर्वथा वैराग्य का अभाव है, उसके गर्दभपने में क्या संशय है ? वह तो साक्षात् गर्दभ ही है, उस से परे और गर्दभ कौन होगा ? यह दशा गृहस्थ की कही है।

जो वैराग्य को धारण करके विषयों का त्याग नहीं करता है, वह लाख गर्दभों का गर्दभ है। इस से जिसने घर, ग्राम छोड़कर वैराग्य धारण किया है, उसको 'स्त्री-संग' तथा-'पैसे का संग्रह' नहीं करना चाहिये, क्योंकि ये दोनों वैराग्य के नाश करने वाले हैं। महात्मा पुरुषों का तो वैराग्य ही धन है, वैराग्य जिसके नहीं होता है, उसी को साधु लोग कंगला कहा करते, हैं। और जिसको वैराग्य से भी वैराग्य होता है, वही सबसे उत्तम कहा जाता है। सर्व पदार्थों से वैराग्य को उत्तम और निर्भय कहा है—

श्लोकः-

भोगे रोगभयं, सुखे क्षयभयं, वित्ते नृपालाद्भयं,
माने हानिभयं जये रिपुभयं रूपे जरायाभयम्।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृत न्ताद् भयं,
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥

इस रीति मे महात्मा पुरुपो ने वैराग्य ही को सर्व पदार्थों से उत्तम और निर्भय कहा है। यही कारण है कि—वैराग्यवान् पुरुप सर्व पुरुपो से उत्तम और निर्भय दिखाई देता है। इसी पर एक—

(२)
'राजा,-वज़ीर न्याय'

सुनाते हैं-एक राजा का वज़ीर किसी समय अपने स्वामी से बात करता था, तब वह राजा किसी और ही तरफ़ काम कर रहा था, इस से वज़ीर की बात सुन नहीं सका, दो भी एक दो बार उस वज़ीर ने कहा, परन्तु-राजा की निगाह वज़ीर की तरफ नहीं हुई, तब वज़ीर हैरान हो के अपने को धिक्कार देता हुआ चल पड़ा; और अफ़सोस करने लगा कि-"देखो, यह भी मनुष्य है और हम भी मनुष्य ही हैं, परन्तु-हम प्रेम, मोह के वश होकर; कैसे दीन हो रहे हैं ! हम तो महाराज ! महाराज ! करते हैं, और वह हमारी तरफ नज़र करके भी नहीं देखता है । इस से हमारे का धिक्कार है । ऐसी दीनता ने ही हमको दीन किया है और ये प्रेम, मोह ही हमारे से नीच-कर्म करवाते हैं, इससे इनका त्याग ही करना योग्य है ।" ऐसा विचार करके वह राजा का वज़ीर सर्व का त्याग कर वनको चला गया ।

जब राजा को खबर हुई कि-'वज़ीर साहब तो सन्यासी बन के वन को चले गये ।' तब राजा ने और मंत्रियों से कहा कि-'चलो वज़ीर को मनाके लावेंगे ।' राजा और दूसरे मनुष्य जहाँ पर वज़ीर था वहाँ पहुँचे; और राजा ने वज़ीर को देखा कि-वो लम्बे पैर पसार ज़मीन पर पड़ा है । राजा उसके पास जाके

बोलने लगा, तब वज़ीर नहीं बोला, तो राजा दो चार वार बात करने लगा, तो भी वह नहीं बोला। तब राजा कहने लगा कि– "वजीर साहब आपने इस प्रकार कबसे किया?" तब वज़ीर ने कहा कि–"हाथ सिकोड़े जब से।"

इस प्रकार वज़ीर के उत्तर देने पर राजा ने वहुत सी विनती की कि"–आप हमारा कसूर माफ कीजिए और शहर को चलिये।" तब वज़ीर ने अपने मन मे विचार किया कि"–एक ही दिन के वैराग्य से राजा हमारे आगे हाथ जोड़ के बिनती करता है, तो जाना जाता है कि –यह वैराग्य कोई वड़ी चीज़ है, इस को त्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि–जिस राजा के भय से हमारा शरीर कंपायमान होता था, वो इस वैराग्य के वल से एक सूखे तृणवत् प्रतीत होता है।" इस प्रकार विचारने लगा और राजा हैरान होकर अपने नगर को लौट आया। वैराग्य की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में एक दो पुरुष के परस्पर—

(३)

'श्रेष्ठता–विवाद, न्याय'

और भी श्रवण कर, वह इस प्रकार है कि किसी जगह दो पुरुष रहते थे। एक ने कहा 'कि–चलो भैया! ठाकुर जी के दर्शन करें।' तब दूसरा कहता है कि–'ठाकुर जी तो मैं ही हूँ।'

यह सुन प्रश्न-कर्ता ने कहा कि–'तुम ठाकुर जी हो, तो मैं मुकुट हूँ।' तब उसने कहा कि–'मैं किरीट हूँ।' इस पर दूसरे ने कहा कि–' मैं पुष्प हूँ।' तब पहिले ने कहा कि–'मैं भवरा।' तो दूसरा बोला कि– मैं सूर्य हूँ।' पहिले ने कहा कि–'मैं कर्ण हूँ।' दूसरे ने कहा कि–'मैं दानी हूँ।' पहिला बोला कि–'मैं निरवाह हूँ।' तब दूसरे ने कहा कि–'इसमें आगे बढ़ने को और कोई भी रास्ता नहीं है।' वास्तव में ऐसी निरवाह वैराग्य से ही होती है, इससे भी जाना जाता है कि–वैराग्य से बड़ा और कोई भी पदार्थ संसार में नहीं है। इस लिये जिज्ञासु पुरुषों को अवश्य चाहिये कि वैराग्य को ही धारण करें।।

यह बात सुनके *शिष्य पूछता है कि*'–वैराग्य का कारण कौन है ? उसका स्वरूप तथा फल क्या है ? और अवधि कितनी होती है ! सो कृपा करके बताइये।'

श्री गुरु कहते हैं–कि "पूर्व जो नित्य-अनित्य पदार्थ का दृढ़ विवेक हुआ है, उससे अनात्म पदार्थ में 'दोष-दृष्टि' हुई है। यह 'दोष-दृष्टि' वैराग्य का कारण है। और विषयों का मन से 'त्याग' करना वैराग्य का स्वरूप है। और 'दीनता से रहित' होकर वीरों का सा स्वांग धारण करके फिरना ही वैराग्य का फल है। और संसार के जितने भोग पदार्थ हैं उन सबको मृग-तृष्णा के जलवत् जानना जैसे मृगतृष्णा के जल से किसी की भी

प्यास दूर नहीं होती है, तैसे ही पदार्थों से किसी की तृष्णा नहीं जाती है, इस से उनके त्याग करने से ही 'अमृत-भाव' की प्राप्ति होती है, यही वैराग्य की अवधि है। सर्व वेद शास्त्रों से विद्वान् पुरुषों ने यही तत्व निकाला है, इसी से इसको रत्न कहा है।

इति श्री वैराग्य रत्न समाप्तम्।

— ० —

[७]

॥ अथ षट् सम्पत्ति रत्न ॥

दोहा-

एक साधन के बीच में, प्राप्त होयँ षट् बात।
ताको षट् संपति कहें, अब भिन्न २ सुन तात॥
दुष्ट विषय से रोकनो, मन कर्मेन्द्रिय ज्ञान।
यासे शम, दम कहत हैं, समुझि करो पहिचान॥

अर्थ यह कि—एकही साधन में षट् पदार्थों की जो प्राप्ति होती है, उसको "षट् संपत्ति" कहते हैं। अब उनको जुदे २ कहते हैं, तू सुन—शास्त्र ने जिन विषयों का निषेध किया है, उन विषयो से मन के रोकने का नाम 'शम' है। और पंच ज्ञान इंद्रियों और पंच कर्म इन्द्रियों को उन्हीं विषयों से हटाने का नाम 'दम' है। अब 'श्रद्धा' और 'समाधान' के सम्बन्ध मे कहते हैं—

त्रोटक छन्द ।

तीजी श्रद्धा को पाय जभी ।
गुरु वेद वचन सत जान तभी ॥
चौथा समाधान समझ सोई ।
मन में विक्षेप नहीं कोई ॥
पंचमी उपरती सुन प्यारे ।
साधन अरु कर्म सभी जारे ॥
नेत्रों से नारि लखै जबही ।
तिहि दुःख अगार पेख तबही ॥
यह छठी तितक्षा जोइ कहे ।
सो इद धर्म का मरम लहै ॥
आतप अरु शीत क्षुधा तिरषा ।
स्वप्न सम जानिके सहै मषा ॥
जो ऐसी धारणा धारैगा ।
सो काम क्रोध को मारैगा ॥
यह सीख हमारी मानेगा ।
तब गुरु रूप को जानेगा ॥

—०—

अर्थ यह है कि"-गुरु-वेद के वचनों को सत्य करके जानने का नाम 'श्रद्धा' है। यह श्रद्धा गुरु-वेद के वचनों को सत्य जानने से होती है। मन में किसी प्रकार की चंचलता नहीं होने को अर्थात्-किसी एक वस्तु में मनकी वृत्ति ठहरने को 'समाधान' कहते हैं। साधन सहित सर्व कर्म को नहीं करे, अर्थात्-सर्व प्रकार के कर्म और उनके साधनों का त्याग करके केवल शम-दमादिक ही करे, और सर्व का त्याग करे, जब कभी नेत्र से नारी को देखे, तो उसे दु:ख का स्थान जाने,इसी को 'उपरति' कहते हैं। आतप, शीत. क्षुधा, तृषा, राग, द्वेष, मान, अपमान इत्यादिक द्वंद के सहन करने से 'तितिक्षा' की प्राप्ति होती है। जब कोई ऐसी धारणा को धारता है और महात्मा पुरुषों के वचनों को अङ्गीकार करता है, तब वह आप अपने को निराकार और व्यापक रूप जानता है। यह जो 'तितिक्षा रत्न'कहा है, सो नाना प्रकार की दीनता रूपी कंगाली का नाश करनेवाला है और आत्मा रूप अलौकिक धन को देनेवाला है, यही उस में रत्नपना है।

शिष्य कहता है—"हे गुरो! यह जो आपने 'षट् सम्पति रत्न' कहा है, इस का कारण कौन है? और इस का स्वरूप तथा फल क्या है? और इसकी अवधि किस प्रकार है? सो आप कृपा करके बताइये"।

गुरु कहते हैं—"पूर्व जो वैराग्य का कथन किया गया है; सो ही इस का कारण है, क्योंकि—वैराग्य बिना शम-दमादि के नहीं होते हैं। इससे वैराग्य ही षट् सम्पत्ति का कारण है, और जो षट् साधनों का जुदा २ कथन किया गया है, वह ही उसका स्वरूप है, इसके प्राप्त होने पर जो मोक्ष की इच्छा उत्पन्न होती है, वह ही उसका फल है। इस प्रकार फल की प्राप्ति पर्यन्त प्रयत्न करना ही उसकी अवधि है। अत-जिज्ञासु पुरुष को प्रथम 'षट् सम्पत्ति' सम्पादन करना चाहिये।

॥ इति श्री षट् सम्पत्ति रत्न समाप्तम् ॥

— ० —

[८]

अथ मुमुक्षुता रत्न।

कवित्त।

मोक्षहि की इच्छा को मुमुक्षता कहत सुधी, जाको यह होय ताको मुमुक्षु पहिचानिये॥ सुख की हो प्राप्ति जोई दुःख की निवृत्ति होई, मोक्ष का स्वरूप यही वेदन में मानिये॥ समिध पाणि होय सतगुरु के शरण जाये, ईश्वर से अधिक तामे भक्ति ही को ठानिये॥ पूर्वले पुण्य से गुरुदेव जो प्रसन्न होयँ तिन के प्रसाद शुद्धरूपहि को जानिये॥ १॥

अर्थ यह है कि–'सु' कहिये–'श्रेष्ठ' है 'धी' नाम 'बुद्धि' जिनकी ऐसे जो महात्मा पुरुष हैं, वे मोक्ष की इच्छा को 'मुमुक्षुता' कहते हैं। और जिस पुरुष में वह इच्छा उत्पन्न होती है, उसको ही 'मुमुक्षु' कहते हैं। जो ऐसा पूछे कि–'मोक्ष का स्वरूप क्या है ?' तो सुन–"अत्यन्त सुख की प्राप्ति और अत्यन्त दुःख की निवृत्ति को मोक्ष कहते हैं"–यह वेद में मोक्ष का स्वरूप कहा है, जिस की प्राप्ति के वास्ते समिध पाणि कहिये हाथ पै कुछ भेंट रख के सत्‌गुरू के पास जाकर, ईश्वर से भी अधिक उनकी अनुकूल सेवा करे। तब ऐसी सेवा करने से अथवा–किसी पूर्वजन्म के निष्काम–कर्म से गुरु प्रसन्न हो के आप ही कृपा करके, 'गो' अर्थात्–'इंद्रियें' उन सर्व का जो 'पति' अर्थात्–'प्रेरक' ऐसा गूढ़ और सूक्ष्म जो चैतन्य आत्मा है, उसको निज का स्वरूप करके जना देते हैं। ऐसी जो यह मुमुक्षता है–सो अलौकिक रत्न है।

क्योंकि–जो लौकिक रत्न हैं उनका तो मोल सराफे में होता है, जौहरी उन के आकार को देखता है, तब कीमत करता है। परन्तु–आत्मा रूपी रत्न निराकार और अमोल है, उस की प्राप्ति के वास्ते जिज्ञासु 'सत्‌संग रूपी सराफे' में जाता है, तो तहाँ सत्‌गुरू ही जोहरी हैं, वे कैसे हैं ? वे 'निराकार' और 'गूढ़' कहिये–तीनों शरीर और पंचकोश से ढँके हुवे आत्मा को साक्षात् स्वरूप करके जना देते हैं। इसमें जिज्ञासा ही कारण है; इसी से

वस को रत्न कहा है । अत:—यह तो जिज्ञासु को अवश्य ही प्राप्त करना चाहिये ।"

शिष्य कहता है—"हे भगवन् ! यह मुमुक्षुता रत्न तो ठीक है, परन्तु—इसका कारण कौन है ? और स्वरूप क्या ? तथा-फल क्या है ? और इसकी अवधि किस प्रकार है ? सो आप कृपा करके कहो ।'

गुरु कहते हैं—"पूर्व जो साधन कहे हैं, सो परम्परा से तो सभी कारण हैं, परन्तु—साक्षात् कारण 'षट् सम्पति' ही है। और इसका स्वरूप पूर्व ग्रन्थ में कथन किया गया है। मोक्ष की इच्छा को मुमुक्षुता कहते हैं, सोही इसका स्वरूप है। और श्रवण की प्राप्ति ही इसका फल है। जब तक श्रवण दृढ़ नहीं हो, तब तक करे, फिर नहीं करे यही इसकी अवधि है" ।'

॥ इति मुमुक्षुता रत्न समाप्तम् ॥

— • —

[२]

॥ अथ श्रवण रत्न ॥

प्रथम श्रवण का स्वरूप दिखाते हैं —

॥ दोहा ॥

जो सुनने में आवता, सबही सरवन जान ।

अधिकारी के भेद से, [illegible] ॥ १ ॥

जो अधिकारी ज्ञान का, गुरु से पूछे तत्त ॥
महावाक्य के अर्थ का, सरवन करना नित्त ॥ २ ॥

अर्थ यह है कि-जो कुछ सुनने में आता है; सो सभी श्रवण कहा जाता है। यह तो श्रवण का साधारण स्वरूप है, जैसे-ईश्वर, ईश्वर की इच्छा, ईश्वर का प्रयत्न, और ज्ञान। तैसे ही-देश, काल, अदृष्ट, प्रागभाव, और प्रतिबंधाभाव ये नौ, सर्व कार्य के कारण होने से 'साधारण-कारण' कहे जाते हैं। और जो एक ही कारण हो, वह 'असाधारण-कारण' होता है, जैसे-रसना इंद्रिय से एक रसका ही ज्ञान होता है, सुगंध आदि का नहीं होता है। तैसे ही जो श्रवण किसी एक ही के वास्ते हो, वह श्रवण का असाधारण स्वरूप कहलाता है। जैसे-महावाक्य का श्रवण, एक ज्ञान की इच्छा वाले के ही वास्ते है इससे 'महावाक्य के श्रवण को असाधारण श्रवण' कहते हैं।

जो पुरुष आत्मज्ञान की इच्छा वाला है, सो सत् वस्तु को ही गुरु से पूछता है, और महावाक्य के अर्थ को ही वार वार श्रवण करता है। क्योंकि-हर वक्त वेदान्त का चिंतन करने से संशय की निवृत्ति हो जाती है। संशय ही पदार्थ के ज्ञान में प्रतिबंध होता है। इसी को 'असंभावना' भी कहते हैं। वह भी दो प्रकार की होती है, एक तो प्रमाणगत' औरदूसरी 'प्रमेयगत' कहलाती है। प्रमेयगत को आगे कहेंगे, यहा 'प्रमाणगत' का विवेचन करते

है—प्रमाण कहिये 'शास्त्र' 'गत' अर्थात्—उस (शास्त्र) में 'असंभावना' या 'संशय' यह है कि—वेदान्त के वचन स्वर्ग या मोक्ष का कथन करते हैं, इसमें जो संशय है—उसको 'प्रमाणगत असंभावना' कहते हैं। सो वेदान्त शास्त्र के बारम्बार श्रवण करने से यही प्रमाणगत असंभावना की निवृत्ति हो के निस्संशय हो जावेगा।

जैसे—रत्न के परखने वाले जौहरी होते हैं, जो नाना प्रकार की युक्ति सुनाके उस रत्न वाले को निस्संशय कर देते हैं, तैसे ही यह जो श्रवण है, उसमें अनेक प्रकार के जो संशय हैं—जैसे—" वेदान्त शास्त्र के सुनने का हमारे को अधिकार है? वा—नहीं है? अब इस प्रकार श्रवण करने से कौन फल होता है? स्वर्ग प्राप्त होता है कि—मोक्ष? अथवा—इसका सुनना निष्फल ही होता है?" इस रीति से जो अनेक प्रकार के संशय होते हैं, उन सर्व संशयों को जौहरी की नाई जो गुरु है सो अनेक प्रकार की युक्ति सुना के शिष्य को निस्संशय कर देते हैं।

आत्मा सर्व में होने से आत्मजिज्ञासा सर्व को ही होती है, इससे 'श्रवण का सभी को अधिकार है'। और स्वर्ग को तो वेदान्त ने बारम्बार अनित्य कहा है, अतः—नित्य जो 'मोक्ष' है उसके प्रतिपादन करने से वेदान्त की सफलता है। इसी से वेदान्त में अपूर्वता है। इस प्रकार की युक्ति रूपी वाणी को दृढ़

ख्यालरूपी–सशय भाग जाता है। इस रीति से श्रवण रूपी रत्न में जो नाना प्रकार के संशय हैं, उन से जिज्ञासु को निम्संशय हो कर श्रवण करना चाहिये। इसी से उसको रत्न कहा है। और जिज्ञासाही श्रवण का कारण है। पूर्व जो साधारण व असाधारण दो प्रकार का श्रवण कहा, सोही इसका स्वरूप है, और असंभावना की निवृत्ति इसका फल है। मनन करने की सामर्थ्य नहीं हो, तब तक श्रवण करते रहना यही श्रवण की अवधि है।

॥ इति श्री श्रवणरत्न समाप्तम् ॥

[१०]

॥ अथ मनन रत्नम् ॥

—:❀×❀—

दोहा—

मनन तिसी को कहत हैं, मनसे करे विचार।
बैठि इकान्तिक देश में, सोधे सार असार॥
युक्ति बाधक भेद को, अरु पुनि कहे अभेद।
तिनहीं करिके दूर होय, असम्भावना खेद॥

अर्थ यह है कि–पूर्व गुरुमुख से महावाक्यों का जो श्रवण किया था; उस को एकान्त स्थान में बैठ के, विचार करके, सार और असार का शोधन करने को 'मनन' कहते हैं।

शिष्य कहता है—"हे भगवन् ! आपने जो सार असार का शोधन कहा, सो सार क्या है ? और असार क्या है ? और इनका शोधन किस प्रकार होता है ? सो आप कृपा कर कहिये।" इस पर से गुरु कहते हैं—'हे शिष्य ! पूर्व "तत्त्वमसि" "अहंब्रह्मास्मि" इत्यादि जिन महावाक्यों का श्रवण कहा है, उन सब वाक्यों के तीन २ पद होते हैं। 'अहं' पद जीव का वाचक होता है 'ब्रह्म' पद ईश्वर का वाचक होता है, और 'अस्मि' पद चेतनमात्र का वाचक होता है।

शुद्ध-सतोगुण वाली 'माया' में चेतन का जो आभास पड़ा है, उस को 'ईश्वर' कहते हैं, और मलिन-सतोगुण वाली जो 'अविद्या' है, उस में चेतन का जो आभास है, उसको 'जीव' कहते हैं। इस प्रकार जीव अल्पज्ञ, अल्प-शक्ति, पराधीनता आदि अनेक जीवत्व धर्म वाला है। और माया में आभास जो पड़ा है, सो कैसा है ? सर्वज्ञ है सर्वशक्तिमान् है, और स्वतंत्र है, इन के अतिरिक्त और भी ईश्वर धर्म उस में बहुत हैं। परन्तु—जीव ईश्वर के अल्पज्ञता, सर्वज्ञता, आदि जितने धर्म कहे हैं सो सब औपाधिक धर्म हैं। वास्तव में उन के कोई धर्म नहीं हैं। क्योंकि—यह माया और अविद्या उपाधि है, इसी से जीव और ईश्वर में सर्वज्ञता और अल्पज्ञता का आरोपण किया जाता है, वास्तव में चेतन का कोई धर्म नहीं है।

अत –जो कोई धर्मो के सहित जीव और ईश्वर की एकता कहता है, वह महा मूर्ख है। क्योंकि–दोनो के धर्मों का आपस में विरोध है, फिर जिनका विरोध हो, उनके संबंध मे एकता कहना मूर्खता नहीं तो क्या है ? जैसे कोई मलिन–कर्म करने वाले भगी की ब्राह्मण से एकता कहें, सो वह सम्भव कैसे होगा ? ब्राह्मण का धर्म तो वेद अध्ययन आदि शुद्ध है, और भंगी का धर्म–मूत्र विष्ठा उठाना मलिन है, इस से उन धर्मों का विरोध है। और जब धर्मों को त्याग दें तो मनुष्य मात्र में एकता बन सकती है,उस में कोई भी विरोध नहीं है।

जैसे–'घटाकाश' और 'मठाकाश' को घट, मठ उपाधि के के सहित एकता कहें, तो नहीं बनती है, क्योंकि–घट मे दस सेर अन्न समाता है और मकान में हजारों मन आ सकता है, फिर उनको एकता कहना कैसे बने ? इससे उपाधि सहित एकता कहना विरुद्ध है। घट मठ रूपी उपाधि और उस के जो आनतरूप धर्म हैं, उन सर्व को त्याग के केवल आकाशमात्र को एकता बनती है। इसी प्रकार माया, अविद्या और उनके सर्वज्ञता अल्पज्ञता आदि धर्मों के सहित एकता नहीं बनती है। परन्तु–उन सर्व को त्याग के "चेतन–मात्र एकही है, यही सार है,और सर्वज्ञता–अल्पज्ञता आदिक धर्म सहित माया–अविद्या

असार है।" इस प्रकार से विचार करके सार और असार का भली प्रकार निश्चय करना चाहिये।

अब दूसरे दोहे का अर्थ करते हैं—प्रमेय कहिये 'जीव-ब्रह्म का एकत्व' गत कहिये उसमें 'असंभावना' अर्थात्—संशय, और खेद। अर्थात्—दुःख रूपी भेद की बाधक और अभेद की साधक जो युक्तियाँ हैं, उनसे 'प्रमेय-गत' असंभावना को दूर करे। यदि, ऐसा कहें कि—प्रमेयगत असंभावना क्या है? तो सुन—जब जो वेदान्त-शास्त्र के वचन जीव-ब्रह्म के 'भेद' को, अथवा 'अभेद' का कथन करते हैं? इसका नाम 'प्रमेयगत असंभावना' है। इसकी निवृत्ति के वास्ते भेद के बाधक, और अभेद के साधक युक्ति पूर्वक महावाक्यों के अर्थ का बारबार चिन्तन करना चाहिये, इसी को मनन कहते हैं।

अपने चित्त में इस प्रकार विचार करे कि—'वास्तव में द्वैत है नहीं, क्योंकि—यदि परमार्थ से द्वैत हो तो उसकी निवृत्ति नहीं होनी चाहिये, कहते हैं कि—परमार्थ से एक चेतन स्वरूप, त्रिकालाबाध है। जो वस्तु परमार्थ से सत् हो उसकी तीन काल में निवृत्ति होती नहीं है, और द्वैत की तो अद्वैत ज्ञान से निवृत्ति हो जाती है। इससे द्वैत माया-मात्र है,' सो 'माया' और उसका कार्य-प्रपंच' मिथ्या होने से शुद्ध चैतन्य में द्वैत कर सकता नहीं।

जैसे-वास्तविक रज्जु मे सर्प है ही नहीं, तो फिर वह किसको काटेगा ? तैसे ही-वास्तविक माया का स्वरूप ही सिद्ध नहीं होता है, इसी से माया को अचित्य शक्ति कहा है; जो युक्ति के आगे ठहर नहीं सक्ती।

वह युक्ति यह है कि-(१) यदि माया को 'सत्य' कहें, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि-सत्य वस्तु का नाश नहीं होता है, और माया का ज्ञान से नाश होजाता है, इससे माया सत्य नही कही जाती। और (२) जो माया को 'असत्य' कहें, तो भी बात नहीं बनती, क्योंकि-माया और माया के कार्य की जाग्रत्, स्वप्न, और सुषुप्ति तीनों काल में प्रतीत होती है, इसलिये असत्य भी नहीं कही जाती है।

(३) सत्य-असत्य' दोनों को मिला के कहे, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि-जब सत्य असत्य ही संभव नहीं तो मिलाने की बात कहाँ ? इससे किसी रीति से भी माया का स्वरूप नहीं बनता। और यदि ऐसा कहें कि-(४) माया चेतन से 'भिन्न' है, तो भी बात नहीं बनती, क्योंकि-चेतन से माया भिन्न है, तो जिस देश में माया है, उस देश में चेतन का अभाव होगा, और चेतन को तो वेद ने सर्व व्यापी कहा है, इससे वेद विरोध होगा, अत-भिन्न कहना भी नहीं बनता है। यदि ऐसा कहें कि-(५) माया चेतन से 'अभिन्न' है, सो भी नहीं बने, क्योंकि

चेतन स्वरूप में स्थिति होने को ही मोक्ष कहते हैं। जब नाना प्रकार के साधनों से चेतन स्वरूप में स्थिति होगी, तो मोक्ष दशा में जीव के साथ माया फिर चिपट जावेगी जिस से सब निष्फल होवेंगे।

अतः—माया को अभिन्न कहना भी नहीं बनता है। और फिर (६) 'भिन्न अभिन्न' मिला के कहें, सो भी नहीं बनता। यदि (७) माया को 'सावयव' कहें, तो भी नहीं बने। क्योंकि—माया सावयव हो, तो माया की प्रतीति होनी चाहिये। परन्तु वह नेत्र से किसी को प्रतीत होती नहीं है। और (८) जो माया को 'निरवयव' कहें, तो उससे जगत् की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये। क्योंकि—निरवयव पदार्थ से किसी की भी उत्पत्ति देखने में आती नहीं है। मृत्तिका आदिक सावयव पदार्थों से घट आदि की उत्पत्ति देखने में आती है, निरवयव से किसी की उत्पत्ति नहीं होती है, इससे 'माया को उपादान कारण' कहा है। परन्तु-निरवयव उपादान नहीं होता है, इससे माया को निरवयव कहना भी बनता नहीं। और (९) 'सावयव-निरवयव' मिला के कहें, सो भी नहीं बनता, क्योंकि—सावयव निरवयव तो उसका स्वरूप बना ही नहीं, तो मिला के कैसे बनता ? किन्तु-किसी भी रीति से माया का स्वरूप सिद्ध नहीं होता है इससे मिथ्या-माया से द्वैत नहीं होता है, जैसे-मिथ्या सर्प से रज्जु विकारी नहीं होती है।

तैसे ही–मिथ्या माया मे चेतन आत्मा मे द्वैत नहीं होता है। माया उसे कहते हैं कि–"है तो नही,और है, ऐसी भासे"।

जैसे–'बाजीगर की बाजी' तैसे ही ब्रह्म आत्मा का वास्तव से भेद नहीं है, और भेद को नाई प्रतीति होती है, इसी को माया कहते हैं। और जो ऊपर नौ युक्तियाँ कही हैं, उनसे माया का स्वरूप नहीं बनता है, तो आत्मा से ब्रह्म जुदा कैसे होगा ? और जो आत्मा से ब्रह्म को जुदा कहो, तो आत्मा से जो भिन्न है सो सब अनात्मा ही कहा जाता है, इससे ब्रह्म भी आत्मा से जुदा होगा ? तो यह भी अनात्मा ही होगा।

'ब्रह्म' को 'अनात्मा' किसी वेद शास्त्र ने अंगीकार किया नहीं है, इसी से जाना जाता है कि–आत्मा से ब्रह्म जुदा नहीं है। और जो आत्मा को ब्रह्म से जुदा कहें, सो भी बने नहीं, क्योंकि–जिस देश में आत्मा है उसी देश में ब्रह्म नहीं होगा, और ब्रह्म को तो वेदने 'सर्वव्यापी' कहा है अतः–वेद से विरोध होगा। यह किसी भी आस्तिक जन को अंगीकार नहीं हो सकता, इससे आत्मा भी ब्रह्म से जुदा नहीं है।

ब्रह्म और आत्मा दोनों एक ही वस्तु के नाम हैं, जैसे 'वृक्ष' और 'तरु' दोनों पर्याय हैं। जैसे–एक ही आकाश के उपाधि भेद से चार नाम कहे हैं, तैसे ही उपाधि के भेद से चेतन के अनेक

नाम कहे जाते हैं। जैसे घट उपाधि से घटाकाश कहते हैं और मठ उपाधि से मठाकाश कहते हैं, बादल की उपाधि से मेघाकाश कहते हैं, और सर्व पदार्थों के अन्दर बाहर होने से महाकाश कहा जाता है। परन्तु –आकाश में कोई टुकड़े नहीं हुवे हैं, वह तो एक ही है।

वैसे ही–कूट कहिये 'मिथ्या बुद्धि' और 'चिदाभास' उन में जो निर्विकार चेतन है, वही कूटस्थ कहा जाता है। और बुद्धि तथा अज्ञान में चेतन के आभास को जीव कहते हैं। शुद्ध–सतोगुण वाली माया में चेतन के आभास को ईश्वर कहा है, और सर्व पदार्थों के अन्दर और बाहर जो व्याप रहा है, उसको ब्रह्म कहते हैं। इस रीति से नामों का ही भेद है, वस्तु का भेद नहीं है। अर्थात्–ब्रह्म से आत्मा जुदा नहीं है, आत्मा और ब्रह्म दोनों एक ही चेतन के नाम हैं, और ब्रह्म आत्मा का जो भेद जानते हैं, उनके लिये वेदों में 'भय' का कथन किया है, भेद दृष्टि वाले को पशु भी कहा है। इससे भी जाना जाता है कि–वेद भगवान का भी अभेद में ही तात्पर्य है।

जब इस प्रकार से युक्ति पूर्वक महावाक्यों के अर्थ का चिंतन करेगा, तब ब्रह्म आत्मा का अभेद निश्चय होकर एक परिपूर्ण आत्मा ही भासेगा, और नाम–अनाम पदार्थों का भेद

भासता है; सोभी युक्ति से विचार करने पर नहीं भासेगा। सा युक्ति यह है कि–जितना पृथ्वी का कार्य घट, पट, वृत्त, पहाड़ आदि हैं, सो सभी पृथ्वी रूप ही हैं। तैसे ही–पृथ्वी जल का कार्य होने से जल रूप ही है। इसी प्रकार–जल, अग्नि का कार्य होने से अग्नि रूप ही है। ऐसे ही अग्नि, वायु का कार्य होने से वायु रूप ही है। वायु, आकाश का कार्य होने से आकाश रूप ही है, और माया–विशिष्ट ईश्वर से आकाश की उत्पत्ति कही है, सो उसका कार्य होने से माया–विशिष्ट रूप ही है। उस मे जो माया भाग है, सो तो पूर्व कही रीति से मिथ्या है, और चेतन–भाग 'ब्रह्म–आत्मा' रूप एक ही है।

इस रीति से भी द्वैत नही है, क्योंकि–किसी भी तरफ को चलो आकाश तो एक ही है, तैसे ही विधि–मुख करके देखो, तो आत्मा से ही सर्व का विधान करना पड़ेगा और जो निषेध–मुख करके देखो, तो आत्मा में ही सब का निषेध कहना होगा। किसी भी रीति से द्वैत नहीं बनता है। तेरी कल्पना में ही द्वैत है, सो कल्पना–मात्र ही है, जो तुझ अधिष्ठान से जुदी नहीं है, 'कल्पित–वस्तु अधिष्ठान से भिन्न नहीं होती है'।

ऐसी युक्तियों का बारम्बार विचार करने का नाम मनन है। इस प्रकार मनन करने से सार का ग्रहण होता है, यही उसमें रत्नपना है। और श्रवण ही उसका कारण है। क्योंकि-श्रवण बिना

मनन नहीं होता है। और साधारण असाधारण, भेद से दो प्रकार का उसका स्वरूप है। प्रमेयगत असंभावना की निवृत्ति उसका फल है। महावाक्यों का जब दृढ़ निश्चय नहीं हो, तब तक चिंतन करना चाहिये, और जब दृढ़ निश्चय हो जाय; तब नहीं करना—यही उसकी अवधि है।

॥ इति श्री मनन रत्न समाप्तम् ॥

(१०)

अथ निदिध्यासन रत्न

॥ दोहा ॥

निदिध्यासन ताको कहे, जो न हिले नहिं होठ।
विरती के प्रवाह में, होय नहीं कोइ खोट॥
वृत्ति सजाती यों उठे, अन्त करण मझार।
जैसे पुम्बे से छुटे, टूटत नाहीं तार॥

अर्थ यह है कि—पूर्व जो महावाक्यों के अनुसार जीव ब्रह्म के एकत्व का विवेचन किया; सो युक्ति पूर्वक चिंतन करने से जब दृढ़ होगया है, तो फिर उसमें बाह्य इन्द्रियों के व्यापार की, और होठ हिलाने की कुछ जरूरत नहीं, अन्दर ही से अंतःकरण से वृत्तियों के प्रवाह को चलावे और खोट कहिये—विजातीय अनात्माकार वृत्ति नहीं होने दे। अर्थात्—अन्तःकरण में 'सजाती'

कहिये–ब्रह्माकार वृत्तियों का अखंड प्रवाह ऐसा चले कि–जैसे रूई के तूलको खैंचनेसे तार बंध जाता है और टूटता नहीं, इसी प्रकार वृत्ति का प्रवाह होने को निदिध्यासन कहते हैं।

निदिध्यासन रूपी वृक्ष दृढ़ होने पर तत्काल ही फल देता है, जैसे वृक्ष के बोने में कुछ देरी नहीं लगती है, किन्तु–प्रथम जमीन को सफाई करने में ही देरी होती है। बीज तो जल्दी बोया जाता है, और फिर जल सिंचन, रखवाली से आदि लेकर जो हिफाजत करनी होती है, उसमें देरी लगती है। परन्तु–हिफाजत करने से वह वृक्ष दृढ़ता को प्राप्त होकर फल जल्दी देता है। तैसे ही 'निदिध्यासन' रूपी जो वृक्ष है, उसे उपदेशरूपी बीज के बोने में कुछ देरी नहीं लगती है, परन्तु–जमीन रूपी अन्तःकरण के मल, विक्षेप की सफाई करने में देरी लगती है। उपदेश अर्थात्–श्रवण तो हर एक जगह हो जाता है, परन्तु–बीजरूप जो श्रवण होता है, उस की मननरूप हिफाजत में देरी लगती है। क्योंकि–अनेक प्रकार की युक्ति से चिन्तनरूपी हिफाजत करनी पड़ती है, जिससे उस श्रवणरूपी बीज से मननरूपी पौधा कुछ काल पाकर दृढ़ होता है।

परन्तु–दृढ़ होने के बाद वह "निदिध्यासनरूपी वृक्ष" के रूप में होकर "ज्ञानरूपी फल" को जल्दी ही उत्पन्न कर देता है। ऐसे ज्ञानरूपी–फल के खाने से, 'अज्ञानरूपी–क्षुधा' दूर होकर दुःख

की सदा के लिये निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति होती है। इसी कारण जिज्ञासु पुरुषों को निदिध्यासन रूप वृक्ष की पुष्टि करना चाहिए, क्योंकि—यह महान् फल देता है। जैसे—किसी रत्न से बड़ा द्रव्य की प्राप्ति होती है, परन्तु—उसके नाश होने के अनेक भय रहते हैं। परन्तु—यह ज्ञान रूपी धनको तो कोई भी नाश नहीं कर सकता है। 'चोर न चोरे, राज न डंडे, न कोई छूट सके'। गुप्त—ज्ञान रूपी महान धन की ऐसी महिमा अनाड़ी लोग नहीं जान सकते हैं, इसी से निदिध्यासन को रत्न कहा है। मनन ही इसका कारण है, और जो ब्रह्म में अंतःकरण की वृत्तियों का तैलधारावत् प्रवाह है सोही निदिध्यासन का स्वरूप है। विपरीत भावना की निवृत्ति इसका फल है। यदि—कोई ऐसा पूछे कि—'विपरीत भावना किसको कहते हैं?' तो सुन—

जैसे स्वर्गादिक अनित्य हैं, तिनको नित्य जानना, और स्त्री, पुत्र अशोच्य हैं, तिनको शोच्य जानना। इसी प्रकार कृषि वाणिज्य, मदिरा—पान आदि दुःख रूप हैं, तिनको सुख—रूप जानना, और शरीर आदि अनात्म हैं तिनको आत्मरूप समझना ये चार प्रकार के कार्य अविद्या के कारण जैसे छूटे समझे जाते हैं, वैसे ही—अविद्या से यहां दृष्टान्त में शुद्ध सच्चिदानन्द, जन्म—मरण, तथा—पुण्य—पाप सुख—दुःख से रहित, एक, परिपूर्ण ब्रह्म—स्वरूप ऐसा जो आत्मा है उसको असत् जड़ दुःख

का भोगने वाला मानता है, इसी को विपरीत भावना कहते हैं, जिसकी निवृत्ति निदिध्यासन से ही होती है। क्योंकि–बारम्बार 'ब्रह्माकार वृत्ति' के होने से 'जीव–भाव' दूर होकर 'ब्रह्म–भावना' होने से अपने को 'ब्रह्म–रूप' ही करके जान सकता है, इससे जीव भाव दूर होता है। इस प्रकार विपरीत भावना की निवृत्ति निदिध्यासन का फल है। जब तक 'जीव–ब्रह्म' की एकता का दृढ निश्चय नहीं हो, तबतक निदिध्यासन करे, और जब दृढ़ निश्चय हो जावे, तब वृत्ति को परि–संख्या नहीं करे, यही इसकी अवधि है।

॥ इति श्री निदिध्यासनरत्नं समाप्तम् ॥

(१२)

अथ ज्ञान रत्न

॥ कवित्त ॥

वेदरूप उदधि में ज्ञान रत्न सुधा सम, करके यतन ताको मथि के निकालिये। गुरुदेव विष्णु है युक्ति की नेति करि, वार वार को अभ्यास ही मथन करि पालिये॥ जीव देव अधिकारी निरवल होय रहा, प्याय ज्ञान सुधा असुर अहंकार गालिये। कीनी है जुगत भयो विष्णु समो गुस सुधा, सुरों को पिलाय कर असुरों को जालिये॥१॥

अब यह है कि—एक काल में देवता दैत्यों से निर्बल हो गये, तब हार मानकर के विष्णु भगवान् के पास आके कहने लगे कि—"हे भगवन् ! हम देवता तो निर्बल हो गये हैं, आप कृपा कर के कोई ऐसी युक्ति कीजिये कि—हमारे को बल की प्राप्त हो" । तब विष्णु भगवान्, देवताओं और दैत्यों को इकट्ठे कर कहने लगे कि—"आओ समुद्र को मँथन कर अमृत निकाल के तुम्हारे को पिलावें" । अब इस सम्बन्ध में बहुत विवेचन करने से कुछ प्रयोजन नहीं है, जो कोई बात दृष्टान्त अनुकूल है—सो आगे लिखी जावेगी ।

यहाँ दृष्टान्त में विष्णु भगवान् की नाँई गुरू है, और समुद्र की नाँई वेद है; जिस में—अमृत के समान 'ज्ञान रूपी रत्न' है। इसकी प्राप्ति के लिये सत्संग से लेकर निदिध्यासन पर्यंत जो साधन कहे हैं सोई 'यत्न' हैं। इन यत्नों से ज्ञान रूपी रत्न निकालना चाहिये। गुरुओं से जो नाना प्रकार की युक्तियें द्वारा बोध सम्पादन किया है, उनको 'रस्सी' बनाके, उससे बारम्बार 'अभ्यास रूपी मँथन' करे। उस अभ्यास को पाठना अर्थात्—पुष्ट करना चाहिये। और यह जीव ही देवताओं की नाँई है, जो निर्बल कहिये, अपने व्यापक ब्रह्मभाव को भूल के अनेक प्रकार के जीवत्व धर्मों को निश्चय करके तुच्छता को प्राप्त हो रहा है, यही इसमें निर्बलता है। इस पर तेरे को एक।

"बाघ, बकरी,—न्याय"

सुनाते हैं, सो यह है कि—किसी एक बाघिन ने बाघ जाया था, उसी काल मे किसी कारण वश वह बाघिन तो भग गई, और उसका बच्चा वहीं पड़ा रह गया। तब किसी ग्वालिये ने उसे उठाकर अपनी बकरियों में मिला लिया। वह शेर का बच्चा, बकरियों का दूध पीकर उनके संग मे घास खाया करता था। वह अपने को बोकड़ा समझने लगा और काल पाय के बड़ा होगया। तब किसी दिन उन बकरियों को देख के किसी वन का एक शेर चला आया और उनको पकड़ने के वास्ते चला। ये बकरियाँ भय की मारी भगने लगीं, और उनके साथ वह शेर भी भगा।

तब वन के शेर ने कहा—"अरे मूर्ख! तू कैसा शेर है? बकरियों के संग मे भगा फिरता है"। तब वह बोला कि—"मैं शेर कैसे हू? मैं तो बोकड़ा हू"। यह सुनकर वह वन का शेर कहने लगा-"अरे मूर्ख! तू कुछ विचार के देख, जैसे शेर हम हैं, तैसाही शेर तू भी है, इन बकरियों में काहे को फिरता है? तू देख तो सही,—जैसा हमारा स्वरूप है, तैसा ही तेरा स्वरूप है"। तब उन बकरियों में रहने वाले शेर ने उस वनके शेर की तरफ देखा, और फिर अपने शरीर की तरफ देखा, तो जैसा रंग रूप

उसका था, वैसाही अपने को भी देखा। तब उसको कुछ संस्कार फुर आये और उस बन के शेर को बहाक लगाई और जिन कर्मों के संयोग से शेर का शरीर रचा था, वे भी फुर आये। तब तो वह कूदने लगा और अपने को शेर रूप जानने लगा और उन बकरियों को मार मार के खाने लगा।

इस सम्बन्ध में दृष्टांत यह है कि—यह 'चेतन' आत्मा ही एक 'शेर' है, जिसे 'मन रूप ग्वालिये' ने शरीर तथा इन्द्रियाँ रूपी बकरियों के साथ मिला दिया है। यह चेतन आत्मा शरीर व इंद्रियों में मिलकर उनके जो धर्म हैं, उन्हें वृथा ही अंगीकार करने लगा। अर्थात्—"स्थूलोई, कृशोई वधिरोहम्" ऐसा अहंकार करके अपने को शरीर मानने लगा और इस प्रकार शरीर व इंद्रियादि के धर्मों को अपने जानने लगा। तब नाना प्रकार के जीवत्व-धर्मों का अपने में आरोपण करके नाना प्रकार के दुःखों को प्राप्त हुआ। फिर किसी पुण्य कर्म के प्रभाव से बन के शेर के नाईं भी—विचारवान महात्मा पुरुष हैं, उनसे मिलाप होने पर, जब व बन के शेर की नाईं उस समझाते हैं कि—

'अरे! तू तो शुद्ध, सच्चिदानन्द, ब्रह्म-स्वरूप है; फिर अपने में शरीर इंद्रियादि के धर्मों को क्यों आरोपण करता है? तू तो उत्पत्ति-नाश रहित परिपूर्ण सर्वधर्म स रहित ब्रह्म-स्वरूप है"। जैसे बन के शेर ने बहाक लगाई थी; वैसे ही

महात्मा पुरुष 'अहं ब्रह्मास्मि" ऐसी दहाड़ सुनाते हैं; तब बकरियों के शेर की नाईं जो जिज्ञासु है, उसको पूर्व अनेक वार वेदान्तशास्त्र का श्रवण होने से, उसके संस्कार अन्त करण में सूक्ष्मरुप से स्थित होने के कारण, गुरुजनों के मुखारविन्द से वचन सुनते ही उनके वल से 'मैं ब्रह्म रुप हू" ऐसी स्मृति आजाती है, और वह अपने को ब्रह्मरूप जानता है। इस प्रकार वकरीपना जो 'जीव-भाव' है, सो छूट जाता है। यही निर्वलता इस देवतारुपी जीव मे होरही है।

जैसे-विष्णु भगवान् ने समुद्र से 'अमृत-रत्न' को निकाल के देवताओं को पिलाया, तब वे वल को प्राप्त होकर असुरों को मार सके। तैसेही-यहाँ विष्णुरूप 'गुरु' ने समुद्ररूपी 'वेद' से सुधा की नाईं जो 'ज्ञान-रत्न' है,उसको नाना प्रकार की 'युक्ति-रूपी रस्सी' से मथन करके 'अधिकारी' पुरुषों को पिलाया है। तब उन्होंने 'ब्रह्म-भाव' रूपी वल को प्राप्त करके परिच्छिन्न 'अहंकार' रूपी असुरों को मारा है। और जैसे विष्णु ने देवता और असुरों का आपस में विवाद हुआ, तव युक्ति से मोहनीरुप धारण किया, तब उस रूप को देख के असुर मोहित होगये। उस समय देवताओं को सुधा और असुरों को सुरा पिला के उनका विवाद मिटा दिया। तैसेही-देवरुपी 'जीव' और अनात्म 'अहंकार' रुपी असुरों का जो आपस में विवाद है, उसको मेटने के लिये

विष्णुरूपी 'गुरु' अनेक प्रकार की गुन, प्रगट 'युक्ति' करके परिछिन्न अहंकार रूपी असुर का ज्ञानरूपी 'अग्नि' प्रज्वलित करके उखाड़ देते हैं-यह कवित्त का अर्थ है। अब ज्ञान का कुछ कथन किया जावेगा।

"सो ज्ञान क्या है"? ऐसा कोई पूछे तो सुन-"जिससे पदार्थ की ज्ञात होवे उसको ज्ञान कहते हैं"। पदार्थों की ज्ञात तीन प्रकार से होती है। कहीं तो 'अनुमान' से ज्ञात होती है जैसे-'पर्वतो वन्हिवान्" कहीं-'स्मृति' रूप करके ज्ञात होती है जैसे-'वह महात्मा," और कहीं 'प्रत्यक्ष' रूप करके ज्ञात होती है, जैसे- 'यह महात्मा" इसी प्रकार ज्ञान भी तीन प्रकार के होते हैं।

अब ज्ञानों को दिखाते हैं-जहां पर्वत आदि में वन्हि आदि का ज्ञान है, सो 'परोक्ष-ज्ञान' होता है। परोक्ष-ज्ञान के और भी बहुत भेद हैं, सो न्याय के ग्रन्थों में लिखे हैं। परन्तु-यह अनुमान ज्ञान हेतु-अंश" में तो 'प्रत्यक्ष' ही होता है और 'साध्यअंश' में 'अनुमिति' रूप होता है। सो भी प्रत्यक्षता के अन्तर ही जो वन्हि आदि का परोक्ष ज्ञान है, उसका कारण होता है।

और जो पूर्व देखे महात्मा आदि की ज्ञात कराता है, उसको 'स्मृतिज्ञान' कहते हैं। इसके भी बहुत भेद हैं। कोई 'स्मृति'

यथार्थ–ज्ञानजन्य–संस्कारों से होती है, सो 'यथार्थ स्मृति' कही जाती है, और भ्रमज्ञान–जन्य–संस्कारों से जो स्मृति होती है वह 'अयथार्थ–स्मृति' कही जाती है। इनके भी आगे दो दो भेद हैं। कोई बात संक्षेप में लिखी हो, परन्तु–पूर्वदृष्ट पदार्थ के ज्ञान–जन्य–संस्कार विद्यमान होने, और सादृश्य–वस्तु का दर्शन आदि होने से यह 'स्मृतिज्ञान' अपने विषय का ज्ञान कराता है। परन्तु–यह भी पूर्व दृष्टत्व प्रत्यक्षता को लेकर ही "तत्" अंश स्मृति करवाता है, सो तत्अंश में तो 'स्मृतिरूप' है और पूर्व दृष्टत्वअंश में 'प्रत्यक्ष–रूप' है, इससे वह भी प्रत्यक्षरूप होने से प्रत्यक्ष की सहायता को लेकर अपने विषय की सिद्धि करता है।

जो "इदम्" पदार्थ की ज्ञात करानेवाला ज्ञान है, सो 'प्रत्यक्ष ज्ञान' कहा जाता है। जैसे–'यह महात्मा है' सो छे प्रकार का होता है। कहीं तो श्रोत्र–इंद्रिय से प्रत्यक्ष होता है, सो 'शाब्दिकज्ञान' कहाता है, और कहीं चक्षु–इंद्रिय करके होता है, सो "चाक्षुषज्ञान" कहा जाता है, और कहीं घ्राण इंद्रिय से होता है, सो "घ्राणजज्ञान" कहा जाता है, और जहा त्वचा से ज्ञान होता है, सो "त्वाच्यज्ञान" कहा जाता है, और रसना से होता है, सो "रसनाज्ञान" कहाता है, और जो मनसे होता है, सो "मानसज्ञान" कहा जाता है।

जैसे–सुख, दुख का जो ज्ञान है, सो मानस प्रत्यक्ष कहाता

है। और शब्द का ज्ञान श्रोत्र से प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही रूप का ज्ञान चक्षु से प्रत्यक्ष होता है, और गंध का ज्ञान नासिका से प्रत्यक्ष होता है, और ठंडे गर्म का ज्ञान त्वचा से प्रत्यक्ष होता है, वैसेही रसका ज्ञान रसना से प्रत्यक्ष होता है। इस रीति से प्रत्यक्ष-ज्ञान षट् प्रकार का होता है। परन्तु—यह प्रत्यक्ष ज्ञान भी दो प्रकार का होता है,—एक तो 'प्रमा' और दूसरा 'अप्रमा' कहाता है। जैसे—रज्जु में अन्धकार आदिक दोष करके सर्प आदि का जो ज्ञान है, सो 'भ्रमज्ञान' कहा जाता है, और रज्जु का जो रज्जु रूप से ज्ञान है, सो 'प्रमा-ज्ञान' होता है, इसी को 'यथार्थ-ज्ञान' भी कहते हैं।

यह तो ज्ञान का साधारण लक्षण है। और जो केवल एक आत्मा का ही ज्ञान है सो यह ज्ञान का असाधारण लक्षण है। जैसे—नेत्र से एक रूप का ही ज्ञान होता है, सो उसका साधारण लक्षण है, और यदि ऐसा पूछे कि— आत्मा का ज्ञान कौन प्रमाण से प्रत्यक्ष होता है ?' तो सुन—यह कहना ऐसा है, जैसे कोई कहे कि—"सूर्य का प्रकाश किस लौकिक पदार्थ से होता है" ? इस वचन को सुनके दूसरा पुरुष कहता है, 'अरे मूर्ख ! जितने लौकिक पदार्थ हैं, सो तो सारे ही सूर्य के प्रकाश से प्रकाशवान होते हैं, सूर्य को कौन प्रकाश कर सकता है" ? वैसे ही जितने 'प्रमाता प्रमाण प्रमेय" "ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय" 'द्रष्टा दर्शन,

दृश्य" कर्ता, क्रिया, कर्म ये सव त्रिपुटी हैं, जो ज्ञान-स्वरूप आत्मा के प्रकाश को पाकर ज्ञानवाली होती हैं, आत्मा का ज्ञान इनसे नहीं होता है। क्योंकि-ये तो सभी अनात्म और जड़ हैं।

इस प्रकार के पदार्थ से किसी का प्रकाश होता नहीं, परन्तु-जैसे अग्नि से तपा हुआ लोहा दूसरे पदार्थों को प्रकाश कर सकता है, और जला भी देता है. परन्तु उस अग्नि के प्रकाश करने में और जलाने में उस लोहे की सामर्थ्य नहीं होती है। तैसेही यह जो प्रमाता, प्रमाण आदि त्रिपुटी हैं, मो आत्मा के तादात्मसम्बन्ध से ज्ञानवाली होती हैं, तव इनसे किसी पदार्थ का ज्ञान होता है, परन्तु-आत्मा का ज्ञान उनसे कैसे होवे? आत्मा तो स्वयं प्रकाश है, और सर्व त्रिपुटी को प्रकाश करता है। इस प्रकार का चेतन आत्मा तू ही "व्यापक ब्रह्म स्वरूप है" ऐसा तू ही है, इसी वात को तू अपना निश्चय कर जव ऐसा तुझे दृढ़ निश्चय होगा, तव उसी को तू दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान जानना।

यह ज्ञान श्रोत्र सम्वन्धी 'वाक्य' से होता है. परन्तु-वाक्य दो प्रकार के होते हैं। एक तो 'महावाक्य' और दूसरे 'अवान्तर' वाक्य होते हैं। जो वाक्य 'अस्ति' रूप से बोध करे उससे परोक्ष ज्ञान होता है, जैसे 'दशमोऽस्ति" इस वाक्य से दशम का

'परोक्ष ज्ञान' ही होता है। और जहां वाक्य ऐसा बोध करे कि—"दसवां तू है" वहां वाक्य से 'अपरोक्ष ज्ञान' होता है। ऐसा "अपरोक्ष ज्ञान" तत्त्वमसि, अहंब्रह्मास्मि, प्रज्ञानमानंदं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म," आदि महावाक्यों से होता है। "मैं ब्रह्म रूप हूँ" ऐसा ज्ञान मोक्ष सम्बन्धी महावाक्य से ही होता है और 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'आनंदोवै ब्रह्म' ऐसे जो अवांतर वाक्य हैं, उनसे ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान ही होता है, सो मुक्ति का हेतु नहीं होता है।

दूसरा जो महावाक्य का उपदेश गुरुमुख से श्रवण किया है, और 'त्वम्' पद के शोधन पूर्वक अर्थात्—माया अविद्या को त्याग के, शुद्ध चेतन मात्र को सर्व-भेदों से रहित अपना ही स्वरूप करके मानने को ही, "अभेद चिन्मय (ज्ञान)" कहते हैं, और यही मुक्ति का देनेवाला है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार के ज्ञानों का कथन करने में आता है, परन्तु—वे कोई भी मुक्ति के देनेवाले नहीं हैं।

नैयायिक आदि अज्ञानाभाव को भी ज्ञान कहते हैं सो अत्यन्तविरुद्ध है, क्योंकि—ज्ञान के बिना अज्ञान का अभाव किसी रीति से बनता नहीं। अर्थात्—किसी कारण से ही कार्य का अभाव होता, जैसे—घट अभाव रूप कार्य; प्रतियोग के नाश रूप कारण के बिना अथवा—प्रतियोगी के उठा लेजाने के कारण बिना, अभाव किसी रीति से नहीं बनता है। और जो ऐसा कहें कि—

अज्ञान से ही अज्ञान का अभाव होता है, सो भी बात नहीं है, क्योंकि–आत्माश्रय आदि दोषों की प्राप्ति होगी। इससे जाना जाता है कि–अज्ञान का अभाव एक ज्ञान से ही होता है। जैसे–अन्धकार का नाश और किसी से नहीं होता है, एक प्रकाश से ही होता है। तैसे ही–अज्ञान का नाश भी और किसी से नहीं होता है, एक ज्ञान से ही नाश होता है।

इस रीति से 'अज्ञान रूप कार्य के नाश करने में एक ज्ञान ही कारण है, परन्तु यह ज्ञान भी अज्ञान के नाश करने में तभी समर्थ होता है, जब कोई 'प्रतिबन्धक' नहीं हो। प्रतिबन्धक के होने से ज्ञान अज्ञान का नाश नहीं कर सकता है, जैसे–राहू के रथ की छाया पड़ने से चन्द्रमा प्रकाश नहीं करता है और जो ऐसा कहें कि–'प्रतिबन्ध' किसको कहते हैं? तो सुन'–श्रवण से पूर्व काल में जो किसी पदार्थ में चित्त की दृढ़ आशक्ति हो, उसीका श्रवण काल में बारम्बार चिंतन होता है, उसको 'भूत–प्रतिबन्ध' कहते हैं।

और 'भावी' यह है कि–जैसे 'प्रारब्ध कर्म'। यह भी अनेक प्रकार का विलक्षण होता है, जैसे–किसी एक ही कर्म को दस शरीरों का आरम्भ करना है, तो पहले शरीर में ही 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य का श्रवण होने से भी ज्ञान नहीं होगा। क्योंकि आगे नौ जन्म बाक़ी पड़े हैं, सो ही ज्ञान के प्रतिबन्ध हैं। जैसे–

सनकादिकों ने वामदेव आदि अधिकारी प्रजा को ज्ञान का उपदेश किया, परन्तु–प्रतिबन्ध के होने से वामदेव को अपने स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हुआ, क्योंकि–एक जन्म उसका बाकी और रहा था। ऐसे जन्म रूपी प्रतिबन्ध के अभाव होने से माता के गर्भ में ही, पूर्व के श्रवण से ज्ञान होगया–यह बात शास्त्रों में प्रसिद्ध है। वैसे ही भरत के तीन जन्म बाकी रहे थे, जब उनकी निवृत्ति हुई तब उसको ज्ञान हुआ,–इसको आगामी प्रतिबन्ध कहते हैं।

तीसरा जो वर्तमान प्रतिबन्ध है, सो चार प्रकार का होता है। एक तो–' विषयों में आसक्ति" दूसरा–"बुद्धि की मन्दता" तीसरा–पूर्वकाल में जो भेद वादियों के वचनों का श्रवण किया है, उनके संस्कारों से अनेक प्रकार की वेद विरुद्ध भेद की तर्कना जिनको 'कुतर्क" कहते हैं, और–चौथा 'दुराग्रह"–विपर्यय है। इस जीव के अनेक जन्मों में जीवत्व धर्मों का दृढ़ निश्चय होने से श्रवण काल में जीव भावना बनी रहती है, और ब्रह्म भावना नहीं होती (इस को दुराग्रह जानना) जब तक यह विपर्यय होता है; तबतक 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं होता है, इसी से इसको प्रतिबन्ध कहते हैं।

'भूत–प्रतिबन्ध की और वर्तमान–प्रतिबन्ध' की तो उपाय करने से निवृत्ति होजाती है, परन्तु–तीसरा जो भावी–प्रतिबन्ध'

है, उसकी निवृत्ति विलक्षण कर्म के भोगने से ही होती है, इससे उसमे पुरुषार्थ नही चलता है, परन्तु-प्रथम दोनो की तो पुरुषार्थ करने से निवृत्ति होजाती है। इसलिये जिज्ञासु पुरुषों को उनकी निवृत्ति अवश्य करना चाहिये, क्योंकि-ज्ञान के प्रतिबन्ध से रहित होते ही मोक्षरूपी फल की प्राप्ति होती है।

"वासना" भी ज्ञान की प्रतिबन्धक होती है, और सो वासना दो प्रकार की होती है, एक तो "शुद्ध वासना" होती है, जोकि-जिज्ञासु को होती है, यह जन्मों का नाश करनेवाली है, और दूसरी "मलिन-वासना" होती है सो तीन प्रकार की होती है। एक तो लोक में पूजेजाने की जो इच्छा है उसे 'लोक-वासना' कहते हैं। दूसरी 'देह-वासना' है, वह अनेक प्रकार की होती है, "मेरी देह बहुत अच्छी है" मेरी जाति सबसे उत्कृष्ट है, मेरा अङ्ग गोरा है, सर्व शरीरों से मेरा शरीर अच्छा है"-आदि इस प्रकार की सभी वासना मलिन कही जाती है, और जन्मों के देनेवाली होती है। तथा तीसरी 'शास्त्र-वासना' होती है, सो भी कोई तो 'पाठ-वासना' होती है, कोई 'अर्थ-वासना' आदि इस प्रकार 'शास्त्र-वासना' के भी बहुत भेद हैं, परन्तु-ये सभी मलिन वासनाएँ हैं, और जन्मों के देनेवाली हैं। इसलिये यह वासना भी ज्ञान का प्रतिबन्ध होने के कारण त्याग करने के योग्य हैं।

छठा प्रतिबन्ध-'अभिनिवेश' है उसी को सांख्य-मत में 'महत्तत्त्व' कहते हैं, और वदान्त वाले उसे 'हृदय ग्रन्थी' और सूक्ष्म अहङ्कार' भी कहते हैं। पूर्व के सूक्ष्म संस्कारों का दृढ़ अभ्यास होने से जो-'अनात्म स्थूल, सूक्ष्म संघात' है, उसे आत्मारूप करके जानने और श्रवण काल में भी यही भावना बनी रहने से इस को प्रतिबन्ध कहा है।

उक्त प्रकार की भावनाओं का त्याग करना चाहिये, क्योंकि-विरोधी की निवृत्ति हुए बिना कार्य की सिद्धि होती नहीं है। इसीलिये विरोधी की निवृत्ति की आवश्यकता है। इस रीति से प्रतिबन्ध से रहित जो यथार्थ ज्ञान है; वह मोक्षरूपी फल की प्राप्ति कराता है। जो पुरुष चारों साधन सम्पन्न हो और जिसकी बुद्धि सर्व प्रतिबन्धों से रहित हो केवल उसको महावाक्य के अर्थ का श्रवण होते ही 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार ब्रह्म आत्मा के एकत्व का दृढ़ निश्चय हो जाता है। इस प्रकार के ज्ञानवान् पुरुषों के लक्षण शास्त्रों में नीचे लिखे अनुसार कहे हैं —

श्लोक —

अक्रोध-वैराग्य जितेन्द्रियस्त्व क्षमा-दया-सर्वजनप्रिय त्वम् ॥ निर्लोभ-दाता भय-शोकहीनं ज्ञानं प्रकरणा दश लक्षणाम ॥ १ ॥ निर्हंठो निर्विषादश्च नि शङ्कश्च निरहङ्कृत ॥ नृसंश्च कृतकृत्यश्च ज्ञानिनः षट्सुलक्षणम्॥

क—अर्थ यह है कि (१) क्रोध रहित होना (२) वैराग्य-वान् होना (३) जितेंद्रिय अर्थात् खोटे विषयों से मन तथा इन्द्रियों को रोकनेवाला होना (४) क्षमावान् होना (५) दयावान् होना (६) प्राणीमात्र पर विशेष प्रकार का प्रेम करने वाला होना (७ निर्लोभी होना (८) दाता अर्थात्—ब्रह्मज्ञान का देनेवाला होना (९) भयहीन, अर्थात्—जन्म मरण के भय जिसके चले गये हैं, और (१०) सासारिक पदार्थों के वियोग में जिसे शोक नहीं है,—ये दश लक्षण उसी मे होते हैं, जिसको ज्ञान की प्राप्ति हुई है।

ख—ज्ञानी पुरुषों के षट् लक्षण और भी होते हैं,—(१) निर्हठ, अर्थात्—किसी प्रकार का किसी से हठ नहीं करते हैं, (२) निर्विवाद, अर्थात्—विवाद भी किसी से नहीं करते हैं (३) नि शङ्क, अर्थात्—आत्म वस्तु में कोई भी शङ्का उन को नहीं है, और (४) किसी वेद शास्त्र की आज्ञारूपी अङ्कुश उनके शिर पर नहीं होता है, इसी से वे निरंकुश हैं (५) आत्मा में ही तृप्तरहते हैं, और (६) कृतकृत्य हैं। (इसी पर भगवान् ने कहा है.—

श्लोक—यस्यात्मरतिरेवस्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥

विज्ञानवान् किसी पदार्थ से तृप्ति को प्राप्त नहीं होता है और लौकिक तथा वैदिक सर्व कार्यों से रहित होता है) ये षट् लक्षण और उक्त दस ऐसे सोलह लक्षण ज्ञानवानों के कहे हैं।

इनके अतिरिक्त और भी 'अमानित्व' आदिक बहुत लक्षण हैं। तात्पर्य यह है कि–जितने लक्षण जिज्ञासु में होते हैं वे प्रयत्न साध्य होते हैं, और ज्ञानवान् में वे स्वाभाविक ही होते हैं।

इस बात को सुनके शिष्य कहता है–"हे भगवन्! यह जो आपने ज्ञान का कथन किया है, तिसमें ज्ञान का कारण कौन है? और उसका स्वरूप तथा-फल क्या है? और उसकी अवधि किस प्रकार है? सो ये सब आप कृपा करके बताइये।"

गुरु कहते हैं–'हे शिष्य! अब तू ज्ञान के कारण आदि का श्रवण कर, प्रथम तो 'विवेक' आदि चार ज्ञान के कारण हैं, परन्तु–ये चारो कारण श्रवण में प्रवृत्ति द्वारा हैं, क्योंकि–बहिर्मुख का तो श्रवण में अधिकार ही नहीं होता है, और श्रवणादिक जो तीन हैं सो भी 'असंभावना' और 'विपरीत' भावना की निवृत्ति द्वारा ज्ञान केकारण हैं। और साक्षात् कारण तो मात्र सम्बन्धी' महावाक्य' ही होते हैं। वे ही ज्ञान के मुख्य कारण हैं। सत्य मिथ्या का विचार करके जीव ब्रह्म की 'एकता' का जो निश्चय किया है, वही 'ज्ञान का स्वरूप' है, और–सर्व प्रकार के कर्मों से रहित होके 'ब्रह्माकार–वृत्ति'को धारण करके विचरना' ही ज्ञान का 'फल' है। जैसा अज्ञान काल में शरीर में अहंकार था कि–मैं शरीर हूं, वैसा ही अहंकार ज्ञान होने पर शुद्ध आत्मा में होता है, इसी को ज्ञान की 'अवधि' कहते हैं। इस रीति स ज्ञान रत्न का कथन किया।

॥ इति श्रीज्ञानरत्नम् समाप्तम् ॥

[१३]

अथ जीवन-मुक्त-रत्न ।

सवैया छन्द

जीवन मुक्त भये जग में, जिन आतम पूरण ब्रह्म निहार्‌या। पिंडरु प्राण के संयोगहु ते, भेद अरु भ्रांति का मूल उखार्‌या ॥ प्रारब्ध संयोग से देह वहै नित, संचित और आगामी को जार्‌या ॥ शुष्क तृणवत् भरमत है तन, इष्ट अनिष्ट अदृष्ट अधार्‌या ।

अर्थ यह है कि—जगत् में जीवन मुक्त वही है, जिसने आत्मा को "परिपूर्ण-ब्रह्म" रूप करके जाना है । पिंड प्राण के संयोग होने से पच प्रकार की जो भ्रांति है, सो दिखाते हैं:—भेद—भ्रांति, कर्ता भोक्तापने की भ्राति, सग की—भ्राति, विकार—भ्रांति, और ब्रह्म से भिन्न जगत् के सत्यपने की भ्रावि, इन पंच प्रकार की भ्रांति की निवृत्ति जिन पंच दृष्टातों से की जाती है, वे दृष्टात यह हैं.—

विंव प्रतिविंव के दृष्टात से भेद भ्रांति की निवृत्ति होती है, स्फटिक में लाल वस्त्र के लाल रंग की प्रतीति के दृष्टांत से कर्ता, भोक्तापने की भ्राति की निवृत्ति होती है, घटाकाश के दृष्टात से संग-भ्राति की निवृत्ति होती है, रज्जु में कल्पित सर्प के दृष्टात से विकार-भ्राति की निवृत्ति होती है और कनक मे कुंडल के दृष्टात

से ब्रह्म से भिन्न जगत के सत्यपने की भ्रांति की निवृत्ति होता है इस प्रकार की भ्रांति से जो नाना प्रकार का भेद भासता है उस भेद का और भ्रांति का मूल, कहिये जो–'अज्ञान' उसका, अर्थात्–ज्ञान रूपी असङ्ग शस्त्र से जिसने काट दिया है, और जिसका प्रारब्ध के अनुसार व्यवहार होता है, और जिसने संचित और आगामी को "ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहु पण्डितम्बुधा" उस ज्ञान रूपी अग्नि से जला दिया है और सूखे तृण की नाईं प्रारब्ध के बल से जिसका शरीर संसार में फिरता है। इष्ट कहिये अनुकूल और अनिष्ट कहिये प्रतिकूल अदृष्ट उन दोनों के बल से वह विचरता है, इस प्रकार अहंकारता के भाव से रहित 'जीवन-मुक्त' पुरुषों का व्यवहार होता है।

ये सारा व्यवहार ऐसा है कि–जैसी भौंरों की संध्या होती है, और जैसे कुम्हार डंडा लगा के चाक को फिरा देता है, तैसे ही प्रारब्ध रूपी डंडे से शरीर रूपी चक्कर फिरता है, जितना वेग चक्कर में पड़ता है, उतने समय तक फिरता है और वेग घटने से ठहर जाता है। तैसे ही प्रारब्ध रूपी वेग के घटने से शरीर रूपी चक्कर शांत हो जाता है।

परन्तु–सर्व ज्ञानवान् जीवन–मुक्तों का व्यवहार एकसा नहीं होता है क्योंकि–प्रारब्ध कर्म सब के विलक्षण होते हैं। प्रारब्ध के अनुसार व्यवहार भी विलक्षण होता है। किसी का प्रारब्ध कर्म

'राज-पालन' का ही होता है, जैसे-जनक राजा का। किसी का प्रारब्ध 'भिक्षावृत्ति' का हेतु होता है, जैसे-दत्त, जड़ भरतादिक। किसी का प्रारब्ध कर्म ज्ञान से उत्तर काल मे 'निवृत्ति' का हेतु होता है, जैसे याज्ञवल्क्य आदि का। किसी का कर्म ऐसा भी होता है, कि ज्ञान से उत्तरकाल में 'अधिक भोगों में प्रवृत्ति' का हेतु हो, जैसे-सिखरध्वज का। इस प्रकार जीवनमुक्त महात्माओं का कहीं तो प्रवृत्ति का व्यवहार और कहीं निवृत्ति का व्यवहार देखने और सुनने में आता है।

परन्तु-प्रारब्ध के विलक्षण होने से व्यवहार भी विलक्षण ही होता है। परमार्थ में तो सभी का एकही निशाना है, सो निशाना क्या है ? "मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ" ऐसा जो जानने का है, सो एकही बात है। इस में किंचिन्मात्र भी भेद नहीं है, और जितना व्यवहार भेद प्रतीत होता है, सो सभी 'प्रारब्ध-कर्म' से भासता है। सो प्रारब्ध भी ऐसा है, जैसे-शुक्ति में रजत कल्पित होता है, तैसे-'मैं ब्रह्म-आत्मा सर्व का अधिष्ठान होने से, मेरे में कर्त्ता, क्रिया, कर्म सब कल्पितरूप हैं"।

फिर कोई तो लिंग सन्यास धारण करके विचरते हैं, कोई तीर्थ में ही प्रारब्ध के आधीन विचरते हैं, कोई विधि कर्म को ही करते हैं, और कोई विधि को नहीं भी करते। परन्तु-जैसे आकाश धूवें में लिपायमान नहीं होता है, तैसे ही जीवन्मुक्त किसी भी कर्म

से लिपायमान नहीं होते हैं, क्योंकि-वे निस्पृही हैं। जिनको मुक्ति की भी इच्छा नहीं होती है, उनके समान और कोई मनुष्य, देवता तथा वर्णाश्रम वाला नहीं होता है, इसी से उनको 'अति-आश्रमी' और 'अति-आश्रय' भी कहते हैं। ऐसे जीवन मुक्त विद्वान् किसी पुण्य पाप कर्म से लिपायमान नहीं होते हैं, चाहे वे किसी विधि कर्म को करें चाहे न करें।

यह सुन शिष्य शंका करता है-"हे भगवन्! जिन संध्या गायत्री आदि कर्मों को पाप निवृत्ति के वास्ते वेद ने कथन किया है; उन कर्मों को "जीवन-मुक्त" नहीं करेगा-तो उसको भी पाप होगा?" इस पर से गुरु कहते हैं:—

'हे शिष्य! वेद ने पाप निवृत्ति के वास्ते संध्या गायत्री कर्म का जो कथन किया है, सो सब दिन तथा-सब पुरुषों के वास्ते करने को नहीं कहा है। किन्तु-किसी काल में उनके करने का निषेध भी किया है, जैसे-सूतक पातक में उनका निषेध भी किया है। ऐसे ही ज्ञानवान् के लिये भी सर्व कर्मों का निषेध ही कथन किया है, क्योंकि-उनके घर में सूतक और पातक दोनों होते हैं।

कुण्डलिया

ममता माई मरि गई, पुत्र उपजा बोध॥ सूतक पातक दो हुये, घर में रही न सोध॥ घर में रही

न सोध कैसे अब करिये सन्ध्या ॥ शास्त्र वर्जित कर्म करे सोई जानो अन्धा ॥ गुप्त माहिं किरिया लखे सो नर मूरख जान ॥ सन्ध्या गायत्री बिना सदा एक निरवान ॥ १ ॥

जिसके घर में एक सूतक के होते सन्ध्या गायत्री का निषेध कहा है; फिर जिसके यहाँ 'सूतक, पातक' दोनों इकट्ठे हों, उसको क्या करना चाहिये ? वह तो निषेध रूप ही है, क्योंकि—जीवन मुक्त ज्ञानवान् पुरुष विधि के भी किंकर नहीं होते हैं । वे तो विधि और निषेध दोनों के शिर पर पैर धर के वर्तते हैं । केवल प्रारब्ध के ही आधीन उनका व्यवहार होता है । उनकी क्रिया का नियम नहीं होता है, इसी से उनको जीनमुक्त कहते हैं । शिष्य शका करता है—

"हे भगवन् ! यह जो जीवनमुक्त के सम्बन्ध में आपने कहा है-सो तो जब सिद्ध हो, तो ऐसा होता है, परन्तु—पहिले 'जीवत्वबन्ध" क्या है ? सो आप कृपा करके बताइये" ।

गुरू कहते हैं—'हे शिष्य ! तीन शरीर और पंच कोषों में जो कर्त्ता भोक्तापने का परिछिन्न अहंकार" हो रहा है, यही जीवत्वबन्ध" है । जैसे चोर आदि के वास्ते कारागृह बन्धन होता है और उनके हाथों में हथकड़ी, पैरों में बेड़ी, गले में तौक-जजीर, और हाथ रस्सी से बाँधकर, उसे कारागृह में रोक

से लिपायमान नहीं होते हैं, क्योंकि-वे निस्पृही हैं। जिनको मुक्ति की भी इच्छा नहीं होती है, उनके समान और कोई मनुष्य, देवता तथा वर्णाश्रम वाला नहीं होता है, इसी से उनको 'अति-आश्रमी' और 'अति-आश्रम' भी कहते हैं। ऐसे जीवन मुक्त विद्वान् किसी पुण्य पाप कर्म से लिपायमान नहीं होते हैं, चाहे वे किसी विधि कर्म को करें चाहे न करें।

यह सुन शिष्य शंका करता है-"हे भगवन्! जिन संध्या गायत्री आदि कर्मों को पाप निवृत्ति के वास्ते वेद ने कथन किया है, उन कर्मों को "जीवन-मुक्त" नहीं करेगा-तो उसको भी पाप होगा ?" इस पर से गुरू कहते हैं:—

'हे शिष्य! वेद ने पाप निवृत्ति के वास्ते संध्या गायत्री कर्म का जो कथन किया है, सो सब दिन तथा-सब पुरुषों के वास्ते करने को नहीं कहा है। किन्तु-किसी काल में उनके करने का निषेध भी किया है, जैसे-सूतक पातक में उनका निषेध भी किया है। ऐसे ही ज्ञानवान् के लिये भी सर्व कर्मों का निषेध ही कथन किया है, क्योंकि-उनके घर में सूतक और पातक दोनों होते हैं।

कुण्डलिया

ममता माई मरि गई, पुत्र उपजा बोध॥ सूतक पातक दो हुये, घर में रही न सोध॥ घर में रही

उस परिछिन्न मलिन अहङ्कार को छोड़ देता है, तब यह बंध से छूट जाता है। यही उसका 'जीवन-मोक्ष' है। स्थूल शरीर के और प्राण के सयोग रहते "बंध भ्रान्ति की निवृत्ति" और "ब्रह्माकार वृत्ति का स्थिति" को ही जीवन्मोक्ष कहते हैं"। जीवन्मुक्ति को सुन के प्रसन्न चित्त होकर शिष्य पूछता है-"हे भगवन् ! यह जो आपने जीवन्मुक्त का कथन किया है-सो उसका कारण कौन है ? और उसका स्वरूप तथा-फल क्या है ? और उसकी अवधि किस प्रकार है ? सो आप कृपा करके बताइये"।

गुरु कहते हैं-"हे शिष्य ! पूर्व जो जीव ब्रह्म का एकत्व रूपी दृढ निश्चय को अपरोक्ष-ज्ञान कहा था, सो दृढ़ अपरोक्ष-ज्ञान ही जीवन-मुक्ति का कारण है, और पूर्व कहा है कि-शरीर के होते बंध भ्रान्ति की निवृत्ति और ब्रह्माकार-वृत्ति की स्थिति ही जीवन्मुक्त का स्वरूप है। जीवन्मुक्ति के पाच प्रयोजन कहे हैं, सो ये हैं, 'ज्ञान-रक्षा' विष्णु, वादाऽभाव, तथात-प, दु:ख की निवृत्ति और सुख की प्रगटता। ये जो पाच प्रयोजन कहे हैं, सो ही जीवन्मुक्ति का फल है, और विदेह मुक्ति पर्यंत उसकी अवधि है। वेद रूपी समुद्र से अनेक साधन रूपी यत्न करके विद्वान् पुरुषों ने जीवन्मुक्ति रूपी रत्न निकाला है यही उसमें लक्ष्मी के समान रत्न पना है। जीवन्मुक्त पुरुषों के लक्षण इस प्रकार होते हैं।

बेड़ी है, और पहरेदार सिपाही उसकी रखवाली करते हैं, यदि वह कभी बाहर निकलना चाहे, तो उसके सिर में डंडा मारते हैं। वैसे ही—अज्ञानी पुरुषों के अध्यासरूपी तौक गले में पड़ा है, और ममतारूपी बेड़ी पैरों में पड़ी है, और पदार्थों में जो प्रीति है, सो ही रस्सी है, इससे हाथ बाँधके रखा है, और अज्ञान रूपी कारागृह में बांधकर रखा है, और मोह रूपी सिपाही पहरेदार रहता है, यदि—वह कभी अज्ञान रूपी कारागृह से निकलना चाहे, तो मोह रूपी सिपाही 'अहं,मम' रूप डंडा मारता है, तब वह बंध में पड़ा पड़ा रोता है, और नाना प्रकार के जन्म-मरण रूपी दुखों को भोगता है। यही इस जीव को "जीवतबन्ध" है। और और यह अपने आपही बंधा है,किसी दूसरे ने नहीं बांधा है, जैसे—मर्कट मुट्ठी बांध के छोड़ता नहीं है, और जैसे कोई पुरुष किसी स्थंभ को बाथ भर ले और समझे कि—'मुझे वृक्ष ने पकड़ा है' वास्तव में उस पुरुष ने ही वृक्ष को पकड़ा है और वह उसको छोड़दे; तो छूट जाता है।

दोहा—

तुझको नहिं पकड़्या जगत् ने, तैनेहि पकड़्या आनि।
ज्यों नलिनी का सूवटा, योंही पकड़्या जानि॥

इसी तरह तीन शरीर और पंच कोषों में इस जीवात्मा ने ही अहंकार किया है, यही उसका 'जीवत-बंध' है। जब वह

आनिये ॥ भेद औ अभेद नाहीं, विधि औ निषेध नाहीं, आन जान खेद नाहीं, गुप्तरूप जानि के भर्म सब भानिये ॥ १ ॥

अर्थ यह है कि–यह जो विदेह मोक्ष है इसमें अने प्रकार का शास्त्रकारों का कथन है; इसमें किस की बात मानें, और किसकी नहीं मानें ? क्योंकि–"कोई तो विदेह मोक्ष में 'ईश्वर से अभेद' कहते हैं, और कोई 'शुद्ध-ब्रह्म से अभेद' कहते हैं, कोई 'किसी लोक में जाने को' मोक्ष कहते हैं, कोई 'पुनरावृत्ति' नहीं मानते हैं और कोई 'पुनरावृत्ति' मानते हैं। इसी प्रकार कोई 'कर्म से मोक्ष' मानते हैं, और कोई 'शिला मे हीं मोक्ष' मानते हैं। इस तरह कई लोग अपनी अपनी कल्पना के अनुसार अनेक बातें करते हैं।"

हम भी अपनी कल्पना के अनुसार कहते हैं कि–"बन्ध और मोक्ष' दोनों ही 'कल्पना' मात्र होने से वास्तव मे 'कल्पित' हैं और ये सब 'भ्रमरूप' हैं। सर्व का अधिष्ठान गुप्त आत्मा है। उसमें भेद-अभेद, विधि-निषेध, आना, जाना, पुण्य-पाप, सुख-दुख, आदि जो अविद्या का जाल प्रतीत होता है, सो सभी "भ्रमरूप" है। परन्तु-जैसे रज्जु के अज्ञान से सर्पादिक भ्रम भासते हैं, और रज्जु के अपरोक्ष ज्ञान से सभी भ्रम शात हो जाते हैं, तैसे ही-गुप्त आत्मा के अज्ञान से आना-जाना, बन्ध-

श्रुति —(दत्तोपनिषद्)

' नवंबो नहिशानयज्ञोपवीतं, नाध्याबलंबरविरमहंस "

श्लोक –कथाकौपीनवासास्तु दण्डधृग् ध्यानतत्पर'॥
एकाकी रमते नित्यं, तदेवा ब्राह्मण विदु' ॥१॥
निराशिषमनारम्भं, निर्नमस्कारमस्तुतिम् ।
क्षीणञ्च क्षीणकर्माण, त देवा ब्राह्मणं विदु"॥२॥
न जाति कारण तात ! गुणा कल्याणकारणम् ।
स्थित वृत्तिश्चाण्डालोऽपि, तदेवा ब्राह्मण विदु ॥३॥

॥ इति श्री जीवन–मुक्त–रत्न समाप्तम ॥

[१४]

अथ विदेह–मुक्त–रत्न ।

कवित्त–विदेह मोक्ष के मझार पड़ा झगड़ा अपार, कहें पात जो हजार कहो कौन से की मानिये ॥ कोई तो कहत यह ईश्वर से अभेद होय, कोई तो कहत शुद्ध ब्रह्म से जानिये ॥ और कोई कहे किसी लोक माही मोक्ष होत, कोइ तो कहत तासे अवटाइ

बनता है। तैसे ही बिंब जो शुद्ध-चेतन और प्रतिबिंब 'जीव' व 'ईश्वर' जल दर्पण की नाईं है।

ईश्वर में माया और जीव में अविद्या-रूपी उपाधि है। एक अविद्या-उपाधि के निवृत्त होने से माया-उपाधि वाला जो ईश्वर-प्रतिबिंब है, उसके साथ जीव-प्रतिबिंब की 'एकता' कहना नहीं बनता है, और बिंबरूप जो शुद्ध-चेतन है, उसमें अभेद कहना तभी बनेगा, जब उसमे भेद हो? अत-उससे किसी वस्तु का भेद कहना बनता नहीं, क्योंकि-"चेतन में वास्तव में तो कुछ है ही नहीं, और है सो कल्पित है।" ऐसा कहें-तो उससे कुछ भेद सिद्ध होता नहीं है। क्योंकि-जैसे कल्पित रजत से शुक्ति मे भेद होता नहीं है, तैसे-ही मुझ शुद्ध आत्मा में माया, अविद्या, उपाधि, जिसमें प्रतिबिंब, ईश्वर, तथा-जीव और इनके सर्वज्ञता, अल्पज्ञता, आदि जो धर्म हैं, सो सब मेरे में कल्पित होने से भेद और अभेद कहना नहीं बनता है। इसलिये सर्व, द्वैत कल्पना से रहित एक मैं ही परिपूर्ण हूं।

श्लोकः—

किं करोमि क्व गच्छामि, किं गृह्णामि त्यजामि किम्।
आत्मना पूरितं सर्वं, महाकल्पाम्बुना यथा॥ १॥

जब इस प्रकार जान के शरीर का बोध होगा, तब पुनरा वृत्ति से रहित हो सकेगा। इसी को विदेह मोक्ष कहते हैं।

क्लेश, आदि जो कुछ प्रतीत होता है; सो सभी आत्मा के 'यथार्थ-ज्ञान' से निवृत्त हो जाता है। फिर कहीं जाने की इच्छा नहीं होती है, जैसे-घट के फूटने से घटाकाश कहीं भी नहीं जाता है, क्योंकि-आकाश नहीं हो; तब तो आना-जाना संभव हो सकता है, परन्तु-आकाश तो सर्वत्र परिपूर्ण है फिर जाता कहां ?"

शिष्य शंका करता- 'हे भगवन्! घट के फूटने से घटाकाश का मठाकाश में अभेद होता है, आप कैसे कहते हो कि-घटाकाश कहीं नहीं जाता है ?" इसी प्रकार 'शरीररूपी जो घट है' उसके नाश होने से घटाकाशरूपी जो जीवात्मा' का 'मठाकाशरूपी ईश्वर' से अथवा-'महाकाशरूपी शुद्ध-ब्रह्म' से अभेद कैसे नहीं होता है ? मेरे विचार तो जरूर "जीवात्मा का अभेद" मानना चाहिये।" इस शंका के उत्तर में-

गुरु कहते हैं-'हे शिष्य! ईश्वर से जीव का अभेद मानें सो नहीं बनता है। क्योंकि-जैसे एक ही बिंब का एक प्रतिबिंब तो दर्पण में होता है; और दूसरा जल में होता है, तब एक उपाधि के निवृत्त होने से दूसरी उपाधि के प्रतिबिंब से एकता कहें; सो नहीं होगी। और जो बिंबसे अभेद कहें, तो यह भी नहीं बनता। क्योंकि-प्रथम जिसका भेद होवे, उसी का अभेद होता है, और जिसका उपाधि से भेद प्रतीत हो; उसका भेद नहीं होता है-वह उसका स्वरूप ही है। इसलिये बिंब से भी अभेद कहना नहीं

वनता है। तैसे ही विंव जो शुद्ध–चेतन और प्रतिविंव 'जीव' व 'ईश्वर' जल दर्पण की नाईं है।

ईश्वर मे माया और जीव में अविद्या–रूपी उपाधि है। एक अविद्या–उपाधि के निवृत्त होने से माया–उपाधि वाला जो ईश्वर–प्रतिविंव है, उसके साथ जीव–प्रतिविंव की 'एकता' कहना नहीं वनता है, और विंवरूप जो शुद्ध-चेतन है, उससे अभेद कहना तभी वनेगा, जव उसमें भेद हो ? अत–उससे किसी वस्तु का भेद कहना वनता नहीं, क्योकि–"चेतन में वास्तव मे तो कुछ है ही नहीं, और है सो कल्पित है।" ऐसा कहे–तो उससे कुछ भेद सिद्ध होता नहीं है। क्योंकि–जैसे कल्पित रजत से शुक्ति मे भेद होता नहीं है, तैसे–ही मुझ शुद्ध आत्मा में माया, अविद्या, उपाधि, जिसमें प्रतिविंव, ईश्वर, तथा–जीव और इनके सर्वज्ञता, अल्पज्ञता, आदि जो धर्म हैं, सो सव मेरे में कल्पित होने से भेद और अभेद कहना नहीं वनता है। इसलिये सर्व, द्वैत कल्पना से रहित एक मैं ही परिपूर्ण हूं।

श्लोकः—

किं करोमि क्व गच्छामि, किं गृह्णामि त्यजामि किम्।
आत्मना पूरितं सर्वं, महाकल्पाम्बुना यथा॥ १॥

जब इस प्रकार जान के शरीर का वोध होगा, तव पुनरा वृत्ति से रहित हो सकेगा। इसी को विदेह मोक्ष कहते हैं।

शिष्य कहता है,–' हे भगवान् ! यह जो आपने विदेह मोक्ष कहा; इसमें–उत्तम–देश, उत्तरायण–काल और किसी सिद्ध–आसन आदिक की अपेक्षा तो होगी ?" ऐसी शंका के होने पर—

गुरु कहते हैं—"हे शिष्य ! जैसा पूर्व में जीवन्मुक्त पुरुष का जो वर्णन किया है उसके देह पात होने में किसी उत्तम देश का उत्तरायण–काल का, और आसन–विशेष का किसी वेद, शास्त्र ने विधान नहीं किया है। क्योंकि–ज्ञान से उत्तर काल में जीवन–मुक्त अवस्था में किसी वेद–शास्त्र की विधि उस पर नहीं है, तो देह के अन्त काल पर विधि का होना कैसे सम्भव होगा ? ऐसे–विद्वान् पुरुष का जीते समय तथा मरते समय जो व्यवहार होता है, सो सारा ही प्रारब्ध के आधीन होता है, और कोई विधि उस पर नहीं होती है, इससे किसी भी ध्यानादि की उसको परवाह नहीं है।

श्लोक'—

तीर्थे स्वपचगेहे वा, नष्टस्मृतिरपि त्यजन् ।
ज्ञानस्य समकाले हि, विमुक्तः केवलं यतिः ॥

इसी से जीवन्मुक्त पुरुष को विदेहमोक्ष के वास्ते कोई भी विधि आदिक की अपेक्षा नहीं है।

चाहे तीर्थ में, चाहे स्वपच के गृह में देह प्राण का वियोग होवे चाहे व्याधि से हाहाकार करते हुवे, चाहे सावधान होकर

ब्रह्म चिंतन करते हुए, किसी भी प्रकार से तिसके शरीर का पात हो, उसने तो जिस काल में गुरु द्वारा महावाक्यों का उपदेश श्रवण किया, उसी काल से वह सर्व शोको से रहित है, और उसी काल से मुक्त है। फिर उसको कौन विधि की जरूरत है? इस प्रकार के जो ज्ञानवान् निरंकुश हैं, उनको किसी वेद-विधि की शंका नहीं होती है, क्योंकि-वे वेद के दास नहीं होते है, और किसी वर्ण-आश्रम का भी अभिमान उनको नहीं रहता है।

श्रुतिः—

वर्णाश्रमाऽभिमानेन श्रुति-दासो भवेन्नरः।
वर्णाश्रमविहीनश्च वर्तते श्रुतिमूर्धनि ॥ १ ॥

अर्थ यह है कि—जो वर्णाश्रम का अभिमानी होता है, सो ही वेद का किंकर होता है, और जो जीवन्मुक्त विद्वान् है, सो किसी वर्णाश्रम का अभिमानी नहीं होता है, इसी से उसपर वेद का भी डंडा नहीं है, इसलिये वह सब वेद शास्त्र को उत्क्रमण करके वर्तता है। यही कारण है कि-उसके विदेह मोक्ष में कोई भी विधि नहीं है, क्योंकि-मुक्त तो ज्ञान काल से ही है, परन्तु-शरीर का बोध होने से 'विदेह-मोक्ष' कहा जाता है।

और यह जो साधन साध्य रूप जितना कथन किया है, सो सारा तेरी उक्त शंका की निवृत्ति के वास्ते है, क्योंकि-पूर्व ग्रन्थ

शिष्य कहता है,–' हे भगवान् ! यह जो आपने विदेह मोक्ष कहा; इसमें–उत्तम–देश, उत्तरायण–काल और किसी सिद्ध–आसन आदिक की अपेक्षा तो होगी ?" ऐसी शंका के होने पर—

गुरु कहते हैं—"हे शिष्य ! जैसा पूर्व में जीवन्मुक्त पुरुष का जो वर्णन किया है उसके देह पात होने में किसी उत्तम देश का उत्तरायण–काल का, और आसन–विशेष का किसी वेद, शास्त्र ने विधान नहीं किया है। क्योंकि–ज्ञान से उत्तर काल में जीवन–मुक्त अवस्था में किसी वेद–शास्त्र की विधि उस पर नहीं हैं, तो देह के अन्त होने पर विधि का होना कैसे सम्भव होगा ? ऐसे–विद्वान् पुरुष का जीते समय तथा मरते समय जो व्यवहार होता है, सो सारा ही प्रारब्ध के आधीन होता है, और कोई विधि उस पर नहीं होती है, इससे किसी भी ध्यानादि की उसको परतन्त्रता नहीं है।

श्लोक—

तीर्थे स्वपचगेहे वा, नष्टस्मृतिरपि त्यजन् ।
ज्ञानस्य समकाले हि, विमुक्तः केवलं यतिः ॥

इसी से जीवन्मुक्त पुरुष को विदेहमोक्ष के वास्ते कोई भी विधि आदिक की अपेक्षा नहीं है।

चाहे तीर्थ में, चाहे स्वपच के गृह में पिंड प्राण का वियोग होवे चाहे व्याधि से हाहाकार करते हुवे, चाहे सावधान होकर

ब्रह्म चिंतन करते हुए, किसी भी प्रकार से तिसके शरीर का पात हो, उसने तो जिस काल में गुरु द्वारा महावाक्यों का उपदेश श्रवण किया, उसी काल से वह सर्व शोकों से रहित है, और उसी काल से मुक्त है। फिर उसको कौन विधि की जरूरत है? इस प्रकार के जो ज्ञानवान् निरंकुश हैं, उनको किसी वेद-विधि की शंका नहीं होती है, क्योंकि-वे वेद के दास नहीं होते हैं, और किसी वर्ण-आश्रम का भी अभिमान उनको नहीं रहता है।

श्रुतिः—

वर्णाश्रमाऽभिमानेन श्रुति-दासो भवेन्नरः।
वर्णाश्रमविहीनश्च वर्तते श्रुतिमूर्धनि ॥ १ ॥

अर्थ यह है कि—जो वर्णाश्रम का अभिमानी होता है, सो ही वेद का किंकर होता है, और जो जीवन्मुक्त विद्वान् है, सो किसी वर्णाश्रम का अभिमानी नहीं होता है, इसी से उसपर वेद का भी डंडा नहीं है, इसलिये वह सब वेद शास्त्र को उत्क्रमण करके वर्तता है। यही कारण है कि-उसके विदेह मोक्ष में कोई भी विधि नहीं है, क्योंकि-मुक्त तो ज्ञान काल से ही है, परन्तु-शरीर का बोध होने से 'विदेह-मोक्ष' कहा जाता है।

और यह जो साधन साध्य रूप जितना कथन किया है, सो सारा तेरी उक्त शंका की निवृत्ति के वास्ते है, क्योंकि-पूर्व ग्रन्थ

के आरम्भ में तरे को सुख–प्राप्ति की वांछा हुई थी, सो आत्मा को सुख–रूप न जानने के कारण हुई थी। यह 'सुख–रूप तूही है, तेरे से भिन्न और कोई दूसरा है ही नहीं, और तूही सुख–स्वरूप है" इसी के ज्ञान कराने के लिये सत्संग से लेकर विदेह–मोक्ष पर्यंत जो कुछ कथन किया गया है, सो सब तेरी ही दृष्टि को लेकर कहा गया है, हमारी दृष्टि में तो ऐसा है—

श्लोक —

नचोत्पत्तिर्नो निरोधो न च बंधोऽस्ति साधके ॥
न मुमुक्षुर्न मुक्त स्य इत्येषा परमार्थता ॥ १ ॥

अर्थ यह है कि—"हे शिष्य! कोई उत्पन्न ही नहीं हुआ, तो नाश किसका होवे ? और प्रथम कोई बन्ध ही नहीं, तो उस के वास्ते साधन कैसे होवे ? और कोई मुमुक्षुही नहीं, तो मुक्त कहां स होवे ? ये तो परमार्थ से है ही नहीं" हम तो ऐसा ही जानते हैं। तू भी ऐसा ही जान। 'सुख की प्राप्ति की और प्राप्त की प्राप्ति की इच्छा भरकर तू सदा चेतन–आत्मा सुखरूप प्राप्त ही है"। इस बात को सुन के शिष्य कहता है—

"हे भगवन्! मैं चेतन आत्मा सुखरूप और नित्य–प्राप्त ही हूं इसकी प्राप्ति सम्बन्धी मेरी शंका निवृत्त होगई है। अब मेरे को कुछ भी शंका नहीं है, परन्तु–यह जो आपने विदेह–मोक्ष

कहा इस का कारण कौन ? और इसका स्वरूप तथा-फल क्या है ? और इसकी अवधि क्या है ? सो बताइये।"

गुरू कहते हैं-"हे शिष्य! सत्संग से लेकर ज्ञान पर्यंत जो साधन-साध्य पदार्थ कहे हैं; सो परम्परा से तो सभी कारण हैं; परन्तु-साक्षात् कारण 'जीवन्मुक्ति' ही है, और 'पुनरावृत्ति' से रहित होना; इस का स्वरूप है। और 'अपने स्वरूप का ज्ञात होना' और उसी की तरफ वृत्तियों का प्रवाह चलना, यही इस का फल है। नदियां जैसे-समुद्र में जाके समाप्त होती हैं, तैसे ही-"ब्रह्म-आत्मारूप समुद्र में ब्रह्माकार वृत्तियों की समाप्ती ही इसकी अवधी है।

ॐ

॥ इति श्री विदेह-मुक्ति-रत्न समाप्तम् ॥

॥ इति श्री चौदह रत्न सम्पूर्ण ॥
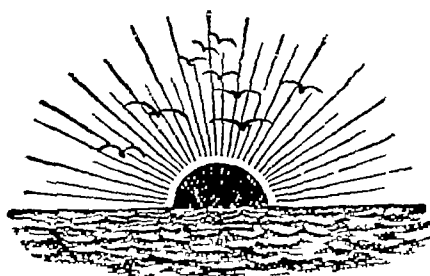
श्रीमहाप्रभु अवधूत श्री १०८ श्री नित्यानन्दजी महाराज ।

ॐ

❀ श्रीगणेशाय नमः ❀

थ गुप्त-ज्ञान गुटका प्रारम्भः

अथ मङ्गलाचरणं लिख्यते

ग्रन्थ की आदि मे मंगलाचरण लिखते हैं, सो मंगलाचरण न प्रकार का होता है, एक वस्तु निर्देश-रूप, दूसरा नमस्कार ा, तीसरा आशीर्वाद रूप-मंगलाचरण होता है। ग्रन्थ की आदि मंगलाचरण चाहिये, क्योंकि-पूर्व वृद्ध जो आचार्य हुये हैं, नको रीति से—

(१)

❀ वस्तु-निर्देश-रूप मंगल ❀

दोहा—

निर्गुण सगुण परमात्मा, वस्तु ताहि पिछान ।
भिन्न भिन्न कीर्तनको, निर्देश हि लेजान ॥

❀ नमस्कार-रूप मंगल ❀

चौपाई—

असुरन को जो करे संहारा । तिनको नमस्कार है म्हारा ।
लक्ष्मी पारवती पति होई । भजतन को सन्तत भजे सोई ॥

❀ आशीर्वाद–रूप मंगल ❀

सोरठा—

शिष्य वांछित स्वर्ग मांहि, करत प्रार्थना जो नर ।
नासे दूर रहै भ्रांति, आशीर्वाद ताको कहत ॥

(२)

❀ मूल चक्र सवैया छन्द ❀

मूल चक्र माहिं गणेश विराजत । स्वाद चक्र माहिं कियो ब्रह्मवासा ।
नाभि कमल में विष्णु विश्वम्भर । हृदय कमल महँ महादेव निवासा ।
कंठ कमल में बसे देवी नित । त्रिकुटी कमल महँ सूर्य उजासा ।
सहस्रकमलदल आप विराजत । जाके प्रकाश सभी परकासा ।
मम गुरु स्वरूप से न्यारो नहीं कछु । जाको मनाऊँ कहो मनमाना ।

(३)

❀ लावनी दोहों वाली भ्रमनाशक ❀

लावनी सुन बारहमासी । कटे सब जन्म-मरन फाँसी ॥ टेक—
चैत में चिंता यह कीजे । कि यह तन घड़ी घड़ी छीजे ॥
कीजिये इसमें कछू विचार । कौन वस्तू है सार असार ॥

दोहा—

सत्य वस्तु है आत्मा, मिथ्या जगत असार ।
मिथ्या नित्य विवेक यह, कीजे बाल विचार ॥

फिरे क्या मथुरा अरु काशी ॥ १ ॥ टेक—
बैसाख यह वक्त तुमने पाया । सभी झूँठी मानो काया ।
यहाँ कोई रहने नहीं पाया । काल ने सब कोई खाया ॥

दोहा—

भोग लोक परलोक के, तिनका त्यागो राग।
तिनकी रहे न कामना, कहत नाहि वैराग ॥

जगत से रहना ऊदासी ॥ ॥

जेठ में यतन यही करना। मिटै सब जनम और मरना।
विषयते मन इन्द्रिय परिहरना। लीजिये सन्तन का शरना ॥

दोहा—

श्रद्धा करि गुरु वेद में, मनको कर समाधान।
कर्म अकर्म के साधन त्यागो, सहो मान अपमान ॥

तितिक्षा तोसों परकासी।

षाढ में सत संगत करना। वहा तुमे पावे सब भरमा ॥
तुझे वहां होवे जिज्ञासा। मोक्ष की लगे फेरि आशा ॥

दोहा—

परमानंद की प्राप्ति, सब अनर्थ का नास।
यह इच्छा मन में रहे, कहें मुमुक्षुता तास ॥

तिसी से पावे अविनासी ॥ ४ ॥

सावन में शरनागत होना। पैर सतगुरू के धो पीना ॥
साफ होवे तेरा सीना। रग फिर रैनी का दीना ॥

दोहा—

तत्त्वमसि के अर्थ का, करैं तोहिं परकास।
संशय शोक नसैं सबतेरे, होय अविद्यानास ॥

होय अमरा पुर का वासी ॥ ५ ॥

५ मार्गों में सरस सभी नाशै। प्रेम मस्ती गुरु परकाशै ॥
ईश्वर से अधिक जान सेवो। सुफल मानुषतन कर लेवो ॥

दोहा—

ब्रह्म वेत्ता वक्ता अति, गुरुका लक्षण जान।
इच्छा जाने मोक्ष की, सोई शिष्य पहिचान ॥

बुद्धि सब शिष्य की परकासी ॥ ६ ॥

क्वांर में करना यही उपाय। तत्त्वमसि सरवन में मनआय ॥
जुगति से करो मनन अभ्यास। काल पाकर हाय निदिध्यास ॥

दोहा—

निदिध्यासन के अन्त में, ऐसा होवे भान।
ब्रह्म आत्मा एक है, लखि यही ब्रह्मका ज्ञान ॥

हानि होय जिससे चौरासी ॥ ७ ॥

कातिक में कर्म सभी नासा। ज्ञान सब उर में परकासा ॥
आपना आप रूप भासा। उसी का देखूं तमासा ॥

दोहा—

वार पार हमरा नहीं, नहिं वेद काखते अंत।
मैं ही अखंडित एक हूं सब वस्तू का तंत ॥

मैं ही हूं चेतन अविनासी ॥ ८ ॥

अगहन में ज्ञान अग्नि जागी। छोक सब साधन को त्यागी ॥
फूकि दिय शिव ब्रह्मा विष्णू। फूंकि दिय राम और कृष्णू ॥

दोहा—

जलत जलत ऐसी बढ़ी, जिसका वार न पार ।
ईश्वर जीव ब्रह्म अरु माया, फूँकि दिया संसार॥

विना ईंधन नहिं परकासी ॥ ९ ॥

पूष में पूरण आये आप । जहां कोई नहीं पुन्य नहिं पाप॥
जपें अब कहा कौन का जाप । छूठ्या सब जन्म मरण संताप॥

दोहा—

ज्ञाता ज्ञान न ज्ञेय कछु, ध्याता ध्यान न ध्येय ।
मम निज शुद्ध सरूप में, उपादेय नाह हेय ॥

करूं अब किसकी तल्लाःसी ॥ १० ॥

माह में मिटी मिलन की भूख । जहा कोइ नहि आशिक माशूक ॥
इश्क फिर कैसे वहाँ होवे । काहे को वृथा काल खोवे ॥

दोहा—

तुझ चेतन शुद्ध सरूप में, नहिं आशिक माशूक ।
लक्ष रूप में मार निशाना, कहा वृथा विलोवे थूक॥

करावे क्यों जग में हाँसी ॥ ११ ॥

वसंत ऋतु फागुन में आवे । खेल सब प्रारब्ध रचवावे ॥
अतर गुलाल ज्ञान रोरी । खेलते भर भर के झोरी ॥

दोहा—

होली अविद्या फूँकि के, होगये गुप्तानंद ।
समझेंगे कोइ सुघर विवेकी, क्या समझे मति मंद॥

जगत् की उठी धूलि खासी ॥ १२ ॥

पट के पर मौका अब आया। पाइ अब अधिक मास आया॥
कलेवर जिसमें पदलाया। लावनी तेरह मास गाया॥

दोहा—

अधिक मासका अर्थ सुन, नर तन अधिक विज्ञान।
कलेवर बदल्या यहि जानो, आप रूप का ज्ञान॥

जहां नहिं दास और दासी॥ १३॥

—०—

४ लावनी

पिय जो गुप्त ज्ञान गुटका। दूरि होवे सब ही अटका॥टेक॥
किया है इसका जिसन पान। नरों में उसही को नर जान॥
और तो सब ही जानो नार। गार्गी ने सभा में कही पुकार॥

दोहा—

बृहदारण्य के बीच में लिखा यही संवाद।
यज्ञवल्क्य के वचन सुन, पंडितों किया विवाद॥

बोध बिनु जाय मरे भटका॥ १॥ टेक॥
कोई तो रखते हैं उपवास। कोई तो करते कम उपास॥
किसी ने जाय किया वनवास। कोई तो जग में फिरे उदास॥

दोहा—

कोई चौरासी धूमी तपैं, करे जतर मंतर लेख।
चाम जलावें आग में, सर मलैं न ज्ञान का तेख।

भरम कैसे छूटे शठ का॥ २॥

किसी के गळ में पड़ा सन्यास । कोई तो बने ईश का दास ॥
कोई तो सन का बनाते जोट । किसी ने कीना घोटम् घोट ॥

दोहा—

कोइ पढ़ै व्याकरण काव्य कोष को, करैं वेद के पाठ ।
पंडित ह्वै करि भव में विचरे, खूब लगाया ठाठ ॥

समझ किन वातन में अटक्या ॥ ३ ॥

करे निर्बन्धों का सत् संग । तभी कुछ चढ़े ज्ञान का रंग ॥
तभी जीते माया का जंग । भर्म को उतर जाय सब भंग ॥

दोहा—

गुप्त गलीचो बैठकर, कीजै यही विचार ।
ब्रह्मरूप है आतमा, सब झूंठा जग व्योहार ॥

खेल सब बाजीगर नटका ॥ ४ ॥

—०—

५ लावनी

सोई नर जानो ब्रह्मचारी । जिसने वश कीनी सब नारी ॥टेक॥
प्रथम गुरुकुळ में किया वास । फेर किया विद्या का अभ्यास ॥
जिसने सब तजी जगत की आस । नहीं कछु रखते अपने पास ॥

दोहा—

आठ भांति मैथुन कहा, ताका कीना त्याग ।
कंचन कांच एक करि जाने, नहीं किसी में राग ॥

करी आतम पद की त्यारी ॥ १ ॥ टेक ॥

विवेक वैराग्य हुये सम्पन्न । विषय से रोकि लियो है मन ॥
प्रगटे जिनके पूरण पुन्य । जगत में वही पुरुष है धन्य ॥

दोहा—

ऐसी धारना धारिके, इच्छा उपजो येह ।
'कोह' को ससार है, का देही को देह ॥

बात दिन ऐसी विचारी ॥ १ ॥

फेर किया सतगुरु का शरना । विषो से परसन को करना ॥
मिटे सब जन्म और मरना । दूर होवे सब ही भरमा ॥

दोहा—

गुरु ऐसी कृपा करो, मिटैं भेद का पाप ।
भेद भर्म छूटे बिना, मिटै नहीं सताप ॥

अविद्या छूटि जाय सारी ॥ ३ ॥

जो नहीं करते हैं यह काम । सांई मूठे ब्रह्मचारी जान ॥
बढ़ाय केश और दाढ़ी । भस्म बढ़ी लावत हैं गाढ़ी ॥

दोहा—

करना था सो ना किया, दोउ कुल लादी लाज ।
झूठे स्वांग बनावता, सरै न एकहु काज ॥

गई मूरख की मतिमारी ॥ ४ ॥

६ लावनी

सूब शिर क ना पाटम पोट । मुड़ा छड़ मूछ और दाढ़ी ॥टेक॥

कोई गेरू का लगाते रंग। कोई रहते नंग निछंग॥
गले मे रुद्राक्ष माला। भरम का टूटा नहि जाला॥

दोहा—

कोइ विद्या का अध्ययन कर, खूव सुनावे बात।
त्याग वैराग्य कहैं औरन को, आप पसारैं हात॥

लगी है तृष्णा अति गाढ़ी॥ १॥ टेक

बांचते शास्त्र और पुराण। वेद के देते हैं पर मान॥
लोभ ने ऐसी मति मारी। फिरे ज्यों नारी व्यभिचारी॥

दोहा—

काम क्रोध मद लोभ की, जब लग घट में खान।
क्या पंडित क्या मूरखा, दोनों एक समान॥

डाकिनी आशा नहीं काढी॥ १॥

खूब किया तन का चगा साज। बने हैं पडित जी महाराज॥
और दस मूरख लेलिये सग। लगाते कपड़े मे बड़ा रग॥

दोहा—

लोगन से यों कहत हैं, हम सन्यासी लोग।
हमको कुछ इच्छा नहीं, सब तज दीये घर के भोग॥

रहे गंगा सागर खाड़ी॥ ३॥

ऐसे हम देख्ये सन्यासी। पड़ी गल आशा की फांसी॥
लख्या नहिं चेतन अविनाशी। कहे हम बसते हैं काशी॥

विवक वैराग्य हुये सम्पन्न। विषय ते रोकि लियो है मन॥
प्रगटे जिनके पूरण पुन्य। जगत में वही पुरुष है धन्य॥

दोहा—

ऐसी धारना धारिके, इच्छा उपजी येह।
'कोइ' को ससार है, का देही को देह॥

बाद जिन ऐसी विचारी॥ १॥

फेर लिया सतगुरु का शरना। विधी से परसन को करना॥
मिटे सब भ्रम और मरना। दूर होवे सब ही भरमा॥

दोहा—

गुरु ऐसी कृपा करी, मिटै भेद का पाप।
भेद भर्म छूटे बिना, मिटै नहीं संताप॥

अविद्या छूटि जाय सारी॥ २॥

जो नहीं करते हैं यह काम। सोई मूढ़ ब्रह्मचारी जान॥
बढ़ाय केश और डाढ़ा। भस्म चढ़ी अम्बत हैं गाढ़ी॥

दोहा—

करना था सो ना किया, दोउ कुल खाई लाज।
झूठे स्वांग बनावता, सरै न एकहु काज॥

गई मूरख की मतिमारी॥ ४॥

६ लावनी

खुब सिर का ना घोट्यम् घाट। मुछा छह मूछ और डाढ़ी॥टेक॥

दोहा—

कर्ता क्रिया कर्म का, छूटा नहिं हंकार।
चाम धर्म अपने कर माने, सोई नर जानो चमार॥

सोई तुम जानो मति का मन्द॥ ३॥

तजो करता मति का हंकार। तेरा है रूप जो अपरंपार॥
गुप्त की समझ देख टुकयार। छोड़ सब भेप पंथ आजार॥

दोहा —

तुहिं आतम चेतन शुद्ध है, नहीं कम का लेश॥
कर्ता क्रिय कर्म छोड़ि के, देखो अपना देश॥

तुही है आनन्दन का कंद॥ ४॥

—o—

८ लावनी

इस काया नगर मंझार। बसे यक राजनपति राजा॥ टेक॥

राजा है जिसका अपरपार। नहीं कुछ हद बेहद शुमार॥
सदा वह बना रहे यक तार। तिसे कोइ नहिं कर सक्ता छार॥

दोहा—

सदा अखंडित एक रस, जामे लाभ न हान।
सोतो अपना आप है, यों हम लियो पिछान॥

सुधर जावे सबही काजा॥ १॥

और झूठे जानोराजा। काल का सबही है खाजा॥
तिसे कभी काल नहीं खाता। कहीं सो आवे नही जाता॥

दोहा—

काया काशी ना लखी, शिर पर धर्यो सन्यास।
पञ्च कोष वपु तीन को कीना नाहीं साफ।

मजहब की फाँसी नहीं काटी ॥ ४ ॥

—○—

७ लावनी

मजहब का पड़ा गले में फंद। आपको समझत नाहीं मंद ।टेक

वरण जाती का करके त्याग। फर आश्रम में करते राग॥
लगी है घरसे दूनी आग। मटक्से बोलत जैसे काग॥

दोहा—

विषय मास की लालसा, तजि दिया आतमरूप।
औरन को उपदेश सुनावें, आप पड़ा भव कूप॥

छूट्या नहिं पूरण परमानन्द ॥ १ ॥ टेक

करे जा आश्रम का अभिमान। वही नर पशू खर के जान॥
औरन से चाहत हैं बड़ा मान। मान मद पी मति हरगई ज्ञान॥

दोहा—

बुद्धी कर अन्धा हुवा, पड़ा मान मोतियाबिंद।
दशहु दिशा को पड़ा अन्धेरा, छिपगया आतमचन्द॥

फर कैसे हाय आनन्द ॥ २ ॥

जाश्रो मामन है करता। वही नर जनमें अरु मरता॥
गम की अग्नि में जरता। खानि चौरासी में फिरता॥

दोहा—

कर्ता क्रिया कर्म का, छूटा नहिं हंकार ।
चाम धर्म अपने कर माने, सोई नर जानो चमार ॥

सोई तुम जानो मति का मन्द ॥ ३ ॥

तजो करता मति का हंकार । तेरा है रूप जो अपरंपार ॥
गुप्त की समझ देख टुकयार । छोड़ सब भेप पंथ आजार ॥

दोहा —

तुहिं आतम चेतन शुद्ध है, नहीं कर्म का लेश ॥
कर्ता क्रिय कर्म छोड़ि के, देखो अपना देश ॥

तुही है आनन्दन का कंद ॥ ४ ॥

—०—

८ लावनी

इस काया नगर मंझार । वसे यक राजनपति राजा ॥ टेक ॥
राजा है जिसका अपरपार । नहीं कुछ हद वेहद शुमार ॥
सदा वह वना रहे यक तार । तिसे कोइ नहिं कर सक्ता छार ॥

दोहा—

सदा अखंडित एक रस, जामे लाभ न हान ।
सोतो अपना आप है, यों हम लियो पिछान ॥

सुधर जावे सबही काजा ॥ १ ॥

और झूठे जानोराजा । काल का सबही है खाजा ॥
तिसे कभी काल नहीं खाता । कहीं सो आवे नही जाता ॥

दोहा—

आपै राजा आपै परजा, आप कर सब काज ।
आपही बन्यो दीवान मुसद्दी, आपही रह्यो बिराज ॥

जिसे यह साज सभी साजा ॥ २॥

जहाँ कोइ मास न खाना । वहां पर नहिं पत्थर खाना ॥
जहां पर नाहीं कोइ दिलदार । नहीं कोइ चौका पहरेदार ॥

दोहा—

ऐसा निरभय राज है, जहा कोई नहीं ठग चोर ।
निराकार है सभी विभूती, चलेम किसी का जोर ॥

जहां पर भरम सभी भाजा ॥ ३ ॥

मिल्य हमैं बिन परजा का राज । जहां कोई बिगडे नाहीं काज ॥
सभी है अमरापुर का साज । जहां काइ नहीं काज नहिं लाज ॥

दोहा—

गुप्त राज को जो कर, सो भूपन को भूप ॥
साधु समान और नहिं दूजा, किसको दीजे रूप ॥

बस तिसको सबही छाजा ॥ ४ ॥

—o—

६ लावनी

खेल बाजीगर के सारे । बस कर मत मूझे प्यारे ॥ टेक ॥
इसी बाजीगर न बाजा । कि रचया बहुत घनी साजी ॥
कोइ तो भूनी काइ पाजी । काइ तो पंडित कोइ काजी ॥

दोहा—

रचिकर जब देखन लगा, मिला तिसी के संग ।
निराकार को भूलकर, देखन लागो अंग ॥

देखता पंचभूत सारे ॥ १ ॥

निद्रा में भासत है स्वपना । कोई तो पर का कोई अपना ॥
देखता है सबही रचना । सभी वह निद्रा का सपना ॥

दोहा—

जाग्रत माहीं देखता, नाना जगत अपार ।
जैसे तार छुट्या धुंवेते, सब धुंवे का विस्तार ॥

आप से कछू नहीं न्यारे ॥ २ ॥

भई जब आप रूप की भूल । देखता है सूक्षम अरु स्थूल ॥
कलपना कारण की होवे । अवस्था सुषोपति जोवे ॥

दोहा—

ऐसा मन ये बाजीगर है, करकै देख विचार ।
मनन भाव जब छूटे याका, तब होवे निस्सार ॥

काम अरु क्रोध सभी हारे ॥ ३ ॥

जरा टुक करके देख विचार । झूठा है मन का सभी आकार ॥
आपना गुप्त रूप है सार । जासु में कबहुँ न होय विकार ॥

दोहा—

शुद्ध स्वरूप प्रकाश में, ना कोई चित्तस्पंद ।
जो मानत है शुद्ध रूप में, ते नर मूरख अंध ॥

फिरत जग में मारे मारे ॥ ४ ॥

दोहा—

आपै राजा आपै परजा, आप करे सब काज ।
आपही बन्यो दीवान मुसद्दी, आपही रह्यो बिराज ॥

तिने मह साज सभी साजा ॥ २॥

जहाँ कोई माल न खजाना । वहाँ पर नहिं दफ्तर खाना ॥
जहाँ पर नहीं कोइ हिजकार । नहीं कोइ चौकी पहरेदार ॥

दोहा—

ऐसा निरभय राज है, जहाँ कोई नहीं ठग चोर ।
निराकार है सभी विभूती, चलेन किसी का जोर ॥

जहाँ पर भरम सभी भागा ॥ ३ ॥

मिला हमीं बिन परजा का राज । जहाँ कोई बिगड़े नाहीं काज ॥
सभी है अमरापुर का साज । जहाँ कोई नहीं काज नहिं व्याज ॥

दोहा—

शुभ राज को जो करे, सो भुवन को भूप ॥
मासु समान।और नहिं दूजा, किसको दीजे रूप ॥

इस तिसको सबही साजा ॥ ४ ॥

—०—

६ लावनी

ख्याल बाजीगर के सारे । देख कर मत भूल्यो प्यारे ॥ टेक ॥
रची बाजीगर न बाजी । कि रचना बहुत भती साजी ॥
कोइ थो सूनी कोइ ताजी । कोई तो पंडित कोइ काजी ॥

दोहा—

तुम चेतन शुद्ध स्वरुप में, नहीं क्रिया की गंध ।
जो मानें कूटस्थ रूप में, सो पामर मतिमंद ॥

—०—

११ लावनी

बताऊं कहा ज्ञान का रूप । जहां पर नहिं छाया नहिं धूप ॥टेक॥

जहा पर नाहीं सूक्ष्म स्थूल । नहीं कोइ पंचकोश का मूल ।
जहां कोइ नहीं मूल नहिं तूल । नहीं कोइ शाखा फल और फूल ॥

दोहा—

जहां चंद्र सूर्य तारा नहीं, नहिं पंचभूत का लेश ।
जहां नहीं तन मात्रा, नहीं काल नहिं देश ॥

कहो फिर किसकी दीजे रूप ॥ १ ॥

जहां नहि स्वर्ग नर्क कोई । जहां नहिं देव दनुज दोई ॥
जहां पर पुरुष नहीं लोई । जहाँ कछु पाई नहिं खोई ॥

दोहा—

ज्ञान ध्यान जहँ कोइ नहीं, नहीं मोक्ष नहिं बंध ।
वेद पुराण शासतर नाहीं, नहिं गायत्री छंद ॥

वहां कोई पड़ता नहि भव कूप ॥ २ ॥

जहाँ नहिं जीव ईश माया । नहीं कोइ धर्म कर्म पाया ॥
जहा नहिं सादी अनादी । नहीं कोई वाद और वादी ॥

१० लावनी

निरख्या अब आप आपना नूर । करमा सब हमसे होगया दूर ॥टेक॥
कहो अब क्या कीजे प्यारे । खुल सब बंध मोक्ष वारे ॥
अर्पूं अब कहो कौन का जाप । मैं ही हूँ पूरण आपे आप ॥

दोहा—

देशकाल अरु वस्तु में, व्यापरह्यो भरपूर ।
सभी जगत् के अंतर बाहर, नहिं नेरे नहिं दूर ॥
सभी यह मेरा नूर जहूर ॥ १ ॥

कैसे अब कीजे कर्म उपास । मेऊ नहिं ना काहू के दास ॥
किया हम भेद भरम का नास । कर्म की टूट गई सब फाँस ॥

दोहा—

भरम माहिं भरमत फिरा, बना देव का दास ।
ज्ञान प्रकाश भया घट अन्दर, हुई अविद्या नास ॥
सब कछु हमते नाहीं दूर ॥ २ ॥

छुट्या वर्ण आश्रम का अभिमान । किया हम वेद नीर का पान ॥
छूटे सब मान और अपमान । छुटी सब लोक वेद की कान ॥

दोहा—

करता मिया कर्म का, छुटि गया हंकार ।
ज्ञान अगिन परघट भई, कर्म भये जरि छार ॥
रहा यक मैं ही मैं भरपूर ॥ ३ ॥

जा नर मानत है करना । उन्हीं को जन्म और मरना ॥
गुप्त वो कहिये निष्कर्मा । जिसमें नहीं जन्म और मरना ॥

दोहा—

तुझ चेतन शुद्ध स्वरुप में, नहीं क्रिया की गंध ।
जो माने कूटस्थ रूप में, सो पामर मतिमंद ॥

—०—

११ लावनी

वताऊं कहा ज्ञान का रूप । जहां पर नहिं छाया नहिं धूप ।।टेक।।

जहा पर नाहीं सूक्ष्म स्थूल । नही कोइ पंचकोश का मूल ।
जहां कोइ नहीं मूल नहिं तूल । नहीं कोइ शाखा फल और फूल ।।

दोहा—

जहां चंद्र सूर्य तारा नहीं, नहिं पंचभूत का लेश ।
जहां नहीं तन मात्रा, नहीं काल नहिं देश ॥

कहो फिर किसकी दीजे रूप ।। १ ।।

जहां नहिं स्वर्ग नर्क कोई । जहां नहिं देव दनुज दोई ।।
जहां पर पुरुष नहीं लोई । जहाँ कछु पाई नहिं खोई ।।

दोहा—

ज्ञान ध्यान जहँ कोइ नहीं, नहीं मोच्छ नहिं बंध ।
वेद पुराण शासतर नाहीं, नहिं गायत्री छंद ॥

वहा कोई पड़ता नहि भव कूप ।। २ ।।

जहाँ नहिं जीव ईश माया । नहीं कोइ धर्म कर्म पाया ।।
जहा नहि सादी अनादी । नहीं कोई वाद और वादी ।।

१० लावनी

निरख्या जब आप आपना नूर । करना सब हमसे होगया दूर ॥टेक॥
कहो अब क्या कीजै प्यारे । छूट सब बंध मोक्ष सारे ॥
जपूं अब कहो कौन का जाप । मैं ही हूं पूरण आपै आप ॥

दोहा—

देशकाल अरु वस्तु में, व्यापरह्यो भरपूर ।
सभी जगत् के अंतर बाहर, नहिं नेरे नहिं दूर ॥
सभी यह मेरा नूर अदूर ॥ १ ॥

कैसे अब कीजै कर्म उपास । भेद नहिं ना काहू के वास ॥
किया हम भेद भरम का नास । कर्म की टूट गई सब फाँस ॥

दोहा—

भरम माहिं भरमत फिरा, बना देव का दास ।
ज्ञान प्रकाश भया घट अन्दर, हुई अविद्या नास ॥
देव कछु हमते नाहीं दूर ॥ २ ॥

छुट्या वर्ण-आश्रम का अभिमान । किया हम वेद नीर का पान ॥
छुटे सब मान और अपमान । छुटी सब लोक वेद की कान ॥

दोहा—

करता किया कर्म का, छूटि गया हंकार ।
ज्ञान अग्नि परघट भई, कर्म भये जरि छार ॥
रहा यक मैं ही मैं भरपूर ॥ ३ ॥

जो नर मानत है करना । उन्हीं को जन्म और मरना ॥
गुप्त तो कहिये निष्कर्मा । जिसमें नहीं जन्म और मरना ॥

दोहा—

हाथ पैर जिसके नहीं, ना कोई पिंड न प्रान ।
ना वह पंडित मूरखा, ना कछु जान अज्ञान ॥

नहिं कभी जिसमें प्यास न भूख ॥ २ ॥

नहिं कभी सोवे नहिं जागे । नहीं वह स्थिर नहीं भागे ॥
नहीं कछु ग्रहण करै त्यागे । नहिं कभी ध्यान माहि लागे ॥

दोहा—

अस्तिभाति करि रमि रहा, सभी ठौर के माहिं ।
सभी कछू करता सा दीखे, कछु भी करता नाहिं ॥

जासु में रंक नाथ नहिं भूप ॥ ३ ॥

सदा है सत्, चेतन, आनन्द । जासु में कोई दुख नहिं द्वन्द ॥
फेर भी समझत नाहीं अंध । वही है सब सिद्धन का सिद्ध ॥

दोहा—

हस्ती छिपै न घास में, करके देख विचार ।
सो गुप्त आपना रूप है, सब करता ज्ञान व्योहार ॥

जासु में नहीं ऊक नहिं चूक ॥ ४ ॥

— —

१३ लावनी

जरा टुक कर कर देखो गौर । तेरे से नहिं दूजा कोई और ॥ टेक
जीव होय तू ही परकासा । तुही फिर ईश्वर हो भासा ॥
तुही है जगत् जाल माया । तुही है पिंड प्राण काया ॥

दोहा—

नहीं वर्ण नहीं आश्रम, ना कोई जात न पाँत ।
ना कोई न्यारा रहे, ना कोइ रहता साथ ॥

हमें सब देखा फटकि कर सूप ॥ ३ ॥

कहै कोई घी का कहा सवाद । मूढ़ नर बिरथा करै विवाद ॥
जासु में नहीं अंत नहिं आदि । नहीं कोई साधन सिद्ध समादि ॥

दोहा—

कोई जीव ब्रह्मकी एकताको, निश्चय कहते ज्ञान ।
द्वैत अद्वैत जहाँ पर नाहीं, कहे सो मूरख जान ॥

जहाँ कोई नाहीं रूप अनूप ॥ ४ ॥

—०—

१२ लावनी

आत्मा व्यापक ब्रह्म सरूप । जासु के नहीं रंग नहिं रूप ॥ टेक ॥
अवस्था तीनों से न्यारा । नहीं वह रक्त पीत कारा ॥
नहीं वह अग्नी न जारा । पवन स सूक्ष्म ना प्यारा ॥

दोहा—

शस्तर से कटता नहीं, जलसे भीगे नाहिं ।
जैसे घृत दूध मे व्यापक, सभी ठौर के माहिं ॥

यही तुम तिनका जानो रूप ॥ १ ॥

नहीं कभी जन्म नहिं मरता । नहीं कोइ सुख दुख को धरता ॥
नहीं कछु मांगे नहिं करता । नहीं कहीं स्थिर नाहीं चरता ॥

दोहा—

हाथ पैर जिसके नहीं, ना कोई पिंड न प्रान ।
ना वह पंडित मूरखा, ना कछु जान अज्ञान ॥

नहिं कभी जिसमें प्यास न भूख ॥ २ ॥

नहिं कभी सोवे नहिं जागे । नहीं वह स्थिर नहीं भागे ॥
नहीं कछु ग्रहण करै त्यागे । नहिं कभी ध्यान माहि लागे ॥

दोहा—

अस्तिभाति करि रमि रहा, सभी ठौर के माहिं ।
सभी कछू करता सा दीखे, कछु भी करता नाहिं ॥

जासु मे रंक नाथ नहिं भूप ॥ ३ ॥

सदा है सत्, चेतन, आनन्द । जासु में कोई दुख नहिं द्वन्द ॥
फेर भी समझत नाहीं अंध । वही है सब सिद्धन का सिद्ध ॥

दोहा—

हस्ती छिपै न घास में, करके देख बिचार ।
सो गुप्त आपना रूप है, सब करता ज्ञान व्योहार ॥

जासु मे नहीं ऊक नहिं चूक ॥ ४ ॥

— —

१३ लावनी

जरा टुक कर कर देखो गौर । तेरे से नहिं दूजा कोई और ॥ टेक

जीव होय तू ही परकासा । तुही फिर ईश्वर हो भासा ॥
तुही है जगत् जाल माया । तुही है पिंड प्राण काया ॥

दोहा—

जीव बिना नहिं आत्मा, जीव बिना नहिं ब्रह्म ।
जीव बिना ईशो नहीं, जीव बिना सब भर्म ॥

करो दुक विचार बल्का ओर ॥ १ ॥

जाग्रत में सब ही तेरा स्थाल । सुपने में देखो वोही हाल ॥
अवस्था सुषोपती आवे॥ जाग्रत् स्वप्न नहीं पावे ॥

दोहा—

तुरिया में देखन लगा, सुषोपती भी नाहिं ।
सभी अनातम कल्पित जानो, अधिष्ठान के माहिं ॥

काहे का झूंठा मचाना शोर ॥ २ ॥

सभी तुरिये को दिखलावे । सभी तुरया तिसको पावे ॥
यहां से कभी नहीं जाना । आप में आपहि मिलिजाना ॥

दोहा—

विश्व नहिं तेजस प्राज्ञ कछु, नहिं तुरिया तो नाहिं ।
स्व स्वरूप निज ज्ञानघन, मैं तू बिगत् है माहिं ॥

यहां पर चलै न किसका ओर ॥ ३ ॥

भये स्थित आप रूप में आप । जहाँ पर लगे न किसकी दाप।
गुम में सदा रहो गरगाप । मिटा दुख जनम मरन संताप ॥

दोहा—

इस दरजे को सो पावे, जिनके विमल विवेक ।
तजके सब संसार को, यक लई गुर्रा की टेक ॥

निरख्या जब आप आपना ओर ॥४॥

—•—

१४ लावनी

हीरा तुझे खोदिया कचरे मे। देखै क्या पोथी पतरे मे ॥टेक॥

फिरे क्या मथुरा और काशी। करो इस तन की तल्लाशी॥

जहाँ तुझे पावे अविनाशी। कटे सब काल कर्म फांसी॥

दोहा—

वस्तु तो घर में धरी, बाहर ढूंढन जाय।
कहो तोकों कैसे मिलै, दीजो बात बताय॥

कहा है पानी पथरे में॥ १॥

जभी सतगुरु शरने आवे। वस्तु का तब व्योरा पावे॥

वचन में कीजै परतीती। वस्तु के पाने की रीती॥

दोहा—

श्रद्धा कर गुरु वेद में, तब पावे कुछ भेद।
ज्ञान प्रकाश होय घट अंदर, दूर होय सब खेद॥

भूले मन अपने चतुरे में॥ २॥

जहां तू पावे समता भाव। दूर हो चित तेरे की दाह॥

फेर तुझे मिलै न ऐसा दाँव। जरा टुक धर आगे को पाव॥

दोहा—

समदर्शी हो विचरना, ना कहिं राग न दोष।
भयो ज्ञान जब नशी अविद्या, जीवत पायो मोक्ष॥

एक सम भूडे सुथरे मे॥ ३॥

गुप्त सागर मारा गोता। जगत सब ही लागा थोथा॥
पुरुष ने ऐसो कियो विचार। जगत का झूंठा सभी व्यवहार॥

दोहा—

ब्रह्म आत्मा एक लखि, कियो भेद को अंत।
कृष्ण कन्हैया यों कहे, कोई जाने विरला संत॥

बही सब मन के नखरे में॥ ४॥

—o—

१५ लावनी

चहे कोई राम कहो चहे श्याम। इसे निज रूप हो पूरण काम टेक॥
रज्जु अधिष्ठान है एक। कल्पना होय वामें अनेक॥
सीपी में रूपे का भ्रम होय। रवि किरनों में नीर कहे कोय॥

दोहा—

अधिष्ठान अज्ञानतें, भ्रम होवत बहु भांत।
ज्ञान हुये निज वस्तु को, सब भ्रम होवत शांत॥

सभी को एक आप विश्राम॥ १॥

पुंबे से खींचत निकसत तार। तार सब पुंबे का विस्तार॥
मन में यों होवत संसार। बीज में ज्यों फूल पत्र डार॥

दोहा—

जग होवत अज्ञान कर, ज्ञान होत जग हान।
जैसी इच्छा करै आप में, होवत सोई विधान॥

याही पे कल्पित हैं सब नाम॥ ॥

पूर्ण पद वशिष्ठादि गायें। वेद नित अभेद बतलायें॥
संत भी योंहि समझाय। द्वैत से जनम मरन पाय॥

दोहा—

द्वैत मिटा अद्वैत हुआ जब, सब जग ब्रह्म विलास ।
सत चित आनंद शुद्ध रूप में, नहीं जीव आभास ॥

याही विधि होवत है आराम ॥ ३ ॥

तन यह सुरदुर्लभ जानो । गुप्त गुरु इस्ट हृदय ठानो ॥
इस्ट विन भृष्ट होय जगमाय । इस्टलखि श्रेष्ट आप हो जाय ॥

दोहा—

जो इस्टी जिस रूप का, ध्यान धरे सिध होय ॥
मूल ध्यान धर भूल निकालो, निर्भय होकर सोय ॥

घूमे नहिं पंचकोष का गाम ॥ ४ ॥

—०—

१६ लावनी

आपना इस्ट आपही जान । और सब झूठे इस्ट पिछान ॥टेक॥
तुही है सब इस्टन का इस्ट । भूल कर क्यों होता है भ्रष्ट ॥
तेरी तो ऐसी मति मारी । फिरे ज्यों नारी व्यभिचारी ॥

दोहा—

अपने पति को छोड़कर, करै और को संग ॥
सो पामर जिततित डोलत है, हो गइ है मति भंग ॥

भूलि गई अपने पति का ज्ञान ॥ १ ॥

जबी दूजे को समझा इस्ट । ज्ञान सब हो गया है नष्ट ॥
जबी तू हो बैठा है दास । इस्ट की पड़ी गले में फांस ॥

दोहा—

इष्ट आपनो आत्मा, जाको कीनो त्याग॥
झूठे इष्ट बनाय कर, सरै न एकहु काज॥

कष्ट कर अन्दर लावो ध्यान ॥ २ ॥

छोड़ सब इष्टदेव की आस। करो निज अन्दर अपना वास॥
झूठ जानो बुद्धि चिदाभास। ज्ञान में होवे इनका नास॥

दोहा—

आप रूप कूटस्थ का, नहीं ब्रह्म से भेद॥
भेद मार जबसे परयो तब से पावो खेद।

समझ ऐसा क्यों हुआ अजान ॥ ३ ॥

आपसे भिन्न जानते इष्ट। वही नर पावें हैं बहु कष्ट॥
गुप्त गठियारे में आवे। इष्ट कहिं ढूंढा नहिं पावे॥

दोहा—

अपना आप पिछानि के, तजो इष्ट की बात॥
वृक्ष बीज से न्यारा नहीं, मूल फूल फल पात॥

गुरू को गाइ सुनावो ज्ञान ॥ ४ ॥

—०—

१७ लावनी

यहाँ कोइ नहीं राम नहिं श्याम। सदा एक तूही पूरण काम॥
आप ही रचता सब विस्तार। जिसका कछु नहीं वार नहिं पार॥
रचि कर भूल गया है आप। तभी फिर तपता तीनों ताप॥

दोहा—

देव बनाया ईश को, आप बना है दास ॥
आपहि अपने गले में, घालि लई है फांस ॥

किया है तुझने ही सब काम ॥ १ ॥

तुम्हें यह कल्पि लई माया । फेर उसे तुझको भरमाया ॥
आपको मानन लगा शरीर । मिला ज्यों जल के माहीं क्षीर ॥

दोहा—

बहुत काल भरमत फिर्यो, अबतो समझ गंवार ॥
औसर चूका जाय है, फिर पड़ेगी यम की मार ॥

तभी तू रोवेगा उस धाम ॥ २ ॥

अब तू समझ अपने को आप । छोड़ सब राम कृष्ण को जाप॥
सदा यक तूहो आपहि आप । कहाँ से लाया भेद का पाप ॥

दोहा—

जन्म मरन तोमें नहीं, नहिं सुख दुख की गंध ॥
जीवभाव को छोड़ि दे, तुहि पूरण परमानंद ॥

जहां पर नहीं ध्यान नहिं ज्ञान ॥ ३ ॥

जब तू पावे गुप्तानन्द । तबी होय तेरे को आनन्द ॥
वहाँ पर कोई नहीं दुख द्वन्द । जहां नहिं परकाशत है चंद ॥

दोहा—

वहां पर गोबर्धन बसै, लागी ब्रह्म समाधि ॥
कहन सुनन में है नहीं, गति कछु अगम अगाध ॥

जहा पर सब सिध होते काम ॥ ४ ॥

—०—

१८ लावनी

रम्या सब जगह में राधेश्याम । श्याम बिन ना कोई खाली ठाम ॥
हुई इच्छा कीना विस्तार । गुन तीनों में सब संसार ॥
सभी का एक आप आधार । जैसे माला में सूत्र का तार ॥

दोहा—

अस्ति, भाति, प्रिय देखलो, व्यापक नंद किशोर ।
पचभूत तीनों-गुणमाहीं, पूरण है सब ठौर ॥

मिटा तृष्णा को जलाबो काम ॥ १ ॥

कोई बन परबत में जावे । कोई तन उल्टा लटकावे ॥
कोई काशी गंगा न्हावे । द्वारिका छाप से हरषावे ॥

दोहा—

चित चंचल इन्द्रिय।मन रोके, वन में धारे ध्यान ॥
ध्यान मिटा चंचलता, व्यापी, यह तो कच्चा ज्ञान ॥

इससे सरे नहीं कछु काम ॥ २ ॥

प्रथम निष्काम कर्म करना । पुन चित ईश्वर में धरना ॥
चतुरष्ट्य साधन हो सम्पन्न । गुरू की लेवे जाय शरन ॥

दोहा—

प्रेमभाव गुरु में करे, धारे भक्ति सुजान ॥
गुरु प्रसन्न उपदेश करे जब, छूटे तन अभिमान ॥

सभो में सूझत आतमराम ॥ ३ ॥

गन्ध गुरु कृपा मिला आराम । लखाया सब में सुन्दरश्याम ॥
मिटा जगरूप हुवा सुखियाऊ । मूलस गइ अविद्याजाऊ ॥

दोहा—

गोवर्धन यों कहै कृष्णबिन, और नहीं कर गौर ॥
सत चित आनन्द शुद्ध रूप में, चलै न किसका जोर ॥

धुरू मे नहीं रूप नहिं नाम ॥ ४ ॥

—०—

१६ लावनी

हम हैं उन सन्तन के दास । जिन्नें सब तजी जगत की आस ॥टेक॥
किया है विजन देश में वास । जगत से रहते सदा उदास ॥
काटिदइ सभी कर्म की फास । आपको जाना चिद् आकाश ॥

दोहा—

इस धारा पर विचरते, सदा रहे निरद्वंद ॥
जानत हैं कोई जाननहारे, क्या जानेंगे अंध ॥

किसी को देते नहीं तरास ॥ १ ॥

नहीं कुछ दंभ कपट माया । उलटि मन आतम में लाया ॥
जगत सब चेतन की छाया । कभी तिने व्यापै नहिं माया ॥

दोहा—

जग के माहीं यों रहे, ज्यों पद्म-पत्र जल बीच ॥
न्हाये निरमल ज्ञान से, सब छुटी अविद्या कीच ॥

नहीं कुछ रखते अपने पास ॥ २ ॥

जिन्हों के ज्ञान वनिज वेपार । और नहिं करते दूजी कार ॥
जगत में लिप्ते नहीं विकार । सभी झूठा जाना आकार ॥

दोहा—

चेतन निरमल शुद्ध में, ना कछु दुवा न होय ॥
ऐसी जाकी दृष्टि है, साध कहावे सोय ॥

संत विचरत इस पंथन में। वाद गई सद् ग्रंथन में ॥
गुप्त किन खोजि क्रिया जग में। फेरि नहिं आवत है भग में ॥

दोहा—

गोवर्धन सो कहत हैं, सतों लखण पद ॥
प्रनिश्चय जिनका भया, तिनके देह न गेह ॥

गई है मूल अविद्या नास ॥ ४ ॥

—•—

२० लावनी (चाल दून)

सखि चलो सुहागिन साम आज पर पी के।
अजी एजी, पिया को मेरि बुलाई है।
चलना पडे पाल्ह सवारी सखि कर आई है ॥ टेक ॥
तरे नारि सबे शृंगार प्यार भम हो ले।
अजी एजी; जरा अब अँखियाँ तो खोलो ॥
कर प्रीतम पर की सुर्त सम्भ कुछ मुख सेती बोलो ॥
अब भर प्रीतम का ध्यान मान मद तजि के।
अजी एजी; मोह ममता को सब त्यागो ॥
गृह छोडि पिता का चलो चरण अब प्रीतम के लागो ॥

शेर—

भूली फिरै उस सजन को, कर अंदरूनी ख्याल को ॥
वह ज्ञानरूपी दे असी, काटे अविद्या जाल को ॥
शुभगुन के भूषण पहिरि के, छांडो सभी धन माल को ॥
तू उससे परदा मत रखे, वह जाने तेरे सब हाल को॥

अब कर आगे का सूल मूल गहि राखो ॥
अजी एजी पिहर मे उमर गमाई है ॥
अब तजो कुटिल परिवार भार को पटको ।
अजी एजी, छोड़ कर ममता माई को ॥
परिछिन्न पिता हकार त्रिषय तज पांचों भाईको ॥
तृष्णा चिन्ता अरु चाह सहेली त्यागो ।
अजी एजी कुसंगति सत्र अशनाई को ।
राग द्वेष अरु हर्ष तजो सब मान वड़ाई को ॥

शेर—

जल शील का अशनान करके, तिलक तन का कीजिये॥
भक्ति प्रेमा माल गल में; साज यह सज लीजिये ॥
करनी के कपड़े पहिर के; निष्कामता रंग दीजिये ।
सोलह करो शृङ्गार अब; जिसे देखि पीतम रीझिये ॥

पीतम को प्यारी लगी फेर डर किसका ॥
अजी एजी, सभी के मन को भाई है ॥ २ ॥
यह पाया अटल सुहाग भाग पिछले से ,

भजी एजी; सोहागिन सुख मर सोई है।
जो होता होय सो होय वृत्ति जिन अंतर मोई है ॥
अन्तरमुख सुख को अनुभव करके जाग्या,
भजो एजी, भेद भिन तोड़ दिया जड़ता।
जब सुधि गय ज्ञान कपाट भरम का फाटि गया पड़दा॥

शेर—

पंच कोप मय देह का, पड़दा पड़ा अज्ञान से।
शमशेर सतगुरु की दई, काट्या निजानन्द ज्ञान से॥
लोकि भवन विचरती, कुछ काम नहिं धन धाम से।
प्रारब्ध से व्योहार होय, नाता नहीं कछु चाम से॥

यों होय एकमएक मौज में रहती,
भजी एजी; जीवनमुक्ति को पाई है॥ २॥
हुई विरती अखाकार वार से मिलि के भामी है।
भजी एजी उसीने भेद जनाया है,
पड़ा गर्भ ओड़े पर छव जब मांहि समाया है॥
जिमें सिंधू बिंदू त्यागि भेद सब जड़ का,
भजी एजी; उपाधि सब ही दूरि डारी॥
हुई शुद्ध सच्चिदानन्द भाव यह पीतम की प्यारी॥

शेर—

सिंगार सोलह साजि के, पाया पति के रूप को॥
तजि कर पिता के धाम को, तिर गई भव के कूप को॥

गुप्त सैन पिछानि सजनी, पावे रूप अनूप को ॥
समझे चतुर परवीन कोई, समझावे को वेवकूफ को ॥
जिन किया आपना काज लाज सब तज के,
अजी एजी, चतुर की यह चतुराई है ॥ ४ ॥ चलना पड़े जरूर

दोहा—

त्रय काले दो ऊजरे, पतले पंच प्रकार ।
सूभर चार कठोर दो, ये सोलह सिंगार ॥
(इन षट्दस शृंगारों को जिज्ञासु में घटाते हैं)

'दोहा—

आवरण दोष काले त्रय, ऊजले दो कर्म उपास ॥
पंच पातले कामादिक कर, मन में होय हुलास ॥
पुष्ट किये हैं जासु ने, विवेकादिक जे चार ।
सत्शास्त्र सत्संग दो काठे, ये अधिकारी के शृङ्गार ॥

—०—

२१ लावनी (चाल दून)

मत पड़े भरम के कूप रूप लख अपना,
अजी एजी, मनुष तन तुझको पाया है ।
कर देखो तत्त्व विचार कौन तुह कहा से आया है ॥टेक॥
यह तन धन सच्चा जानि खेल में लागा,
अजी एजी, विसरि गया अपनी सुधि सारी ।
खानपान में लग्या विषयों की बढ़ि गई बीमारी ॥

अजी एजी; सोहागिन सुख भर सोई है ।
जो होना होय सो होय वृत्ति निज अंतर मोई है ॥
अन्तरमुख सुख को अनुभव करके जाग्या,
अजी एजो, भेद जिन तोड़ दिया जड़ का ।
अब खुलि गये ज्ञान कपाट भरम का फटि गया पड़दा ॥

शेर—

पंच कोप अरु देह का, पकड़ा पड़ा अज्ञान ते ।
शमशेर सतगुरु को दई, काट्या निजातम ज्ञान ते ॥
तोड़ि भवन विचरती, कुछ काम नहिं धन धाम ते ।
प्रारब्ध ते व्योहार होय, नाता नहीं कछु चाम ते ॥

यों होय एकमएक मौज में रहती,
अजी एजी; जीवनमुक्ति को पाई है ॥ ३ ॥
हुई विरती ब्रह्माकार यार सं मिलि के आमी है ।
अजी एजी उसीने भेद बताया है,
पड़ा गम छोड़ पर ब्रह्म अंक माँहि समाया है ॥
किये सिंधू बिंदू त्यागि भेद सब जल का,
अजी एजी, उपाधि सब ही दूरि डारी ॥
हुई शुद्ध सच्चिदानन्द नाम वह पीतम की प्यारी ॥

शेर—

सिंगार सोलह साजि के, पाया पति के रूप को ॥
तजि कर पिता के धाम को, गिर गई भव के कूप को

अजी एजी, ईश की ऐसी है नीती ॥ चहे लाखों करो उपाव और विधि पावे नहिं रीती ॥ अब सुनिये करिके ख्याल हाल कहुँ सगरा ॥ अजी एजी, चतुष्ट्य साधन को करना ॥ सब त्यागो करम उपास फेर ले सतगुरु की शरणा ॥

शेर—

विधी से गुरु देव को, भक्ति से परसन करे ।
जाता आता कौन है, जन्मता अरु को मरे ॥
विधी और निषेध दोनों, कर्म को कहु को करे ।
फल तास के पुन्य पाप का, कौन सुख दुख को धरे ॥

सतगुरु से परसन करे विधी से जाके, अजी एजी, सब संदेह सुनाया है ॥३॥ जब सुनि के शिष्य की बात हाथ को ठाया ॥ अजी एजी कह्या सो हमको सब जान्या ॥ मन बुद्धी कर समाधान लगा के सुन दोनों काना ॥ तुझ में नहीं आवन जान जन्म और मरना ॥ अजी एजी, विधी निषेध नहीं झगड़ा ॥ पुन्य पाप के सुख दुख फल का तुझमें नहिं रगड़ा ॥

शेर—

ये धर्म सूक्ष्म स्थूल के, बुद्धि सहित आभास में ।
तू तो है सबका साक्षी, रहता है इनके पास में ॥
चैतन्य ज्ञानस्वरूप है, हस्ती छिपे नहिं घास में ।
तुझ में क्रिया कर्म ऐसा, जिमि नीलता आकाश में ॥

सुन गुप्त गुरू से ज्ञान खुलै भ्रम ताला । अजी एजी, भरम का मूल उठाया है ॥ मतपड़े ॥

इस चमकचाम को देखि फिरत है फूल्या,
अजी एजी, कुफर के पलङ्ग में भूल्या ॥
पकने खप्या तप्यन, अमा सब अपनी,को भूल्या ॥

शेर—

माया के मद को पीके, फिरता अविद्या रात में ।
चशम अन्दर के मिचे, फस गया आतजमात में ॥
जैसे करिणी देखि के, हस्ती पकड़ा है लात में ।
अंकुश खाता शीश में,बंधि के विर्यो की बात में ॥

यों मोह जाल में फंसा जीव मरता है, अजी एजी, बड़ कष्ट तर पाया है ॥ १ ॥ यह विषय भोग सब बिजली का चमकारा । अजी एजी पसारा बिगड़ि जाय छिन में ॥ मुक्ती हित मुक्ती करो त्याग मन की रह जाय मन में ॥ औसर के चूके होय फेर पछताना अजी एजी काज अब करलीजे अपना, छोड़ो सब परमार्थ जगत यह रैनि मांहि सपना ॥

शेर—

अब छोड़ो वाद विवाद को,याद कर निज रूप को ।
आकार दृष्टी छोड़ि के,समझो न रूप अरूप को ॥
जो परकाशता है सर्व को, सो सर्व में भरपूर है ।
यह रमज समझो आरिफों की,बोहि तेरा निज नूर है॥

जिस को कहते हैं वेद धर्म को लेके, अजी एजी; सो अपना आप बताया है ॥ २ ॥ कर भेद गुरू से प्रीति रीति को पावै ॥

शेर—

शक्ति के परसंग में, मत भेद से दिखलाय के ।
सब के शिर में धूलि डाली, वेद मत ठहराय के ।
नाना मतों के भेद जो, झगड़ा सभी समझाय के ।
सिद्धांत जो अद्वैत है, तिसको कहा है गाय के ॥

करि यतन वेद से रतन निकाले जिसने । अजी एजी, वेद वादी मुनि के धूजा ॥ २ ॥ हुये सूत्रकार अरु भाष्यकार औतारा अजी एजी, सर्वथा हुवा न परकासा ॥ विरती का दिनकर रच्या किया है अंधकार नाशा । सब पोल बजाकर ढोल निकाली जिसने ॥ अजी एजी मतांतर वात जनाई है । किया विषय-वाद का बाध चतुर की यह चतुराई है ॥

शेर—

विद्या पढ़ी तो क्या हुआ, करता है वाद विवाद जो ।
बंधि गये मजहब के पक्ष में, दयानन्द से साधु जो ॥
अर्थ का अनरथ किया, तजि ईश की मर्याद को ।
लोप करके ज्ञान का, इसमें क्या पाया स्वाद को ॥

किया कर्म काड को धरि धूर्तता करके । अजी एजी, छुटादई ईश्वर की पूजा ॥३॥ जिसे अपनी अपनी ठौर काड सब राखे । अजी एजी, विद्वुत की यह विद्वुताई है ॥ निश्चल का कथन है अचल अचल को दिया दिखाई है । नहिं लक्ष माहिं कोई पक्ष दक्ष यह कहते । अजी एजी, पक्ष में डूब्या संसारा ॥ वे किसको करते पक्ष वेद वेदांग भये पारा ।

२२ लावनी (चाल दून) ॥

अब लखि निरपक्ष की रीति प्रीति सों प्यारे । अजी एजी; जगत और नहीं दूजा ॥ हुये ज्ञानरूप औतार मरम का पोल दिया दूजा ॥ टेक ॥ सागर का कर दिया सेतु जगत् के माहीं । अजी एजी; जीव चढ़ि चढ़ि उतरें पारा ॥ दिन में सौ सौ बार तिनों को नमस्कार म्हारा । आपापरम जगमें हुये और बहुतेर ॥ अजी एजी; सभी के सिर पै और साका । तजि दिया का ईकार लिखी बिन भाषा नहिं जाना ॥

शेर—

शेर को कछु भय नहीं, निरभय हो के गाजता ।
सुनि के तिसकी गाज को, स्याल मूरख भागता ॥
सुनि के प्राकृत शब्द को, संस्कृती है लाजता ।
विरथा खपाया मगज को यह ढोल पोले बाजता ॥

जिन भाषा किये निबंधे पंथ कर खोले । अजी एजी वेदांग सभी सूझा ॥ १ ॥ जिन सूत्र रचा है जाको ख्याल कर एको । अजी एजी, नाम निरपक्ष रखि दिया भाषा । जिन देखी जिन सुनी सुना के रचि दिया तमासा ॥ जिया का रखते पर्म को अभिमानी । अजी एजी, बोलते हैं संस्कृत बानी ॥ निरपक्ष का सुनि के वचन पीव । भूलि जाय पानी ।

शेर—

शक्ति के परसंग में, मत भेद से दिखलाय के ।
सब के शिर में धूलि डाली, वेद मत ठहराय के
नाना मतों के भेद जो, झगड़ा सभी समझाय के ।
सिद्धांत जो अद्वैत है, तिसको कहा है गाय के ॥

करि यतन वेद से रतन निकाले जिसने । अजी एजी, वेद वादी मुनि के धूजा ॥ २ ॥ हुये सूत्रकार अरु भाष्यकार औतारा अजी एजी, सर्वथा हुवा न परकासा ॥ विरती का दिनकर रच्या किया है अंधकार नाशा । सब पोल बजाकर ढोल निकाली जिसने ॥ अजी एजी मतांतर बात जनाई है । किया विषय-वाद का बाध चतुर की यह चतुराई है ॥

शेर—

विद्या पढ़ी तो क्या हुआ, करता है वाद विवाद जो ।
बंधि गये मजहब के पक्ष में, दयानन्द से साधु जो ॥
अर्थ का अनरथ किया, तजि ईश की मर्याद को ।
लोप करके ज्ञान का, इसमें क्या पाया स्वादु को ॥

किया कर्म कांड को धरि धूर्तता करके । अजी एजी, छुटादई ईश्वर की पूजा ॥३॥ जिसे अपनी अपनी ठौर कांड सब राखे । अजी एजी, विदुत की यह विदुताई है ॥ निश्चल का कथन है अचल अचल को दिया दिखाई है । नहिं लक्ष माहिं कोई पक्ष दक्ष यह कहते । अजी एजी, पक्ष में डूब्या संसारा ॥ वे किसको करते पक्ष वेद वेदांग भये पारा ।

शेर —

धन्य है उस पुरुष को, लाज जिसको गइ सज्जा ।
उसी ने संसार में, विद्या का पाया है मजा ॥
निष्काम होके विचरते, राजी रहे उसकी रजा ।
तीनों भुवन के बीच में, ऊंची गड़ी तिनकी धजा ॥
निज गुप्त रूप मे छके भूप कोई अबके ।
अजी एजी शूरमा रण माहीं जूझा ॥ अब अखि० ॥ ४ ॥

—०—

२३ लावनी (चाल दून.)

अब करो कुम्भ असनान घाट तिरबेनो, अजी एजी, काल अब तुमको पाया है, मत फंस भरम के जाल सभी यह झूठी माया है ॥ टेक ॥ तर तीव्र धार बैराग यही तिरबेनी। अजी एजी आतमा तीरथ में न्हाबो ॥ कर विषय देश का त्याग किनारे तिरबेनी आबो । निज आतम तत्त्व का ज्ञान अक्षय बठ परसो ॥ अजी एजी; सरस्वती सार भेद टोहो । मलिन बासना मैल सभी अब मलि मलि के धोवो ॥

शेर—

अंतःकरण के कपड़े को साफ करके धोइये ।
साबुन कर्मनिष्काम भक्ती, दोनु बो कर साहिये ॥
सच्चण कहे हैं शास्त्र में, ऐसे गुरू को जोइय ।
मूल अविद्या मैल को, गुरु-चरण सगम खोइये ॥

जब तिरवेनी का न्हान सफल होता है। अजी एजी भर्म को धोय वहाया है ॥ १ ॥भमरा आत्मा चेतन पूरण सब में। अजी एजी रती अब तिस माहीं कीजे ॥ द्वाज द्वैत कर दूरि अर्थ आश्रम का सुनि लीजे। आशा तृष्णा करि त्याग आसरम पावे॥ अजी एजो यात्रा जब होवे पूरी। फिर रहा चौरासी लाख कर्म की पड़ी कंठ धूरी॥

शेर—

यह पर्व अब तिसको मिल्या,पाया है अपने आपको।
आत्म तीरथ शांत में, खोया है तीनों ताप को॥
मेला मिलौनी हो गई, फिर जपैं किसके जाप को।
दरशन हुआ दीदार का,खोया है पुन्यरु पाप को॥

सोई तिरबेनी के तटपर वैठे डटके। अजी एजी मजा कुछ तिसको पाया है॥ २ ॥ दारागज दारा त्याग इलाहो पावे। अजी एजी इलेह आवाद किया जिसने॥ झूनी मे झलक रहा आप भेद की गंध नहीं जिसमें। सतसगति नौका बैठि उतर भवधारा॥ अजी एजी नहीं है जिसमें वार पारा। व्यापक एक अखड सभी शामिल सब से न्यारा॥

शेर—

इस विधि से तीरथ किया,तिनयोग यज्ञ सबही किया॥
स्वयं पित्र को उद्धार के,सब दान अवनी का किया॥
संसार में उस पुरुष का, सफल है दिया लिया।
रूप अपना नीर गंगा, छानि के जिसने पिया॥

कोइ समझे सूरमा रमज हमारा भेदी । अजी एजी माया का जाल उड़ाया है ॥ ३ ॥ माया के जाल में फंसे मूढ अज्ञानी । अजी एजी धन अपने से भागे हैं ॥ पकड़ी लोभ की नारि भाड झोंकन को लागे हैं । तजि दिया ज्ञान अभ्यास लोभ के फंद में ॥ अजी एजी कर्म अपने को त्यागा है । अभिचारिन क्यों फिरे भाट विषयों की लागा है ॥

शेर—

घर छोड़िके क्यों नीक स,काहे को मुख कारा किया । मूसे शब्द सन्यास को, कलदार में मन को दिया ॥ बिरपा है संसार में ऐसे, सन्यासी का जिया । कौड़ी फिरत है मांगता खाता है उलटा किया ॥

नहीं गुप्त सैन को समझे मूढ़ अनारी । अजी एजी अकाज खाम को माया है ॥ ४ ॥

—०—

२४ अथ लावनी चाल दून

अब हुआ कुम का अन्त सन्त यह कहते । अजी एजी सोमवती समता को धारो ॥ मावस ममता को त्याग राग अरु द्वेष सभी मारो ॥ टेक ॥ स्नानो संशय को काढि मूल स प्यारे । अजी एजी ज्ञान की धारा में न्हावो ॥ निष्काम निशान हिसाब धाय गुरु संगम पर आवो ॥ सतगुरु से करो मिलाप सुफल होय मता । अजो एजी कर्म की कालिख को धोवो ॥ करि के ऐस अज्ञानाम फेर निरभय होके सोवो ॥

शेर—

ऐसा किया अशनान जिसको,ज्ञान गोता लाय के ।
सो निरभय होके सोवता,विरती थकी है जाय के ॥
पाया अमोलक वस्तु को,वह क्यों मरे फिर धायके ।
अंतर की अग्नी बुझि गई,निज रूप अपना पायके ॥

हर हाल हंसी हर हाल खुशी मे रहते । अजी एजी मूल संसृती को जारो ॥ १ ॥ सब झूठा यह परपंच रंच नहिं सच्चा ॥ अजी एजी फेर क्या मजब गीत गावे ॥ शास्त्र वेद पुराण सभी यह कहि के समझावे ॥ नहिं समुझे मूढ गंवार वेद का आशा । अजी एजी चाल वही भेडों की चलते ॥ फँसि गये मजहब के जाल अविद्या अग्नी मे जलते ॥

शेर—

मरुस्थल को देखि के, मिरघा फिरत है धावता ।
भटकि के मरजात है,नहिं उसकी प्यास बुझावता ॥
तैसे ही यह जीव मूरख,विषय सुख को चाहता ।
तिन हेतु धन के काज जग में,नाना स्वांग बनावता ॥

सब कहते संत पुकार विषय दुख रूपा । अजी एजी तजो अब अपने को तारो ॥ २ ॥ जो किया तुझे सन्यास आश करे किसकी । अजी एजी काम क्या दोतर से तुझको ॥ यही बड़ा अफसोस बात सुनि सुनि होता मुझको ॥ कोई बने बैरागी खाकी खाक रमावे ॥ अजी एजी अर्थ बे तिसका भूले हैं । समुझावे को तिसे लोभ के भूले भूले हैं ॥

क्यों समझ सूरमा रमज हमारा देखी। अजी एजी माया का जाल उठाया है ॥ ३ ॥ माया के जाल में फंसे मूढ़ अज्ञानी। अजी एजी धर्म अपने से मारे हैं ॥ पकड़ी लोभ को नाहिं जाड़ खोकर को खाते हैं। तजि दिया ज्ञान अध्ययन लोभ के फंद में ॥ अजी एजी कर्म अपने को त्याग है। व्यभिचारिन क्यों फिरे चार विषयों की लागा है ॥

शेर—

घर छोड़िके क्यों नीच स,काहे को मुखकारा किया।
मूल शब्द सन्यास को, कलदार में मन को दिया ॥
फिरना है संसार में ऐसे, सन्यासी का जिया
कौड़ी फिरत है मांगता खाता है झगड़ा किया ॥

नाहीं ज्ञान सैन को समझ मूढ़ अनारी। अजी एजी अज्ञान लाज को खाया है ॥ ४ ॥

—०—

२४ अथ लावनी चाल दून

अब हुआ कुम का अन्त समय यह कहते। अजी एजी लोभवती समता को मारी ॥ मानस ममता को त्याग राग अरु द्वेष सभी मारी ॥ टेक ॥ त्यादो मंशय को काटि मूल स प्यारे। अजी एजी ज्ञान की धारा में न्हाओ ॥ निष्काम निशान निश्चय धाम गुरु संगत पर आवो ॥ सद्गुरु से करो मिलाप सुफल होय मन्त्र। अजी एजी कर्म की कालिमा को धोवो ॥ करि क एस अज्ञान पर निश्चय हाक सोवो ॥

२५ लावनी. (चाल दून)

शेर—

हाल दौरे का लिखें, सुन लीजिए चित लाय के।
जो आया देखन सुनन में, सबही कहते गाय के।
ये जीव दौरा करत है, जगत जंगल आय के।
भूल्या हुकुम सरकार का, रह्या रैयत में उलझाय के॥

हाकिम पति हाकिम जीव करै जग दौरा। अजी एजी, बैठि के माया असवारी॥ जब करके देखी जांच तभी गलती निकली सारी॥ टेक॥ गलती गिरदावर जान पर्दा पटवारी। अजी एजी; सभी यह वेद जाल वस्ता। संतसगति सड़क जान यही सीधा रख्या रस्ता॥ सब हाल यही एक हवलदार तुम जानो॥ अजी एजी, कायदा कर्मकांड भास्या, नानापन नंबरदार हुकुम भुगतन लाग्या सारा॥

शेर—

वैर बलाई चले, तड़वि तामस धाय के।
न्याव नाई मन मन कर, हाकिम पे पहुंचे जाय के॥
चित्त चौकीदार से, हाकिम कहै समुझाय के।
प्रारब्ध जागीर खावो, सरकारी काम बनाय के॥

रैयत रजोगुण बुलवाय कहा समझाय के॥ अजी एजी, बकाया दीजै सरकारी॥ १॥ ये मान अमीन बुलाय हुकुम दिया

शेर—

कह वेद पुकारि के, रागी सो वैरागी नहीं।
सोही वैरागी है सही, तिरलोकी से राजी नहीं॥
कहते वैरागी आपको, मन बात है तिनकी बही।
माया मन्दिर में भरे, पूड़ियों की चाह रही है तई॥

जिस वंद कह वैराग अपर नहिं उसको, अजी एजी रात दिन बकें म्हारो म्हारो॥ ३॥ सन्नि कर अपनी मर्याद स्वाद क्या भाया। अजी एजी छोम की भजर फाँस भारी। क्या गृही क्या सन्यासि छोम को क्य लियं ब्रह्मचारी॥ जब कोर्ड दिया पर बार बार क्यों होवा। अजी एजी मागि कर टुकड़े को खावे। अपनी इच्छा अनुसार चहे जागे चहे सो जावे॥

शेर—

यही मता है सत का, नित जपे अपने आप को।
स्वतंतर होके विचरता, तजिकर परतंतर पापको॥
गुरुद्वार में क्या काम है, पर छोड़ दीना बापको।
गुरु अपना आप है फिर, जपे किसके जापको॥

पंथो में संत नहिं पड़ें पड़ें सोई बहते, अजी एजी ज्ञान के अंजन को सारो॥ ४॥

—०—

फिर देख्या लोभ लंगूर डाक वडि मारे। अजी एजी, करी जब मुर्द घाट त्यारी ॥ ३ ॥ जहाँ नाम नरवदा न्हाय मैल सब धोया ॥ अजी एजी; हवा हुरमत की खूब उड़ी। तिसते आगे चाल सवारी वाकानेर वड़ी ॥ यह वका मारग जान पहुँचता कोई ॥ अजी एजी, मान की मनवर मे आये। कामादिक रस्ता घिकट काट अमझेरे को पाये।

शेर—

आमनाथ अमझेरेमें, धी अंबिका देवी रहे।
जो समझे याके अर्थ को, पाप जन्मों के दहे ॥
सत रूप जों सरदार पुर है, उस्में उलटा आ रहे।
फिर दौरे का झगड़ा चुक्या, निज धाम अपना पा रहे ॥

इस गुम दौरे का सार त्यार कोइ समझे, अजी एजो, पार सब होवे नरनारी ॥ ४ टेक ॥

दोहा—

मुस्ताजिर माया में फंसे, बह गये वहवटदार।
छुटि गये माया जाल से, सोइ उतरे परले पार॥
लेवे सार सुगंध को, तज दुरगंध असार।
पावे अपने रूप को सब, छूटे भरम विकार ॥

—०—

तिसको ॥ अजी एजी; आप जल्दी कीजे प्यारे ॥ जो पड़ जावगी चूक फिरो जग जंगल में मारे। सुनके हाकिम का हुक्म बस फुरती स ॥ अजी एजी, आप का साज लिया सारा। हलके की हंसी गया शिस्त जिने बांधी पकतारा ॥

शेर—

वेद के कानून मूजिब, काम तिसको सब किया।
कर्म फल को त्यागि क, मुक्ति रिश्वत से हुवा॥
करके सफाई काम की, सबही तिसे दिखला दिया।
तुम कीजिये सरकार बस, यह काम हम जिस बिधि किया।

सब ऊंच नीच लख आप रही नेहि छिस्वा। अजी एजी; नहीं छोड़ी हल्की भारी ॥२॥ हम गेरो पतन अतीव ज्ञान का गट्ठा॥ अजी एजी, काया भूमी की माप गिरी। जब निकलो पंथ हि ओर खेत तीनों में पक्कल करी ॥ लिम चौरासी लाख खेत तीनों में॥ अजी एजी चार हिस्स कोनी सारी, इकिस इकिस लाख सभी कागज के मंझारी ॥

शार—

सत रूप जो सरदारपुर तिससे यह दौरा चल्या।
मधामपुरतांडा पव्या, बाग में डेरा डल्या॥
पाप पांडवगुफा देखी, व्यासपुर में जा रख्या।
भय मद भीलावाड़ में, फेर कांगसी कू में जख्या॥

वेद शास्त्र में नाना झगड़े, तुझ में तो कोई वाद नहीं ॥
माया अविद्या जीव ईश में, तुझमे कोई उपाधि नहीं ॥
काल का भय नहिं जरा भी तुझमे, काहे को विरथा दु ख सहे ॥ ४

—०—

२७ लावनी. रंगत ख्याल (प्रश्न रूप)

खबर नहीं है अपने घर की, औरों के घर की बात करे।
कौन पुरुष इस काया नगर मे रातदिना परकाश करै ॥टेक॥
चन्द्र सूर्य तारागण अग्नी, विद्युत वायक सब भासे ।
जाग्रत स्वपन सुसोपति तुरिया, चार अवस्था परकासे ॥
तुरियातीत अरु अधकार को, या काया में कौन लहे ।
लिया दिया अरु खाया पीया, पहिलो वातां कौन कहे ॥

शेर—

सब हाल का होय ख्याल जिस्में, कौन कुव्वत पायके ।
कहने मेरे पर गौर कर, मन आपने को लायके ॥
अंतर में करो बिचार, क्यों मरे बाहर धाय के ।
जाता आता कौन है, सबही कहो समझाय के ॥

तन शहर का खोज करो यों को जम्मै अरु कौन मरे ॥ १ ॥
ईश्वर जीव कहत है किस को, भेद का कारण दिखलावो ।
क्या स्वरूप औरु देश काल है, वस्तू तिनकी बतलाओ ॥

३६ लावनी (रंगत खयाल)

काया मन्दिर माहिं पियारे, आतम ज्योतिर्लिंग रहे ।
मनीराम है जिसका पुजारी, तरह तरह के भोग धरे ।टेक।
गौण पुजारी और आठ हैं, अपने अपने काज चले ।
शब्द, अरु स्पर्श रूप, रस, गंध को लेके हाजिर करे ।।
नौ तो पूजा करें ध्यान से, मन बुद्धि चित अहंकार मिले ।।
दस पुजारी हैं कर्म कांड के, करते अपने कर्म भले ।
सब मिलि पूजा करें हैं देव की, जन्म २ के पाप टरे ।। १ ।।
धूप दीप हैं साधन सारे अरु जितने पत्रा पोथी ।।
निज आतम बिविवेक की किरिया और सभी जानें थोथी ।।
सत चित आनन्द तीन पुष्प धरि, निश्चय में बुद्धि सोती ।
मन वाणी की गम्य नहीं जहं, मंद होय सबही जोती ।।
आप स्वयं परकाश विराजे, नेति नेति कर वेद कहैं ।। २ ।।
ज्योती स्वरूप है आप तुही फिर, किस ज्योती का आस करे ।
अन्दर बाहर तीन काल में, सबही का परकाश करे ।।
तुही अरु अज्ञान में आके, तुही रूप आभास धरे ।।
"मैं-आप" यह विरती करके, तुही आवरण नाश करे ।
सब तेरी चमक की दमक पड़ी है पवनरु पानी सभी बहे ।। ३ ।।
शुप्तरु परपर आप विराजे, तेरे तो मरयाद नहीं ।।
आदि अन्तादि मध्य कहें तो तेरे तो कोई आदि नहीं ।

वेद शास्त्र में नाना झगड़े, तुझ मे तो कोई वाद नहीं ।।
माया अविद्या जीव ईश मे, तुझमें कोई उपाधि नहीं ।।
काल का भय नहिं जरा भी तुझमें, काहे को विरथा दुःख सहे ।। ४

—०—

२७ लावनी. रंगत ख्याल (प्रश्न रूप)

खबर नहीं है अपने घर की, औरों के घर की वात करे ।
कौन पुरुष इस काया नगर में रातदिना परकाश करे ।।टेक।।
चन्द्र सूर्य तारागण अग्नी, विद्युत वायक सब भासे ।
जाग्रत स्वपन सुसोपति तुरिया, चार अवस्था परकासे ।।
तुरियातीत अरु अधकार को, या काया में कौन लहे ।
लिया दिया अरु खाया पीया, पहिली वाता कौन कहे ।।

शेर—

सब हाल का होय ख्याल जिस्में, कौन कुव्वत पायके ।
कहने मेरे पर गौर कर, मन आपने को लायके ।।
अंतर में करो बिचार, क्यों मरे बाहर धाय के ।
जाता आता कौन है, सबही कहो समझाय के ।।

तन शहर का खोज करो यों को जग्मै अरु कौन मरे ।। १ ।।
ईश्वर जीव कहत है किस को, भेद का कारण दिखलावो ।
क्या स्वरूप औरु देश काल है, वस्तू तिनकी बतलाओ ।।

३६ लावनी (रगत खयाल)

काया मन्दिर माहिं पियारे, आतम ज्योतिर्लिंग रहे।
मनीराम है तिसका पुजारी, तरह तरह के भोग धरे ।टेक।
गौण पुजारी और आठ हैं, अपने अपने काज चले।
शब्द, अरु स्पर्श रूप, रस, गंध को लेके हाजिर खड़े ॥
जो तो पूजा करें ज्ञान से, मन बुद्धि चित्त हंकार मिले ॥
दस पुजारी हैं कर्म ज्ञान के, करत अपने कर्म भले।
सब मिलि पूजा करें हैं देव की, जन्म २ के पाप दहे ॥ १ ॥
धूप दीप हैं साधन सारे अरु जितने पकवा पोथी ॥
निज आतम विविरेक की किरिया, और सभी जानें थोथी ॥
सत चित आनन्द तीन पुष्प धरि, निश्चय में बुद्धी सोती।
मन वाणी को गम्य नहीं जहं, संत होय सबही जोती ॥
आप स्वयं परकाश विराजे, नेति नेति कर वेद कहै ॥ २ ॥
जोती स्वरूप है आप तुही फिर, किस ज्योती का भास करे।
अन्दर बाहर तीन काल में, सबही का परकाश करे ॥
तुही अरु अज्ञान में आके, तुही रूप आभास धरे ॥
"मैं-मेरा" यह विरती करके, तुही आवरण माया करे।
सब तरी चमक की दमक पड़ी है पवन तह पानी सभी बहे ॥ ३ ॥
गुप्तह परपद आप विराजे, तेरे सो मरयाद नहीं ॥
सादि अनादि शब्द कहे तो तेरे तो कोई आदि नहीं।

वेद शास्त्र मे नाना झगड़े, तुझ मे तो कोई वाद नहीं ॥
माया अविद्या जीव ईश में, तुझमें कोई उपाधि नहीं ॥
काल का भय नहिं जरा भी तुझमें, काहे को विरथा दु ख सहे ॥ ४

—०—

२७ लावनी. रंगत ख्याल (प्रश्न रूप)

खबर नहीं है अपने घर की, औरों के घर की बात करे।
कौन पुरुष इस काया नगर मे रातदिना परकाश करै ॥टेक॥
चन्द्र सूर्य तारागण अग्नी, विद्युत वायक सब भासे।
जाग्रत स्वपन सुसोपति तुरिया, चार अवस्था परकासे ॥
तुरियातीत अरु अधकार को, या काया में कौन लहे।
लिया दिया अरु खाया पीया, पहिली वातां कौन कहे ॥

शेर—

सब हाल का होय ख्याल जिसमें, कौन कुव्वत पायके।
कहने मेरे पर गौर कर, मन आपने को लायके ॥
अंतर में करो बिचार, क्यों मरे बाहर धाय के।
जाता आता कौन है, सबही कहो समझाय के ॥

तन शहर का खोज करो यौं को जग्मै अरु कौन मरे ॥ १ ॥
ईश्वर जीव कहत है किस को, भेद का कारण दिखलावो।
क्या स्वरूप औरु देश काल है, वस्तू तिनकी बतलाओ ॥

गुण शाली अरु माया कौन है, क्या करते अरु क्या खाते ।
कौन कर्म तिनके विचरने का जहाँ पे य आत जाते ॥

शेर—

चेतन नित्य समान है फिर धर्म उनके क्यों कहे ।
एक तो सर्वज्ञ है, अल्पज्ञ दूजा क्यों भये ॥
एक तो करता नहीं, अरु एक कर्ता क्यों रहे ।
एक तो आनन्दमय है, एक दुख को क्यों सहे ॥

जब वह भजन करे ईश्वर का, फिर कैसे उस आधार करे ॥
तत्त्वमसि पद का वाच्य कहा है कौन लक्ष्य कहलावे है ॥
महावाक्य में वृत्ति कौनसी, जो तिनका भेद मिटावे है ॥
भई मया यह ज्ञान कहावे, सो यह होता है किसको ।
या तन में रहे कौन अज्ञानी, हमने बतलाओ उसको ॥

शेर—

प्रक्रिया सबही कहो, वेदान्त के सिद्धांत की ।
जिस भोमि के ज्ञानी पुरुष, बात करते ज्ञान की ।
जिस करके करते ध्यान को, वह कौन वार्ता ध्यान की ।
समाधी के विघन साधन, बात कह अष्टांग की ।

के प्रकार की है यह समाधी जिसकर योगी योग करे ॥ २ ॥
काल का भय किसको रहता है, कौन पशु अरु क्या मुक्ते ।
मुक्ति होयकर बन्ध से छूटे सभी कहो तिनको मुक्ती ॥

ज्ञान के साधन कौन पियारे, किसको कहते हैं भक्ती ।
कै प्रकार की कैसे करते, वतलावो करके शक्ती ॥

शेर—

पंच कोश अतीत आतम, कौन कारण से रहे ।
सबके शामिल मिल रहा, कैसे अकारता हो रहे ॥
गुप्त परघट एक है, क्यों अपनी लज्जत खो रहे ।
फंसि के अविद्या जाल में, इस जगत में क्यों मोरहे ॥

व्यापक ब्रह्म स्वरूप कहत हैं, कैसे डूबे कैसे तरे ॥ ४ ॥

(इति प्रश्नः)

—०—

२८ लावनी. चाल दून (पूर्व प्रश्नों के उत्तर)

कर घर अपने की खबर सवर से सोवे । अजी एजी, आतमा सब का परकासी ॥ सत् चित् आनन्द रूप स्वयं प्रकाश है अविनासी ॥टेक॥ जब स्वप्न अवस्था होय नहीं कोइ जोति ॥ अजी एजी, भासता जगत जाल सारा । सब जोनि जीवाभास नहीं तुझ दृष्टा से न्यारा ॥ जो कहीं अवस्था चार जाग्रत आदि ॥ अजी एजी पंचमी तुरियातित जानो ॥ इन सब का व्यभिचार एक रस आतम पहिचानों ॥ जिसे अधकार प्रकाश भासते दोनों ॥ अजी एजी, उसे आभास बताया है ॥ लेना देना जान भूल संब उसमें हि गाया है ॥

गुण धर्मी अरु धर्मा कौन है, क्या करते अरु क्या जावे ।
कौन देश तिनके विचरन को जहाँ पे ये आवे जावे ॥

शेर—

चेतन मिस्ल समान है फिर धर्म उलटे क्यों कहे ।
एक तो सर्वज्ञ है, अल्पज्ञ दूजा क्यों कहे ॥
एक तो करता नहीं, अरु एक कर्ता क्यों रहे ।
एक तो आनन्दमय है, एक दुख को क्यों सहे ॥

जब यह भजन करे ईश्वर का, फिर कैसे वस आराध करे ॥
तत्त्वं पद का वाच्य क्या है, कौन लक्ष लक्षण है ॥
महावाक्य में वृत्ति कौनसी, जो तिनका भेद मिटावे है ॥
यह भया यह ज्ञान करावे या यह होता है किससे ।
या तन में रहे कौन अज्ञानी, हमें बतलाओ उसको ॥

शेर—

प्रक्रिया सबही कहो, वेदान्त के सिद्धांत की ।
जिस भाँति से ज्ञानी पुरुष, प्राप्त करते ज्ञान की ।
जिस करके करते ध्यान को, वह कौन ध्याता ध्यान की ।
समाधी के विघन साधन, प्राप्त कह अष्टांग की ।

के प्रकार की है यह समाधी जिसकर योगी योग करे ॥ ३ ॥
काल का भय किसको रहता है, कौन पंगु अरु क्या मुक्ते ।
इति शमदम बन्ध से छूट सभी कहो तिनको मुक्ते ॥

एजी, लोक लोकांतर को जावे ॥ दूजा रहे असग, नहीं कछु करै नहीं खावे ॥

शेर—

चेतन नित्य समान है, धरम उलटे यों कहे ।
माया अविद्या भेद से, करता अकरता बनि रहे ॥
करता मती के भेद से, सुख अरु दुख को सहे ।
निष्काम होय ईश्वर को भजता, आजादता में होरहे ॥

त्वं पद वाचक जीव ईश तत् पद का । अजी एजो, असी पद लक्ष है सुख रासी ॥ २ ॥ होय चिदाभास को ज्ञान वही अज्ञानी ॥ अजी एजी सभी प्रक्रिया को जानो ॥ नहिं प्रक्रिया का अंत बात जिसकी करते ज्ञानी ॥ विधि, इच्छा, हठ, विश्वास, ध्यान उपयोगी ॥ अजी एजी, आदि में विघन चार रहते । साधन हैं तिसके आठ योगी जिसे निर्विकलप कहते ॥

शेर—

अभ्यास की कर तारतम्यता, भेद तिसके बहुत हैं ।
भय रहता अंतःकरन में, अब बंध मुक्ति कहत हैं ॥
बंधन विषयों की वासना, त्याग को मुक्ती कहैं ।
तज राग को युक्ती यही, फिर मुक्त आपै होरहैं ॥

ज्ञान के साधन अष्ट भक्ति बहि रंगा । अजी एजी, भक्ति वहि काटे सब फाँसी ॥ ४ ॥

शेर—

चैतन्य जो कूटस्थ है, तिसकि शक्ती पाय के।
आभास अन्त करण में,सब व्याप्त वरतें आय के॥
व्याप्त की पहिली कली में, कहे परसन गाय के।
पुरिअष्टिका में गमन होय,सुनलीजिए चित लायके॥

जैसे मरता स्थूल विकारी पट्ठा। अजी पजी, आतमा जावे नहीं आसी॥१॥ माया में पड्या आभास इश कहलावे। अजी पजी, अविद्या माहिं जीव कहिये, यदि कहते तिनका रूप भेद उपाधी से लहिये॥ अब इश काल वस्तू का हाल कहूं सारा। अजी पजी, इश के तीन वेश माने॥ सूत्रात्म् वैराट, तीसरे अव्याकृतवाले॥

शेर—

भूत भविष्यत वर्तमान काल जिसके हैं सही।
समष्टी, स्थूल, सूक्षम, कारण ये वस्तू कही॥
आठ गुण हैं माया शक्ति, ॐकार वाचा हुई।
अब जीव के सुन लीजिये,इक समझ के मेरी कही॥

है नेत्र, हृदय, अरु कंठ, देश यह तीनों। अजी पजी, अवस्था तीन काल मासी॥२॥ इंद्रियाँ और स्थूल हैं तिसकी वस्तू। अजी पजी चतु-वेश गुण जिसमें रहते॥ क्रिया शक्ति ज्ञान बैखरी वानी को कहते॥ सो कर्ता पुण्यरुपाप दुःख सुख पाता। अजी

एजी; लोक लोकांतर को जावे ॥ दूजा रहे असंग, नहीं कछु करै नहीं खावे ॥

शेर—

चेतन नित्य समान है, धरम उलटे यों कहे ।
माया अविद्या भेद से, करता अकरता बनि रहे ॥
करता मती के भेद से, सुख अरु दुख को सहे ।
निष्काम होय ईश्वर को भजता, आजादता में होरहे ॥

त्वं पद वाचक जीव ईश तत् पद का। अजी एजी, असी पद लक्ष है सुख रासी ॥ ३ ॥ होय चिदाभास को ज्ञान वही अज्ञानी ॥ अजी एजी सभी प्रक्रिया को जानो ॥ नहिं प्रक्रिया का अंत बात जिसकी करते ज्ञानी ॥ विधि, इच्छा, हठ, विश्वास, ध्यान उपयोगी ॥ अजी एजी, आदि में विघन चार रहते । साधन हैं तिसके आठ योगी जिसे निर्विकलप कहते ॥

शेर—

अभ्यास की कर तारतम्यता, भेद तिसके बहुत हैं ।
भय रहता अंतःकरन में, अघ बंध मुक्ति कहत हैं ॥
बंधन विषयों की वासना, त्याग को मुक्ती कहैं ।
तज राग को युक्ती यही, फिर मुक्त आपै होरहैं ॥

ज्ञान के साधन अष्ट भक्ति बहि रंगा । अजी एजी, भक्ति बहि काटे सब फाँसी ॥ ४ ॥

शेर—

चौथा प्रेमा परा भक्ति, कहते यों त्रय भेद हैं ।
दृष्टा है पञ्चो कोष का, यों कोष तें न्यारा कहैं ॥१॥
जैसे मिला आकाश सब में, शुभ दोष नहिं धारन करे ।
तैसे मिला आतम देह के, धर्मों से नहिं जन्मे मरे ॥२॥
भरम के वश कामकर, रचता है अपने रूप को ।
निद्रा में कंगाल होइ, स्वपना ज्यों आवे भूपको ॥३॥
आतम तो ब्रह्मस्वरूप है, परकी उपाधी को धरे ।
इस हेतु से यह दूषता, तजकर उपाधी को तरे ॥४॥
शुद्ध आत्मामें भरम करके, भीतर यो बाहर भासता ।
एक रस रहता सदा, भोगहि भाव उजासता ॥५॥

—०—

२६ लावनी (चाल दून.)

क्या सुनूं कि देखूं तेरे कमाल की लीला, महाराज ये मूरत किसने बनाई है । अजब तरह की सूरत सजा, यह कहां से आई है ॥टेक॥
कहीं शिव ब्रह्म विष्णु हो के चरण पुजाये महाराज कहीं सुर असुर कहाइ है । बन के मोहनीसूरत सुधाहित करी ठगाई है ॥
कहीं बन देव कहीं बन पुरंदर राजा, महराज सभा गंधर्व सजाई है । करे अपसरा नृत्य ताल सुरस कहीं गाई है ।।

शेर—

कहीं पद्मासन बांधे मुनिजन, ध्यान तेरा करि रहे ।
ब्रह्मानंद में होके मगन, कोइ मुक्त जीवन बनरहे ॥
तीर्थ यज्ञादिक करे कोई, दान में मन दे रहे ।
कोइ भोजन प्रेम से दें, कोई भिक्षा लेरहे ॥

कहिं पण्डित बनके वेद पाठपढ़ते हैं । महाराज हरिजन हर गुन गाई है ॥१॥ कहीं पै राजा रानी कहीं रइयत है, महराज चोर ठग पड़े दिखाई है । कहीं पाप कहीं पुन्य शत्रु कहीं करे भलाई है । यह खलकत तेरे ख्याल की चाल निराली, महराज देखें देखी नहीं जाई है । सभी शान हर आन एक नहिं मिले मिलाई है ।,

शेर—

कहीं ऐसी शान है, कुरबान आलम हो रहे ।
हुस्न बिजली सी चमक में चित्त जिनके मोहरहे ॥
देख बद सूरत कहीं पै, मुंह से पल्ला ले रहे ।
तारीफ निंदा शान की, अपनी जबां से कहि रहे ॥

मी०॥ कहीं देख के सूरत खुदी ये मन चल जावे, महराज नहीं वो हटे हटाई है ॥ २ ॥ टेक ॥ ये चित्र रचे हैं एक से एक अनोखे । महराज ये माया से उपजाई है ॥ पलभर में हो नाश नहीं कछु परै दिखाई है ॥ तू कौतुक करके देखै खलक तमाशा । महराज चतुर भूले चतुराई है ॥ स्वसरूप को विसारे रूप में रहे लुभाई है ॥

शेर—

माया जो ऐसी आपकी, निकसे नहीं योगी यती।
त्याग बंधन की क्रिया को, उसमें फिर करते रती॥
त्याग संग्रह के विषय में, बेखबर जिनकी मती।
नीर बिन संसार, में डूबे हैं अचरज सी गती॥

मी०॥ इन खुले नयन से स्वरूप परे दिखाई। महराज नैन बिन सब मिटजाई है॥ ३ ॥ टेक ॥ ईश्वर माया जीव अविद्या दोनों, महाराज जहां कों नवण सुनाई है। इंद्रिय मन का विषय सबजन कहैं समुझाई है॥ नहिं भीतर बाहर नहिं दूर नहीं नरे। महराज वद नेति कहि गाई है, सत्यसच्चिदानंद ब्रह्म निर्भय सदाई है॥

शेर

शुद्ध है चेतन्य है वह, नित्य ब्रह्मानन्द है।
निर्मल निजातम है सदा, ना कोई माया गंध है॥
प्रकाश ना पहुँचे कोई जहां सर्व ज्योति मंद है।
शुद्ध है सो प्रगट दीसे, शुद्ध शुद्धानन्द है॥

मो०॥ये विषय नासमानम दुखरूप सदाई। महराज ये महरम गुरू से पाई है॥ ध्रुव निश्चय होगया आप अपनोई माही है॥ ४ ॥ टेक॥

—o—

३० लावनी (चाल दून)

तुहीं व्यापक ब्रह्म अखंड नहीं जह लीला, महाराज अपन मे आप भुलाया है। स्वपने का परपच जागिकर कहूं न पाया है ॥ टेक ॥ सब तेरे ही फुरने का है विस्तारा, महराज नहो कुछ तुझसे न्यारा है, कर देखो तत्व विचार सभी मिथ्या संसारा है ॥ कहिं नहिं आशिक माशूक सभी यह झूंठा, महाराज नहीं कोइ मरे न मारा है। सुन गीता का ज्ञान कृष्ण को यह निरधारा है ॥

शेर—

अब शेर यामें लिखत हैं,समझे सोई नर शेर है ।
समझे सो पावे आपको, बिना समझे फेर है ॥
सब फेन तरंग तुषार जल मे,पडत घूमर घेर है ।
यक तोय से कछु भिन्न नाहीं,दृष्टि माहीं फेर है ॥

कर देखो दिल में ख्याल हुया नहिं होगा। महाराज नहीं कोई जाप जपाया है ॥ स्वपने का० ॥

जैसे सुवरण में भूषण बने अनेका। महाराज एक नहिं मिले मिलाया है ॥ कंठ, कुंडल, अरु नाथ, कंदोरा खूब बनाया है ॥ जब देखे नाना रूप भूलि गया सोना, महराज मोल तिसका करवाया है ॥ जब काटे धरा सराफ तभी यक सुवरन पाया है ॥

शेर—

तैसे जगत है आतमा में, कनक में भूषन यथा ।
नीर माही लहर जैसे, सीपी में रूपा तथा ॥

आकार दृष्टि छोड़ि के,टुक समझ ले उस यार को।
यार है दिलदार दिल में, देखि अजब बहार को॥

तू नहीं रक्त नहिं स्वेत न कारुम पीला। महाराज नहीं खोया नहिं आया है॥ २॥ टे०॥ जैसे भ्रम माहीं दीखत नीला कारुम। मह राज अनों तंबू तनआया है। धूलि धूम अरु मेघ गगन नहिं छिपे छिपाया है॥ ऐसा है आतम अद्भुत रूप तुम्हारा। महाराज छिपै नहिं देह विकारा है, जो देखन में आवे सभी यह झूंठ पसारा है॥

शेर—

रहता सदा तुही एक रस,दूजे का तुममें लेश ना।
आरम्भ और परिणाम माहीं,देश और परदेश ना॥
सादी अनादि कोइ नहीं,सब कल्पना का अंत है।
तूही सदा चिन्मात्र रूप है,कोई समझे विरला संत है॥

कर्ता क्रिया और कर्म सभी है झूंठा। महाराज अनों स्वप्न की माया है॥ ३॥ टेक॥ यों होय जगत का अंत, संत यह कहते। महराज वद में यस ही गाई है॥ नति नति कहि शुभ तुम यह मैन सुनाई है॥ ये आरम्भ बैठेहार अस्या नहिं आरा॥ महाराज सभी झूंठी चतुराइ है। पढि पढि वेद पुराण करी जग माहिं ठगाइ है॥

शेर—

कोई गुप्त से परघट कहै, परघट जो गुप्तानन्द है ।
कोइ ध्रुव से चलता कहै,सो चलता परमानन्द है ।
वस्तु में कछु भेद नाहीं, कहन माहीं फेर ह ॥
जैसे वन के पशू को, कोइ बाघ कहे कोइ शेर है ।

कोई कहै ब्रह्म कोई कहे उसी को माया ॥ महाराज भेद तिसमे नहिं भाया है ॥ ४ ॥

—०—

३१ ख्याल (रंगती दून)

मत पड़े भरम के जाल ख्याल सुन मेरा । महाराज बात वेदोंने गाई है, तुही सच्चिदानन्द सभी तेरी रोशनाई है ॥ टेक ॥ जब हुवा भर्म तो लगा खेल के माहीं, महाराज सुधी अपनी विसराई है । तरह तरह के रंग राग में सुरति लगाई है ॥ उस सूरत में मूरत का ही प्रतिबिंबा ॥ महाराज वही आभास कहाई है । सोन करै करता बनिके माने मनमाहीं है ॥

शेर—

भर्म के वश कर्म करि, फिरता है माया ठाट में ।
वो अविद्या होके तेरे, मारे, सिर की टाट में ॥
तू खुशी करि मानता, लगता विषय की चाट में ।
अजब नमा चीज को, देखन लगा है हाट में ॥

मी० ॥ इस सभी चीज का बीज नजर नहिं आवे, महाराज विचार बिनु फिरे सुभाई है ॥ १ ॥ एक भुन्नभीत पर चित्र रंगे सु माई, महराज बिना कर लिखा चितेरेने । धोये से ना मिटे मारता नाहीं सेरेन । यों भ्रम वश होकर फँसा सत्य माने है ॥ महाराज कर है कम जो बतनाई । छूटन का ची बाई, मगर बाकी में उलझाई ॥

शे—

निरर्थंप में बंधन समझ,करता जो जोवे कर्म को ।
कर्म धर्मी से जुदा सो, मानता है धर्म को ॥
देश कालातीत आतम, देखता क्या धर्म को ॥
पर को अपना जानता सब छोड़ दीनी शर्म को ।

मी० ॥ यों भ्रम छोड़ के फिरता मारा मारा, महराज हुआ गफलत के माहीं है ॥ २ ॥ आपज्ञान के ज्ञान बिना जग भास । महराज सर्प रज्जु में परकासे ॥ रज्जु ज्ञान स सर्प सभी वह जाही में भास ॥ जा अज्ञानसे उपजत है ना नासे महाराज ज्ञान होय ही मिटिजाई ॥ ठूँठ ज्ञानते तस्कर का भय होवत है नाहीं ॥

शेर—

पाप पुन्यों से जुदा, कृष्ण गीता में कहा ।
अज्ञान वश हो जीव,ये खुद आप संकट सह रहा ॥
वाशिष्ठ में श्रीराम से परसग ऐसा कह रहा ।
अज्ञान अपने आपके से, दुःखी हो नर अस रहा ॥

मी० ॥ यह विश्व सभी फुरने का है विस्तारा । महाराज देख अनुभव के माहीं है ॥ ३ ॥ जो सत चित आनन्द व्यापक ब्रह्म कहावे । महाराज वेद नित अभेद कहि गाई ॥ नेति नेति कहि थाकी श्रुति नहिं उसकी थाह पाई ॥ फिर कौन अलहिदा शामिल किस को कहिये ॥ महाराज भेद की गंध नहीं राई ॥ ज्यों वंध्या का पुत्र किसी ने देखा है नाहीं ॥

शेर—

चेतन निरमल शुद्ध है, सो कभी छिपता नहीं ।
सर्व का परकाश है, वह सर्व में लिपता नहीं ।
आनन्द गुप्तानन्द का, वह प्रकट में जाता नहीं ॥
एक रस वह बस रहा, पकड़े से कहिं आता नहीं ।

मी० ॥ है स्वयं सच्चिदानंद नहीं कछु करता, महाराज समझ ध्रुव बात जनाई है ॥ ४ ॥

—०—

अथ वेद शास्त्र पुराणादिकों का सार (कवित्त पर्व सी)

३२ कवित्त

ईश इच्छा अनुसार, पाया विष्णु को अधिकार । सोतो रचता ससार, नाना भाति कर पेखिये ॥ मही बाढ़त है भार, तब धारत औतार । धर्म की थापत कार, पाप सब छेदिये ॥ कहीं शूकर कहीं कच्छ, कहीं लक्ष औ अलक्ष, कहीं पर घट ही

लेखिये ॥ दुष्टन को मारिवारे संतन के काज सारे यहीं गुप्तरूप धारे, वह अचरज देखिये ॥ १ ॥

दोहा—

नाना विधि लीला करै, जिस का वार न पार ।
हानी होवे धर्म की, तब विविध वेष औतार ॥

३३ कवित्त

जब राम रूप धार्‍या, ब्रह्म ज्ञान को संभार्‍या । गुरु वशिष्ठ पधार्‍या, राम सभा में आयके ॥ विश्वामित्र तहाँ आये, जब राजा हरषाये । तहाँ राम को बुलाये, ब्रह्म ज्ञान को सुनाय के ॥ ऋषि ध्यानी के सुधारे, सिया स्वयंबर पधारे । तहाँ तोड़े धनुष भारे, मान भूपों के भजाय के ॥ हरी भक्तों को शरन, पूर्‍यो राम को परन । किया सिया को वरन, पहुँचे अवधपुर में आय के ॥ २ ॥

दोहा—

राम रूप को धारि के, कीन अद्भुत काम ।
भक्तीवश है रात की, धर्‍यो रामजी नाम ॥

३४ कवित्त

फरि वन को पयाना, जहाँ सिया को चुराना । सुग्रीव को मिलाना, दुष्ट बाली को पछार्‍या है ॥ बन्दर फौज को पठाना, सेतु सागर पै बँधाया । चढ़ि लंका को धाया दशशीस को बिनाश्या है ॥ राम किय समीफराज, फरि आय कियो राज ।

बाँधी धर्म की मर्याद, सब प्रजा को सुखाऱ्या है॥ किये सब ही शुभ काम, फेरिगये निज धाम। जहाँ पाय के आराम, सब श्रम को निवाऱ्या है॥ ३॥

दोहा—

भार उतारयो धरनि को, बांधी धर्ममर्याद।
परघट किया गुण कर्म को, जिसको गावैं साध॥

३५ कवित्त

फेरि मथुरा में आये, वसुदेव घर जाये। पुत्र नन्द के कहाये, रहे गोकुल में धाय के॥ बानी हुई जो अकाश, जाने कियो परकाश। ऊपज्यो त्रास, जब कंस मन आय के॥ मता कस ने उपाया, जब हुकुम सुनाया। सभी मंत्री बुलाय मारें बाल कोने ज्ञाय के॥ प्रथम पूतना पधारी, सोतो खैंचि खैंचि मारी। दैत्य आये कपट धारी, सब राखे हैं संहार के॥ ४॥

दोहा—

रामकृष्ण लीला करी, जाय बने गोपाल।
कंस केशी चाणूर से, हने दुष्ट भूपाल॥

३६ कवित्त

राम औ गोपाल, लीला कीनी सब बाल। मारे धरा के भूपाल, और दुष्ट जो संहारे हैं॥ किया जल बीच वास, पूरी भक्तन की आस। कुरुक्षेत्र प्रभास कौरव यादव सब मारे

हैं ॥ वाग्यो धरनी को मार, ऐसे कियो है संहार। फेरि आय सोये नार निज धाम में पधारे हैं ॥ जब होती है अनीती तब होय यह रीती। ऐसी ईश्वर की नीती, पावे सब कोई हारे हैं ॥ ५ ॥

दोहा—

अर्जुन उद्धव बिदुर को, स्वयं बताया ज्ञान।
काज किये मम भावते, प्रभु पहु चे निज धाम ॥

—०—

३६ कवित्त

कारण जीवों के कल्याण गुण कर्म भक्ति ज्ञान। जाने किवो है विख्यान, परगट करिके दिखायो है ॥ अष्टा दस जो पुरान किये व्यास भगवान। महा भारत के माहिं, बिस्तार ते बतायो है॥ वेदमें जो कॉड तीन, किय सब बीनि बीनि। भक्ति कर्म के अधीन, निज ज्ञान को सुनायो है ॥ बानी वैसरी अपार, जाको नहीं वार पार। शेष बुधि माम सार, क्रम आपमो बनायो है ॥ ६ ॥

दोहा—

निगमागम इतिहास, औ अष्टादश पुरान।
कई जो कर्म उपासना, हम सबको फल ज्ञान ॥

ज्ञान बिना मुक्ति नहीं, यह तू निश्चय जान ।
बाजै डंका वेद का, सबसे प्रबल प्रमान ॥

—०—

३७ कवित्त (निष्काम)

तिस ज्ञान के ही हित कहे साधन अमित । सुनि लीजे कर के चित्त, कहें तिनको बखानि के ॥ फल कामना का त्याग, कीजे विधो अनुराग । याते छुटैं सब दाग रहै मलदोष हानि के ॥ उठे वासना अपार, अंत करण के मंझार । ताको भयो तिरस्कार, मल दोष गया निश्चय लीजिये जानि के ॥ निष्काम को यह फल, जाते दूर होवे मल । मन होत है अचल वृत्ति ध्येयाकार तानि के ॥ ७ ॥

सोरठा—

वृत्ति ध्येयाकार, चलता मन तब स्थिर रहे ।
यही ध्यान परकार, ध्येयाकार मन जब गहे ॥

—०—

३८ कवित्त (निष्काम)

अब कहत उपासना को, दूरि करे वासना को मेटे भव-वासना को, नाता जग तोड़ती । मनवाह्य वृत्ति धावे, तिनें फेरि कर लावे । निज तत्व जब पावे, विषयों ते यही मोड़ती ॥

कहीं जाय के इकान्त, करे ध्येयहू को चित जब पावे कछु तंत, तब ध्यान हू में जोड़ता। जैसे नारि व्यभिचारी पर पुरुष वृत्तिधारी, तैसे जानो अधिकारी, वृत्ती ध्येयहू में जोड़ता ॥ ८ ॥

दोहा—

वृत्ती अन्तःकरन में, होवे ध्येयाकार।
नाशे मल विक्षेप सब, अब कहूँ विवेक विचार ॥

—०—

३६ कवित्त (विवेक)

सब साधन में सरदार, सब नरों का सिंगार विवेक को विचार, यामें सत्याऽसत्य पेखिये । आतम अविनाशी, सब जगत् विनाशी, सोतो सदा सुख राशी, सारा जग कष्ट पेखिये ॥ यह जेष्ठ जब आवे, संग अनुजों को लावे अविवेकता को खावे, याको मूक्ति मति छकिये । जब जाने नित्याऽनित्य, तब होवत है हित सुनि कीजे कर के चित, सोतो परम विशापिय ॥ ९ ॥

दोहा—

लक्षण कहा विवेक का, सो तू निश्चय धार।
बिगड़े काज अनादि के, पल में देत सुधार ॥

—०—

४० कवित्त (वैराग्य)

दूजा भ्राता जब आवे, तब रोष को दिखावे। सब झूंठा ही बतावे, दृष्य जाल को दिखाय के॥ इच्छा त्यागने की होवे, लोक वासना को धोवे। गत हुये दिन रोवे, बृथा आयु को गवाय के॥ जाने जानते थे सच्चा, सो तो पायो अतिकच्चा, सब झूठे नाच नच्या, वामें मच्यो धाय धाय के॥ यह जगत जाल तजूँ, निज रुपही को भजूँ। अबसाज यही सजूँ, गाऊँ राग निज पाय के॥ १०॥

दोहा—

यह सरूप वैराग का, जो कोइ लेवे जान।
फिरि याको धारन करै, तब करै वेगि कल्यान॥

।—०—

४१ कवित (उपरती)

तीजो भैया है उपरती, सो तो करत है निवरती। धारि लेत षट्, देत विषयों ते हटाय के॥ मन इंद्रियहु को तोड़े, नाहीं विषयन में जोड़े। वेद गुरू श्रद्धा लोड़े, समाधान को ठहराय के॥ और साधन जो कर्म, सब जानि लेवे भर्म। जाने विषयों को मर्म, भाजे विषवत धाय के॥ निज परनारी, सब लागत है खारी। ऐसी धारना को धारी, द्वैत दिये हैं उड़ाय के॥ ११॥

कहीं जाय के इकान्त, करे ध्येयहू को चित जब थके कछु संत, तब ध्यान हू में जोवता। जैसे नारि व्यभिचारी पर पुरुष बतिचारी, तैसे आमो अधिकारी, वृत्ती ध्येयहू को जोवता ॥ ८ ॥

दोहा—

वृत्ती अन्त करन में, होवे ध्येयाकार।
भागे मल विक्षेप सब, अब कहूँ विवेक विचार ॥

—०—

३६ कवित्त (विवेक)

सब साधन में सरदार, सब नरों का सिंगार विवेक को विचार, याते सत्याऽसत्य पेखिये । आतम अविनाशी, सब जगत् विनाशी सोतो सदा सुख राशी, सारा जग पर्खिये ॥ यह ज्ञेय जब आवे, संग मनुजों को भावे अविवेकता को जावे, याको मूक्ति मति लेखिये । जब जाने नित्याऽनित्य, तब होवत है हित मुनि कीजे कर के चित, सोतो परम विशेषिये ॥ ९ ॥

दोहा—

साधण कहा विवेक का, सो तू निश्चय धार।
मिटके काज प्रमादि के, पल में देत सुधार ॥

—०—

तत्व मसि गावते ॥ ताको सोधन बतावे, वाच्य अर्थ को छुटावे, वृति लक्षणा ठहरावे, फेरि लक्ष को लखावते ॥१३॥

दोहा—

तत्वमसि आदिक वाक्य जो, सुनना करके कान ।
इस स्थल के बीच में, येही सरवन जान ।

—०—

४४ कवित (मनन)

श्रवण किये हैं वचन, कीजे मन से मनन । ओप्ठ वाक्य को हलन, या में रंचहू न देखिये ॥ युक्ती भेद की है बाधक, और अभेद की स्वयं स्वरूप की साधक, वार वार ताको लेखिये ॥ प्रमाण औ प्रमेयगत, भावना असंसत । श्रवण मनन से होवे गत, यह निश्चय करि पेखिये ॥ तजे मूरखों का संग करे होय के असंग । लागे श्रवण को रंग, पावे पद जो अलेखिये ॥ १४ ॥

दोहा—

मनन इसी को कहत हैं, मन से करे विचार ॥
सोधे सत्य असत्य को, खैंचि गहे निजसार ।

—०—

४५ कवित (निदिध्यासन)

धृति धारा ज्यों बहावे, सब ब्रह्म में ठहरावे ये निदिध्यासन कहावे, खोवे विपरीत भावना ॥ वृत्ति उठत सजाती, दूर होवत

दोहा—

तीजा साधन उपरती, सोई षट् परकार।
जब याको धारन करै, तब कुछ देख बहार॥

—०—

४२ कवित (जिज्ञासा)

चतुर्थ जिज्ञासा है भाई, जाने इच्छा उपजाई करे जीव की खुदाई, आशा मुक्ति की लगाय के॥। जन्म मरन दुख भावे आतम सुख पावे। अब शांती चित्त आवे तोहि कहूं सुनाय के॥ गुरू ज्ञानवान पास, जाय करिके तलाश। तेरी पूरे सब आस, कहे ज्ञान समझाय के॥ अब कीजै यही काम, होय दिल में आराम। पावे सुखद्द धाम, रहे ब्रह्म में समाय के॥१२४

दोहा—

जिज्ञासा चौथो कह्यो, निश्चय कर मन माहिं।
सुख की करता चाहनी, दुख को छोड़े माहिं॥

—•—

४३ कवित (श्रवण)

कछु घर कहूँ मान निज आतम स ध्यान। ऐसे गुरू दें ज्ञान, मिथ्या ब्रह्म को बतावते। ऐसे समझण पहिचाने, सेवा तिनकी ठान। जब दया दृष्टी आने, मुख तत्व को सुनावते॥ वाक्य वेदों संसार मुख्य कहे हैं जो चार। करें तिन को उचार

४७ कवित्त (जीवन मुक्ति)

वेद कहे याको ज्ञान, सो तो प्रवल्ल प्रमान। हुये पुरुष जो शंकर, आदि सब गायी है॥ याते होवत मुकत, यह पाय के वखत। मिथ्या भास यह जगत, जाको सच्चा जानि धायो है॥ जीवनमुक्ती जो कहावे, भेद भ्राती को उड़ावे। पुनरावृत्ती को मिटावे, एक ब्रह्म मन लायो है॥ छूटे धारना औ ध्यान, पाया पद जो महान्। सव ज्ञान औ अज्ञान, ब्रह्म-नीर-में वहायो है॥ १७॥

दोहा—

यह जीवन मुक्ति कही, दूजी कही विदेह।
स्थित ह्वै निज रूप में, छूटि जाय जब देह।

—०—

४८ कवित्त (विदेह मुक्ति)

कही मुक्ती जो विदेह, सो तो झगड़ों का गेह। कीजे कौन से सनेह, नाना भाति कहि रोवते॥ कोई दोऊ को सुनावे, एक जीवत वतावे। कोई ईश्वर में मिलावे, कोई शुद्ध ब्रम्ह पोवते॥ कोई कर्म से घतावे, कोई ध्यानहू ते गावे। कोई वासना मिटावे कोई शिला पत्थर जोवते॥ कोई लोकों में घतावे, कोई कहे लौटिआवें। नाना झगड़े मचावे, चीर पंक माहिं धोवते॥ १८॥

बिजाती यहो करो दिन राती, मन फरि फरि भावना ॥ वृत्ति होवे ब्रह्माकार जड़े वासना की हार। तब देखना बहार, जो महान् पद पावना ॥ वृत्ति होवे परिपक्व, सीर सब में तत्व वामें कछु नाहीं शक्य, जो समाधी कहे गावना ॥ १५ ॥

दोहा—

निदिध्यासन श्रवण मनन, तीनो बसते ध्यान ॥
तेहि पर अवश्य पधारते,भूपति निरभय ज्ञान ।

—०—

४६ कवित्त (ज्ञान)

चढ़ो ज्ञान का सवारी, लेगा हाथ क्रियो भारी। 'अहं-ब्रह्म' किलकारी, करी, दल मिथ्‍या जाय के ॥ दूजो राज या अज्ञान, सो थो सकल मैदान । छूटे ज्ञानहू के बान, योधा वास्या है पनाव के ॥ अज्ञान दल मारे वाके ज्ञान के नगारे । होन लगा जयजय कारे, निज अचल प्रभाय के ॥ पाया राज जो गुप्त हुए जीवत मुक्त । तीनों काल मैंना जगत, कहे एक ब्रह्म यह नहि मति गाय के ॥ १६ ॥

दोहा—

जीव नहीं तू ब्रह्म है, अविनाशी निरवान ।
बजे ढंढोरा वेद का, कहें इसी को ज्ञान ॥

—•—

कहानी, कछु मनन धरत हैं ॥ जान्या आपको असंग, चढ़ै काहू का न रंग। जाने जीत्यो अति जग, सो तो मार्‌यो ना मरत है ॥ २० ॥

दोहा—

काल नगारे शीस पै, डंका ज्ञान लगाय।
सब कल्पित निजरूप, में विचरत सहज सुभाय ॥

—०—

५१ कवित्त (पूर्वोक्त लक्षण)

कभी तीर्थों में जावे, कभी मरूभूमि आवे। कभी भोजन अतिखावे, कभो भूखों ही रहत है ॥ राखै काहुसे ना काम, रहे दिल में आराम, एक आतम में धाम, निजरूप में चरत है ॥ करने योग किया काज, तजी जगत् की लाज। मिथ्या जाने सब राज, स्वयं राज को करत है ॥ देह इन्द्रिय अरु मान, मन रहत है दीवान, बुद्धि नारी है महान, चित् चिंतन करत है ॥ २१ ॥

दोहा—

अहंकार सब काज को, देवे तुरत संभार।
मन दीवान के हुकुम से, खड़ा रहे दरबार ॥

—०—

५२ कवित्त (पूर्वोक्त लक्षण)

जपै ईश को न जाप, मिटा भेद भरम पाप। स्वयंरूप चिदाकाश

कहानी, कछु मनन धरत हैं ॥ जान्या आपको असंग, चढ़ै काहू का न रंग। जाने जीत्यो अति जग, सो तो मार्यो ना मरत है ॥ ७० ॥

दोहा—

काल नगारे शीस पै, डंका ज्ञान लगाय।
सब कल्पित निजरूप, में विचरत सहज सुभाय ॥

—०—

५१ कवित्त (पूर्वोक्त लक्षण)

कभी तीर्थों में जावे, कभी मरूभूमि आवे। कभी भोजन अतिखावे, कभो भूखों ही रहत है ॥ राखै काहुसे ना काम, रहे दिल में आराम, एक आतम मे धाम, निजरूप में चरत है ॥ करने योग किया काज, तजी जगत् की लाज। मिथ्या जाने सब राज, स्वयं राज को करत है ॥ देह इन्द्रिय अरु मान, मन रहत है दीवान, बुद्धि नारी है महान, चित् चिंतन करत है ॥ ७१ ॥

दोहा—

अहंकार सब काज को, देवे तुरत संभार।
मन दीवान के हुक्म से, खड़ा रहे दरबार ॥

—०—

५२ कवित्त (पूर्वोक्त लक्षण)

जपै ईश को न जाप, मिटा भेद भरम पाप। स्वयंरूप चिदाकाश

कहाँ आवना न भावना ॥ राखे काहु से न काम, मस्त रहे आठोंयाम। रहे आतमा आराम, जो अदृष्ट भोग आवना ॥ कभी काष्ट को बिछौना, सम मिट्टी और सोना। मिले पक्व औ पकौना, आनन्द गीत गावना ॥ माने काहु से न रंक, चाहे राव होव रंक। रहे सदा निरशंक हुई एक ब्रह्म भावना ॥ २२ ॥

दोहा—

काल कर्म फांसी कटी, विचरत है निर्द्वन्द।
तिन की गति कैसे लखे,जग-मानमोलिया बिंद ॥

—o—

५३ कवित्त (पूर्वोक्त लक्षण)

कोई कहे यह भ्रष्ट, कई मानते हैं इष्ट। सदा मनमें संतुष्ट, ताको हर्ष नाहीं शोक है ॥ कहीं पूजते हजार, कहीं देते हैं धिक्कार कोई नाहीं मित्र यार, कछू रोष नाहीं तोष है ॥ कभी मांगते हैं भीख, कहीं देव शुभ सीख। कभी बोले ना अलीक, विक्षेप शक्ति शेष है ॥ परमार्थ दृष्टी माहिं, सूक्ष्मसूक्ष्म होवे नाहिं व्यवहार दृष्टी माहिं, मान्य तूला का ही लेश है ॥२३॥

दोहा—

मूला तूला प्रारब्ध, स्वय स्वरूप में नाहिं।
अन्य दृष्टि करके कही वेद शास्त्र के माहिं ॥

—•—

५४ कवित्त (पूर्वोक्त लक्षण)

तत्व ज्ञान मनोनाश, उड़ी वासना की वास । जब होत है हुलास, तिन तीनन को पाइ के ॥ याते होवे जीवन मुक्ति, छूटे सब ही आशक्ति । छावे दिल पै विरक्ति, वेद कहे नित गाय के ॥ समुझे वेद तत्व भेद, जाते दूर होवे खेद, आप जानत अछेद, सुनो मन बुद्धि लाय के ॥ जाको खोजने को जाये, सो तो कहीं नहीं पाये । अंतर वृत्ति क्यों नहिं लाये, बाह्य मरै धाय धाय के ॥ २४ ॥

दोहा—

जो समझे इस रमज को, मिथ्या बंधरु मोख ।
वेद कहे नित टेरि के, मन अपने में जोख ॥

—०—

५५ कवित्त (समाप्ती)

पाच और बीस कहे, कवित्त पचीस । सम्वत् एक सौ उन्नीस, मुनी सिद्धि कहि गायो है ॥ कहा वेद तत्व सार, कोई समझेंगे यार । कहा जानत गवार, जानें विपय मन लायो है ॥ यामें साधनऔ ज्ञान कहे, जीवत विदेह भये । लक्षण तीहूँ के कहे, काज आपनो वनायो है ॥ ऐसा साज्या जिने साज, पायो चक्रवर्ती राज । रहे सुख सो विराज, निज रूप में समायो है ॥ २५ ॥

दोहा—

अष्टादस प्रस्थान जो, कहा सो निश्चय जान ।
साधन जो सब कुछ हैं फल हैं सबके ज्ञान ॥
कवित्त पचीसी में कह्यो, सबको सूक्ष्म सार ।
या को पढ़ि धारन करे, लहे तत्व निरधार ॥

इति श्रीकवित्त पचीसी समाप्तम् । शुभमस्तु ।

—०—

४६ राग बंगला

बंगला खूब बनाया है, चतुर कारीगर करतारा ।टेक। पांच रंग की ईंट लगी है, सात-धातु का गारा । बिन औजार साज सब कीने, नख शिख लागत प्यारा ॥१॥ चित्र माया का काट रच्या है, नाना रंग अपारा । चाट बाट चौगर्दे गलियाँ, जिन में लगी बजारा ॥ २ ॥ इस बंगले में बाग लग्या है मन माळी रखवारा, साढ़े तीन करोड़ वृक्ष हैं, खिल रही अजब बहारा ॥३॥ किरोड़ बहत्तर नदियां बहती छुटि रही जलधारा । अन्त:करण अगाध सरोवर भृत्ती छुटै फुवारा ॥४॥ इस बंगले में रास रच्या है, नाना राग अपारा । अनहद शब्द होत दिनराती सोहम सोहम् सारा ॥५॥ इस बंगले में बाजे बाजें, बज रही है झंकारा । ढोलक झांझ बजे हरिमुनिया, सिंगरही स्वास सितारा ॥६॥ बाजे तीन बजाय रहे हैं स्वर अरु ताल निकारा । पांच पचीसों पातर नाचें करत देखन हारा ॥७॥ तीन लोक बंगले के

अन्दर, नाना जगत अपारा ।। गुप्त रूप से आप विराजे, सबका जानन हारा ।। ८ ।।

—०—

५७ बंगला

बंगला रच्या अविद्या जाल, किया है कारीगर कम्माल ।।

इस बंगले की तीन अवस्था, वृद्ध तरुण और बाल ।। ताके माहिं बहुत मन लाया, कुछ नहिं रही संभाल ।।१।। जन्म हुये से जन्म्या माने, मरने से निज काल ।। तिस्के तदाकार हुई वृत्ति, भूल्या अपना हाल ।।२।। मात पिता भ्राता सुत दारा, इनके लागि लिया नाल ।।ग्राम धाम यह देश हमारा, और सब ही धन माल ।।३।। भोगन काज अकाज करत है, रहा देह को पाल ।। मैं मेरे में मगन हो रह्या, यम करसी बेहाल ।।४।। तेल फुलेल लगावे तन में, धो धो बाहे वाल, यम के दूत आय के पकड़ें, चिमटो खींचें खाल ।।५।। वृद्ध हुआ नहि गई दुर्बुद्धी, नाचत देदे ताल ।। विषवत विषय फलन को खावै, चढा मौत की डाल ।।६।। टूटी जाड नाड लगी हालन, तौ भी करै न टाल ।। भोगों निमित्त आसन करता है, पडा काल के गाल ।।७।। गुप्त रूप को भूल्या मूरख, लगि के झूठे ख्याल ।। जैसे भूप स्वप्न के माहीं फिरै कगाल ।।८।।

—०—

५८ बंगला

भूलि गया बगले से मिलि यार, क्यों नहिं करता तत्व विचार

॥टेक॥ जब से बंगले में मन लाया तब से भया खुवार । मान रूप बंगले को मान्या, मौलिक मूढ़ गिंवार ॥१॥ ममता और विग्रह रहता, बंगला बारम्बार । बंगला साढ़े तीन हाथ का, तेरा रूप अपार ॥२॥ बंगला तो जड़ पंच भूत का, दीखत रहा साकार । तेरा रूप अरु रेख नहीं है, शुद्ध चेतन निराकार ॥३॥ बंगला तो परिवर्तन परिणामी, धारत षट् विकार । गुरु तो सदा एक रस रहता, बंगले का आधार ॥४॥ गुरु तो सत्य रूप अविनाशी, करके देख विचार । बंगला तो यह असत रूप है, पल पल में है छार ॥५॥ गुरु तो चेतन रूप विराजे, सब प्रकाश आधार । बंगला तो परघट जड़ दीखे, मूरख होत खुवार ॥६॥ गुरु तो आनन्द रूप रहित है, नहिं हलका नहिं भार । राग दोष का पोष मनावत, बंगला दुःख अगार ॥७॥ गुरु तो रहता गुप्त रूप है, बंगला दरस संसार । गुरु बंगले का रहनेवारा; बंगले का सरदार ॥८॥

—०—

५६ बंगला

बंगला करि चाहे खाली, यामें करत बहुत कुचाली ॥ टेक ॥ स्वेत केश यह नोटिस आया, हुकुम सुनाया खाली । बचपन में मुख देख पियारे, रही जवानी काली ॥१॥ हुआ पुराना बंगला तेरा, उड़ि गई है सब लाली । आस पास में लग्या बगीचा, छोड़ि चलेगा माली ।२॥ जब मालिक के आवें सिपाही, उजड़ा देत निकाली । एक घड़ी के ख्याल हाकिम, रिश्वत चले न चाली ॥३॥

कुटुम समेत निकाला जावे, कहा आज क्या कालो । सबही दखल छूटि जाय तेरा, खुलि जाय कचो ताली ॥४॥ तुझको पकड़ करेंगे आगे, मारें कलेजे भाली । हाहाकार पड़े जब कूवे, देवे काल को गाली ॥५॥ घड़ी पलक का लेखा लीजे पर घट होहिं कुचाली । वालिस्टरी रिश्वत तहाँ तेरी एक सके नहिं चाली ॥६॥ जोर जुलुम तेरा क्या चलता, मारे रावण वाली । काल बली से कोइ नहिं बचता, हालो और मुवाली ॥७॥ गुप्त रूप को जान्या नाहीं, पड़ा अविद्यावाली । यह सब झूंठा ख्याल रच्या है, तुह देखन वाला ख्याली ॥ ८ ॥

—०—

६० बंगला

अब तुह तज बंगले का सग, करके सन्तो का सत्सङ्ग ॥टेक॥ तिरने को है सत् सङ्ग मारग, डूबन कोंहै कुसङ्ग । हरि की भक्ति साधकी संगति, लगे हरी को रग ॥१॥ जिस बङ्गले को स्थिर जाने, होवे एक दिन भग । विवेक वैराग के शस्तर बांधो, खूब मचावो जंग ॥२॥ अवतो संग विषयों का त्यागो, बहुत किया इन्ने तंग । लोभ मोह के पड़ा पिटारे, जैसे मस्त भुजंग ॥ ३ ॥ विषय रूप अग्नी ने दाहा, तन मन सबही अङ्ग , आपही आप आय के गिरता, दीपक माहिं पतङ्ग ॥४॥ जैसे मीन मास के लालच, फँसि जाय कुडी संग । तैसे जीव विषयों में बंधता, पाय मूर्ख

॥टेक॥ जब से बंगले में मन आया तब से भया खुवार। आप रूप बंगले को जान्या, मौतिक भूत विकार ॥१॥ बनता और बिगड़त रहता, बंगला बारम्बार। बंगला साढ़े तीन हाथ का, तेरा रूप अपार ॥२॥ बंगला तो यह पंच भूत का, दीख रहा साकार। तेरा रूप अरु रेख नहीं है, तुह चेतन निराकार ॥३॥ बंगला तो परिछिन्न परिणामी, धारत षट् विकार। तुह तो सदा एक रस रहता, बंगले का आधार ॥४॥ तुह तो सत्य रूप अविनाशी, करके देख विचार। बंगला तो यह असत रूप है, पल पल में है क्षार ॥५॥ तुह तो चेतन रूप विराजे, सब प्रकाश आधार। बंगला तो परघट जड़ दीसे मूरख होत खुवार ॥६॥ तुहतो आनन्द रूप रचित है, नहिं दुख नहिं भार। राग दोष का धोंध मनावत, बंगला दुःख अगार ॥७॥ तुह तो रहता गुप्त रूप से, बंगला दृश्य संसार। तुह बंगले का रहनेवारा, बंगले का सरदार ॥८॥

—०—

५६ बंगला

बंगला करि चाले खाली, यामें करत बहुत कुचाली ॥ टेक॥ खेत केसा यह नोटिस आया, हुकुम सुनाया खाली। दरपन में मुख देख पियारे, बनी अभागी काली ॥१॥ हुआ पुराना बंगला तेरा, उड़ि गई है सब अकली। आस पास में अम्बा बगीचा, कोपि चलेगा माली ॥२॥ जब मालिक के भावें सिपाही, अउवा देत निकाली। एक घड़ी के खातर दीजिये, रिसवत चले न चाली ॥३॥

कथा कीर्तन यहि गीता का पाठ। सर्व रूप परमेश्वर जानो सब कुछ विश्व विराट् ॥ ८ ॥

—:—

६२ बंगला

ज्ञान जब सतगुरु से पाया। सभी बगले का भर्म उड़ाया ॥टेक॥
तीन काल नहिं हुये ब्रह्म में, द्वैत कहाँ से आया। जो दीखन जानन में आवे, सब चेतन की छाया ॥ १ ॥ नेति नेति कह वेद पुकारें, सत गुरु ने समझाया। व्यास वशिष्ट सनकादी शुकजी, दत्त भरत वामदेव गाया ॥ २ ॥ जो कुछ यह दीखन में आवें पिंडप्रान करु काया। गंधर्व नगर स्वप्न की सृष्टी, खोज कछू नहिं पाया ॥ ३ ॥ मिथ्या सर्प रज्जू में जैसे, काटि कोई नहिं खाया। तैसे जगत आतमा माहीं, कहाँ से चलिके आया ॥ ४ ॥ शुक्ती माहीं रुपा भासे, नाकहिं मोल विकाया। ठुठ के माहीं चोर कहत है, कहो किसका माल चुराया ॥ ५ ॥ गगन माहिं जिमि नीला भासे किसने रंग चढ़ाया। आतम एक अद्वितीय पूरन, कैसे जगत कहाया ॥ ६ जीव ईश का भेद भासता, याही जानो माया। सोवत भरम जाल है झूठा, काहे में मन लाया ॥ ७ ॥ गुप्त भेद सत् गुरु से पावना, कोई न जन्मी जाया। सदा असंग एक रस आतम, कभी न काल ने खाया ॥ ८ ॥

—०—

पर-सङ्ग ॥५॥ नीच सुभो मीच पावता, लेत कमल की गन्ध ॥ करी देख कर पड़ा खाड में, मूरख मूढ़ मतंग ॥६। जैसे बधिक बैन बजाई, राग सुनाया चंग ॥ सरवन इन्द्रिय के बस है के मारया जाव कुरंग ॥७॥ तैसे ही यह जीव जलत है, विषय अग्नि के संग ॥ गुप्त ज्ञान का गोता छलो न्हावो आतम गंग ॥८॥

—०—

६१ बगला

बंगले छाया विषयों का ठाट, एक दिन बैठि चलेगा काठ ॥टेक॥ चारों हाथे छुटि जांय तेरे, भगि जाय चारी खाठ । प्राण पवन का पंखा छूटे, बन्द होय सब पाट ॥१॥ घूम धाम जब मचे शहर में, पुरी छुटी जाय आठ । चोबेदार दीवान मुसद्दी, भागि गये सेले बाट ॥ २ ॥ तकिये तोशक और बिछौने, पड़े पलङ्ग और खाट । संगि हाथों पकड़ि लिया है, कछू न बांधा गाँठ । ३ ॥ यम के दूत पकड़ि ले चासे जूते मारे डाँट । पीछे और कुटुम्बी आये, माल लिया सब बाँट ॥ ४ ॥ हरि की भक्ती क्यों नहीं करता, उतरे औघट घाट । राम नाम की छेनी बनाके यम की फाँसी काट ॥५॥ जिसको देखि भूलि रहा मूरख, यह सब झूठा ठाट । भक्ती बिना सुख तीनो काल नहिं, यम का दफ्तर आफ्टर ॥ ६ ॥ अनन्य भाव से हरि को सुमिरो छोड़ि विषयों की बाट । प्रारब्ध भोग ध करो गुणातीत कपटी मनको काट ॥ ७ ॥यदि भक्ती और

कथा कीर्तन यहि गीता का पाठ। सर्व रूप परमेश्वर जानो सब कुछ विश्व विराट् ॥ ८ ॥

—○—

६२ बंगला

ज्ञान जब सतगुरु से पाया। सभी बगले का भर्म उड़ाया ॥टेक॥ तीन काल नहिं हुये ब्रह्म में, द्वैत कहाँ से आया। जो दीखन जानन मे आवे, सब चेतन की छाया ॥ १ ॥ नेति नेति कह वेद पुकारें, सत गुरु ने समझाया। व्यास वशिष्ट सनकादी शुकजी, दत्त भरत वामदेव गाया ॥ २ ॥ जो कुछ यह दीखन मे आवें पिंडप्रान करु काया। गंधर्व नगर स्वप्न की सृष्टी, खोज कछू नहिं पाया ॥ ३ ॥ मिथ्या सर्प रज्जू मे जैसे, काटि कोई नहिं खाया। तैसे जगत आतमा माहीं, कहाँ से चलिके आया ॥ ४ ॥ शुक्ती माहीं रुपा भासे, नाकहिं मोल विकाया। ठुठ के माहीं चोर कहत है, कहो किसका माल चुराया ॥ ५ ॥ गगन माहिं जिमि नीला भासे किसने रग चढ़ाया। आतम एक अद्वितीय पूरन, कैसे जगत कहाया ॥ ६ जोव ईश का भेद भासता, याही जानों माया। सोवत भरम जाल है झूठा, काहे में मन लाया ॥ ७ ॥ गुप्त भेद सत् गुरु से पावना, कोई न जन्मी जाया। सदा असंग एक रस आतम, कभी न काल ने खाया ॥ ८ ॥

—○—

६३ बंगला

तजो अब बंगले का अभिमान । तू तो दो दिन का महमान ॥ टेक ॥ लख चौरासी बंगले रस, बहुत हुआ हैरान । जहाँ गया वहँ भोगि बिपत्ती, कहीं न पायो आराम ॥ १ ॥ हरि की भक्ति साधु की संगति करि लेना यह काम । गुरू बेद में श्रद्धा करिके, तिन का कहना मान ॥ २ ॥ पैरों से चलि तीरथ जाना, क्या संतन के धाम । नैनों से दरशन करि हरिका, हाथों से कर दान ॥ ३ ॥ वाचक से हरिके गुन गावो, बुद्धी से कर ध्यान । हरि भजन में मन को लावो, कथा सुनो कर कान ॥ ४ ॥ तन से पर स्वारथ को कीजे, धन सुपातर दान । जन्म गुरू की सब सिखोवो, जासों पावे ज्ञान ॥ ५ ॥ जब माया के छुटे फंदवे, पावे पद निरवान । चार बेद षट् शास्त्र कहते, अष्टा दस पुरान ॥ ६ ॥ इस बिधि से जो काम करत है, छोड़ मान अपमान । प्रेम भाव का दफ्तर फाड़े, तब होवे कल्यान ॥ ७ ॥ शुभ रसम को समझ पियारे, मत ना रहे अज्ञान । काल बली के छुटे फंदवे, पुरुषोत्तम दास ज्ञान ॥ ८ ॥

—०—

६४ बंगला

कार्तिक कर करमन की हान गहाप के पूरस निरमल ज्ञान ॥ टेक ॥ जग के गहाये न्हाम नहीं है, अन्दर मैला जान । छुप

पात्र को सौ वेर धोवे, शुद्ध हुया नहि मान ॥ १ ॥ अन्तर की शुद्धी जब होवे, कर्म करे निष्काम ॥ वृत एकादसि गंगा न्हावे, ईश्वर का जप नाम ॥ २ ॥ सब साधान में शुद्धी करता, है आतम अशनान ॥ जो कोई न्हावे, फेर न आवे सोवे चादर तान ॥ ३ ॥ कार्तिक न्हाया जभी सफल है, करै नित्य हरि ध्यान ॥ मनोकामना पूरन होवे , मिटै चोरासी खान ॥ ४ ॥ मन में धारो कामना, लागी गोपिका न्हान ॥ अन्तरयामी घट घट व्यापक, पूर्ण करे भगवान ॥ ५ ॥ तिन की भक्ती के वश ह्वैकर, किये नाच अरु गान ॥ मुरली मधुर बजाई वन में, मटकत देदे तान ॥ ६ ॥ ऐसा न्हान न्हावना चहिये, रीझत है भगवान ॥ जप तप वृत यज्ञ अरू पूजा, भक्ती के साधन जान ॥ ७ ॥ चारों साधन तिसतें होवे, चारों ही अगले पहिचान ॥ अन्तरंग यह आठो साधन, इन बिन होत न ज्ञान ॥ ८ ॥

—०—

६५ बंगला

बंगले पावें अविनाशी, अब तू कर के देख तलाशी ॥ टेक ॥ वैठि एकाँत विचार करै, जोग से होय उदासी । तिस को दर्शन अवश्य देत है, कैलासन का वासी ॥ १ ॥ तीन देह कैलास के माहीं, है सब का परकाशी ॥ घट घट माहीं रटना रटि रहा, करै विलास विलासी ॥ २ ॥ एक बार हो दरशन वा का, कटे

६३ बंगला

तजो अब बंगले का अभिमान। तू तो दो दिन का मेहमान ॥ टेक ॥ लख चौरासी बंगले देखा बहुत हुआ हैरान। जहाँ गया वहाँ भोगि बिपत्ती, कहीं न पायो आराम ॥ १ ॥ हरि की भक्ति साधु की संगति करि लेना यह काम। गुरु वेद में श्रद्धा करिले, तिन का कहना मान ॥ २ ॥ पैरों से चलि तीरथ जाना, क्या संतन के धाम। नैनों से दरसन करि हरिका, हाथों से कर दान ॥ ३ ॥ वाचक से हरिके गुन गावो, बुद्धी से कर ध्यान। हरि भक्तन में मन को लावो, कथा सुनो कर कान ॥ ४ ॥ तन से पर स्वारथ को कीजे, धन सुपात्तर दान। जन्म गुरु की सेव मिलेगा आत्मों पावे ज्ञान ॥ ५ ॥ जब माया के छूटे फंदवे, पावे पद निरवान। चार वेद षट् शास्त्र कहते, अष्टा दस पुरान ॥ ६ ॥ इस बिधि से जो काम करत है, छोड़ मान अपमान। द्वैत भाव का दफ्तर फाड़े, जब होवे कल्यान ॥ ७ ॥ गुप्त रमज को समझ पियारे, मत ना रहे अजान। काल बली के छूटे फंदवे, पुनजन्म होय हान ॥ ८ ॥

—०—

६४ बंगला

कार्तिक कर करमन की हान गंगा के पूरन निरमल ज्ञान ॥ टेक ॥ जल के न्हाये न्हान नहीं है, अन्तर मैला जान। मुए

पात्र को सौ वेर धोवे, शुद्ध हुया नहि मान ॥ १ ॥ अन्तर की शुद्धी जव होवे, कर्म करे निष्काम ॥ वृत एकादसि गगा न्हावे, ईश्वर का जप नाम ॥ २ ॥ सब साधान मे शुद्धी करता, है आतम अशनान ॥ जो कोई न्हावे, फेर न आवे सोवे चादर तान ॥ ३ ॥ कार्तिक न्हाया जभी सफल है, करै नित्य हरि ध्यान ॥ मनोकामना पूरन होवे , मिटै चोरासी खान ॥ ४ ॥ मन में धारो कामना, लागी गोपिका न्हान ॥ अन्तरयामी घट घट व्यापक, पूर्ण करे भगवान ॥ ५ ॥ तिन की भक्ती के वश ह्वैकर, किये नाच अरु गान ॥ मुरली मधुर बजाई वन में, मटकत देदे तान ॥ ६ ॥ ऐसा न्हान न्हावना चहिये, रीझत है भगवान ॥ जप तप वृत यज्ञ अरू पूजा, भक्ती के साधन जान ॥ ७ ॥ चारों साधन तिसतें होवे, चारों ही अगले पहिचान ॥ अन्तरंग यह आठो साधन, इन विन होत न ज्ञान ॥ ८ ॥

—०—

६५ बंगला

बगले पावे अविनाशी, अब तू कर के देख तलाशी ॥ टेक ॥ वैठि एकाँत विचार करै, जोग से होय उदासी । तिस को दर्शन अवश्य देत है, कैलासन का वासी ॥ १ ॥ तीन देह कैलास के माहीं, है सव का परकाशी ॥ घट घट माहीं रटना रटि रहा, करै विलास विलासी ॥ २ ॥ एक वार हो दरशन वा का, कटे

अविद्या फांसी ॥ सुख के सागर महा उजागर खोजो काया काशी ॥ ३ ॥ आप रूप जब सब को जान्या मलिन अविद्या नासी ॥ धर्मराय का दफ्तर फाट्या मिटिगई लख चौरासी ॥ ४ ॥ ईश्वर जीव मात्र सब मिटि गये, होगये ब्रह्म निवासी ॥ मन का कल्या कल्पित जानो, हमो दास अरु दासी ॥ ५ ॥ आपहि अखंड निरंजन जोती मन वाणी नहिं जासी ॥ आपहि आप विराजि रहा है, व्यापक चिदाकाशी ॥ ६ ॥ गुरु वेदन भेद जनाया, भ्रमो ज्ञान उजासा ॥ हुया प्रकाश भ्रमास जो नास्या, पाया सब का साक्षी ॥ ७ ॥ आप हि गुप्त आपही परगट, आप हि सब रंग रासी ॥ आप हि शब्द वेद रचत है, आप हि सब को ग्रासी ॥ ८ ॥

इति श्री राग बंगला समाप्तम् ॥

—०—

६६ शब्द

कवि श्याम सुन्दर की झलक, झट कपट महि आने लगे ॥ टेक ॥ सेन मन मोहन दई, वे ध्याठ सब आने लगे ॥ तारी मथनिया सीस से मही लुढि लेखाने लगे ॥ १ ॥ आन किसको डोरिये यह क्रीडा फैलाने लगे ॥ बधि लाव हैं हरि प्रेम से, फिर मटुकी पटकन लगे ॥ २ ॥ रिस भरी पकड़ी गुजरी, यह हाथ महिं मान लगा ॥ कहि कर के मीठी बात तिन की तरफ मुसकाने

लगे ।। ३ ।। गुप्त लीला करत वन, मुरली वजाने को लगे ।। सब गोप गोपि देखी लीला, मन मे हरषाने लगे ।। ४ ।।

—o—

६७ शब्द

यमुना के तीर श्याम की, मन मोहनी वंशीजो ।। टेक ।। ताल तेरह सात स्वर, भर गाज तिरलोकी गजी। छ राग तीसों रागिनी, साज को सबही सजी ।। १ ।। पत्थर पानी वहि चले, यमुना ने मरियादा तजी ।। विन वूंद बादल बीजली सब, नदी चढ़ि समुंदर भजी ।। २ ।। धूम माची ब्रज मे, धुन सुनि के सब लज्जा तजी, घर काज तज, नहिं साज साजा, ज्यों कि त्यों उठि के भजी ।। ३ ।। गगन बाजी दुदभी, गावत अप्सरा सब लजी ।। गुप्त गोविंद को गती, किस रीति से जावे तजी ।। ४ ।।

—o—

६८ शब्द

दिल की दिवाली बीच में, निज गोरधन पधराउना ।।टेक।। शुभ विधो से पूजा करो, मन दृढ़ कर के भावना ।। चित चरच चदन, कर्म केसर, भावो का भोग लगावना ।। पुण्य के पकवान करके देव पै ले जावना ।। दया को ले दही गौरस गम का घृत चढावना ।। २ ।। यह वक्त पूजा का मिला है, फेरि नहि यहाँ आवना ।। तजि कर अविद्या जालको, निज गोरधन को धावना ।। ३ ।। गिरकारण सूक्ष्म स्थूल है, तिन का ही बोझ उठावना । गुप्त आतम गोरधन है, तिसको पूजि रिझावना ।। ४ ।।

—o—

अविद्या फांसी ॥ सुख के सागर महा उजागर खोजो काया कासी ॥ ३ ॥ आप रूप जब सब को जान्या मलिन अविद्या नासी ॥ धर्मराय का दफ्तर फाड्या मिटिगई जम चौरासी ॥ ४ ॥ ईस्वर जीव माव सब मिटि गये, होगये ब्रह्म निवासी ॥ मन का कल्प्या कल्पित जामो, स्वामी दास अरु दासी ॥ ५ ॥ आपहि अलख निरंजन जोती मन बाणी नहिं जासी ॥ आपहि आप विराजि रह्या है, व्यापक चिदाकाशी ॥ ६ ॥ गुरू वेदने भेद बताया, अम्मे ज्ञान उजासी ॥ हुया प्रकाश अभास जो नास्या, पाया सब का साक्षी ॥ ७ ॥ आप हि गुप्त आपही परघट, आप हि सब रंग रासी ॥ आप हि ओंकार वेद रचत है, आप हि सब के वासी ॥ ८ ॥

इति श्री राग बंगला समाप्तम् ॥

—०—

६६ शब्द

छबि स्याम सुन्दर की छटक, झट छटप महि जाने लगे ॥ टेक ॥ सेन मन मोहन करै, वे ग्वाल सब आन लगे ॥ वारी मथनिया सीस से दही लूटि खेवाने लगे ॥ १ ॥ मारे छिंकावे तोरिके यह छीका फैलाने लगे ॥ दधि खात हैं हरि प्रेम से, फिर मटुकी पटकान लगे ॥ २ ॥ रिस भरी पकड़े गूजरी, अब हाथ नहि आन लगा ॥ कहि कर के मीठी बात, तिन की तरफ मुसकाने

७१ शब्द

जिया जी तुम बैठो ब्रह्म की रेल ॥ तजि कर झूंठे खेल ॥टेक॥ भक्ति कर्म का तांगा करले, तन स्टेशन ठेल ॥ १ ॥ सत सगत से सार निकालो, मलो इतर तन तेल ॥ २ ॥ ज्ञान वैराग्य के पहिन कापड़े जरा न लागे मैल ॥ ३ ॥ टिकट बादू सत गुरु सहाय से, करिले क्यों ना मेल ॥ ४ ॥ अमरापुरका टिकट लीजिये, साधन दमड़े मेल ॥ ५ ॥ फर्स्ट क्लास फारिग हो जग से, आतम सुख को झेल ॥ ६ ॥ जीवन मुक्ती पोढ़ गलीचे, करते चालो खेल ॥ ७ ॥ गुप्त ज्ञान की बैठ स्पेशल, अमरापुर को पेल ॥ ८ ॥

—०—

७२ भजन

तुझको नहिं हानी लाभ है, कछु मरने और जीने मे ॥टेक॥ पुरुप मिला प्रकृती धर्मा, मानन लाग्या अपने कर्मा । जानत नहीं वेद का मर्मा, यही तेरा अजाव है ॥ भूल्या है वैठि सीने में ॥१॥ इन्द्रिय धर्म आपने जाने, विषयों हेत बन उद्यम ठाने । रूप आपना कैसे जाने, मूरख वड़ा अभाग है, फँसि गया खाने पीने में ॥२॥ प्रकृती का यह सघान है सूक्ष्म, और स्थूल गात है, तुह तो इनसे रहे अजात है, न कोई राग वैराग है, तुइ असग रहे तीनों में ॥ ३ ॥ तू इन माहीं गुप्त रहत है, टेरि टेरि के वेद कहत है, फिर

६६ शब्द

जियाजी अब कर संतन का संग। होयगीजमी अमिया संग ॥टेक॥ संत संग नारद ने किया, मछो पाइ अर्मग॥ १॥ संतन का संग हुआ भील को, बेबस चढ़ि गई संग ॥ २॥ नरा अवत सोहुये मुनीश्वर, खूब मचाया जंग॥ ३॥ जलनिधि ऊपर पाहन तिरि गये, पाय रघुवर का संग॥ ४॥ शिला अहिल्या पग परसत ही, चढ़ि गई स्वर्ग पतंग॥ ५॥ अजामील गज व्याधर गनिका, निरमय गये अर्सग ॥ ६॥ यज्ञ योग जप तप नहिं कीना, लाग्या सत् संग रंग॥ ७॥ गुप्त ज्ञान सत् गुरु स पावे, त्यागे सभी कुसंग॥ ८॥

—०—

७० शब्द

जियाजी जग सत संगति है सार, करना करके प्यार।टेक॥ जो तिरिगये तिरेंगे ऐसे, सब सत् संगति द्वार॥ १॥ ऊंच नीच सत् संगति में आये सब ही हो गये पार॥ २॥ जिन का जाति वरम कुछ नीचा तिर गये स्वपच चमार॥ ३॥ नाम दुव कमाल कबीरा, सम्मन सेठ भगियार॥ ४॥ जाति वरण के जो अभि मानी, डूबि गय मझ धार॥ ५॥ हल्का काष्ठ तिरे जल ऊपर, डूबत है पत्मार॥ ६॥ सत-संग-मारग अतुल पदारथ करि न सके कोई द्वार॥ ७॥ गुप्त रूप इस ही स पावे, समझि इस भव पार॥ ८॥

—०—

७१ शब्द

जिया जी तुम बैठो ब्रह्म की रेल ॥ तजि कर झूंठे खेल ॥टेक॥ भक्ति कर्म का तांगा करले, तन स्टेशन ठेल ॥ १ ॥ सत सगत से सार निकालो, मलो इतर तन तेल ॥ २ ॥ ज्ञान वैराग्य के पहिन कापडे जरा न लागे मैल ॥ ३ ॥ टिकट बादू सत गुरु सहाय से, करिले क्यों ना मेल ॥ ४ ॥ अमरापुरका टिकट लीजिये, साधन दमड़े मेल ॥ ५ ॥ फर्स्ट क्लास फारिग हो जग से, आतम सुख को झेल ॥ ६ ॥ जीवन मुक्ती पोढ़ गलीचे, करते चालो खेल ॥ ७ ॥ गुप्त ज्ञान की बैठ स्पेशल, अमरापुर को पेल ॥ ८ ॥

—०—

७२ भजन

तुझको नहिं हानी लाभ है, कछु मरने और जीने में ॥टेक॥ पुरुष मिला प्रकृती धर्मा, मानन लाग्या अपने कर्मा । जानत नहीं वेद का मर्मा, यही तेरा अजाब है ॥ भूल्या है वैठि सीने में ॥१॥ इन्द्रिय धर्म आपने जाने, विषयों हेत बन उद्यम ठाने । रूप आपना कैसे जाने, मूरख वड़ा अभाग है, फँसि गया खाने पीने में ॥२॥ प्रकृती का यह सघात है सूक्ष्म, और स्थूल गात है, तुह तो इनसे रहे अजात है, न कोई राग वैराग है, तुइ असग रहे तीनों में ॥ ३ ॥ तू इन माहीं गुप्त रहत है, टेरि टेरि के वेद कहत है, फिर

क्यों भव—अन्न माहिं बहत है, तुममें नहिं भाग विभाग है, क्यों काया भरम पीने में

---

७३ भजन

तुमने भरम बीसे सो भरम आला, तू देखन लागन हारा ।।टेक।। जीव ईश को तू ही जाने, नहि माया का रूप पिछाने । तू ही और ब्रह्म में वाने, तुइ कारन को काल है । सब शामिल सबसे न्यारा ।। १ ।। तुइ चेतन है सबका दृष्टा, तीन अवस्था माहिं राखा, तुमको नाहीं है कुछ कष्टा, करिके देख संभाल यह सब प्रकार तुम्हारा ।। २ ।। सत्यरूप चेतन अविनाशी, कभी न पड़े काल की फांसी । काल कामी तुही प्रकाशी । सब कारज का काज । नहिं एक स्वत अस कारा ।। ३ ।। तुही गुप्त तुही परगट है । तुही चेतन तुही जड़ है फूल पात अरु तुही फल है तुही, मूल तुहि ज्ञान कर देखो ज्ञान विचारा ।। ४ ।।

---

७४ भजन

तन पाया मनुष कंगाल को विषय भाजी बदल खोवे ।टेक।। उसकी कीमत होत बजारा, इसका नहीं वार कछु पारा, समझत नाहीं मूढ़ गंवारा, नहिं जानत किस के हाथ चढ़े । फिर फिर पुनि पुनि के रोवे ।। १ ।। नींद अविद्या माहिं सोवता बहुत दिनों से

आयु खोवता, अंत:करन को नहिं धोवता। नहिं जाने सन सग ताल को, पड़ा किरोड जन्म का सोवे ॥ २ ॥ सुर आशा करते हैं जिसकी, तुझको कोमत लखो न इसकी, बांधि गठरिया चाल्या विषकी, पकड़ लिया है कान को, जब सुत दारा को जोवे ॥३॥ बार बार यह देखि तमाशा, तो भी तजै न तिन की आशा, गुप्त रूप नहिं डारे पासा। नहिं काटे काल के जाल को, निज ब्रह्म रूप मन पोवे ॥ ४॥

—०—

७५ भजन (चौताला खड़ी चाल)

क्या फल होवे कहने से, जमा कुछ पावे रहने से ॥ टेक ॥ चौपाई ॥ संतो के लक्षण सब गाये। वेद शास्त्र कहि समझाये ॥ अति कृपालु नहि चित द्रोहा। लोभ न क्षोभ राग अरु मोहा ॥

वे सम दम साधन साध्य हुये निष्कामा। जिन पहिरा पर उपकार शील का जामा ॥ कोमल हैं जिनके चित्त वित्त नहीं चहते। वे आत्म चित्त के माहिं मगन नित रहते ॥ इच्छा नहिं जिनको कोई। जो होना हो सो होई ॥ सुचि रखते हैं वे दोई। कंचन के त्यागी सोई ॥ वही पुरुष हैं धीर वडे गभीर। गगसम नीर बचे हैं जग में बहने से ॥ १ ॥ नहिं प्रमाद अरु मत्सर जिनके। आतम मनन रहत है तिनके। यही तप विरती ब्रह्म कारा। दुष्ट विषयों से बुद्धि निवारा ॥ षट् गुण के जेह कर्म धर्म से धरते। पडित

क्यों मध-भरा मांहि बहत है, तुममें नहिं भाग विभाग है, क्यों भ्रग्या भरम पीन में

—०—

७३ भजन

मुने भरू दीखे सो भ्रम जाऊ, तू देखन आमन हारा ।टेक। जीव ईश को तू ही माने, तदि माया का रूप पिछाने । तू ही तीर क्षर में ताने, तुह कारुन को काम है । सब शामिल सबस न्यारा ॥ १ ॥ तुह चेतन है सबका दृष्टा, तीन अवस्था मांहि राष्टा, तुमको मांही है कुछ कष्टा, करिके वेश संभाल यह सब प्रकास तुमारा ॥ २ ॥ मयरूप चेतन अविनाशी, कभी न पड़े काल की फांसी । काल कामी तुही प्रकाशी । सब कारुन का कारुन । नहिं एक स्वेत भर कारा ॥ ३ ॥ तूही गुप्त तूही परगट है । तूही चेतन तूही जड़ है, फूल पात भर तूही फल है तुही, मूल तुहि शाख, कर देखो ज्ञान विचारा ॥ ४ ॥

—०—

७४ भजन

तन पाया छल कंगाल को, विषय मांगी बदल खोवे ।टेक। इसकी कीमत होत बजारा इसका नहीं वार कछु पारा, समझत मांही मूढ़ गंवारा नहिं जामत किस के हाथ को । फिर सिर धुनि धुनि के रोवे ॥ १ ॥ नींद अविद्या मांहि सोवता, बहुत दिनों से

आयु खोवता, अंत-करन को नहिं धोवता । नहि जाने सन् सग ताल को, पड़ा किरोड जन्म का सोवे ॥ २ ॥ सुर आशा करते हैं जिसकी, तुझको कोमत लखो न इसकी, वांधि गठरिया चाल्या विषकी, पकड़ लिया है कान को, जव सुत दारा को जोवे ॥३॥ बार बार यह देखि तमाशा, तो भी तजै न तिन की आशा, गुप्त रूप नहिं डारे पासा । नहिं काटे काल के जाल को, निज ब्रह्म रूप मन पोवे ॥ ४॥

—०—

७५ भजन (चौताला खड़ी चाल)

क्या फल होवे कहने से, जमा कुछ पावे रहने से ॥ टेक ॥ चौपाई ॥ संतो के लक्षण सव गाये । वेद शास्त्र कहि समझाये ॥ अति कृपालु नहि चित द्रोहा । लोभ न क्षोभ राग अरु मोहा ॥

वे सम दम साधन साध्य हुये निष्कामा । जिन पहिरा पर उपकार शील का जामा ॥ कोमल हैं जिनके चित्त वित्त नहीं चहते । वे आतम चित्त के माहिं मगन नित रहते ॥ इच्छा नहिं जिनको कोई । जो होना हो सो होई ॥ सुचि रखते हैं वे दोई । कंचन के त्यागी सोई ॥ वही पुरुष हैं धीर बड़े गभीर । गगसम नीर ब्रचे हैं जग में वहने से ॥ १ ॥ नहिं प्रमादअरु मत्सर जिनके । आतम मनन रहत है तिनके । यही तप विरती ब्रह्म कारा । दुष्ट विपयों से बुद्रि निवारा ॥ पट् गुण के जेह कर्म धर्म से धरते । पंडित

क्यों भव-जल माहिं बहत है, तुझमें नहिं भाग विभाग है, क्या छम्या भरम पीने में

—०—

७३ भजन

तुझे भरम दीखे सो भ्रम जाल, तू वचन आनन्द द्वारा ।टेक। जीव ईश को तू ही माने, तदि माया का रूप पिछाने । तू ही तीर भ्रम में छाने, तुझ काजन को काल है । सब जामिक सबसे न्यारा ॥ १ ॥ तुझ चेतन है सबका दृष्टा, तीन अवस्था माहिं रमा, तुझको नाहीं है कुछ कष्टा, करिके देख सभाल यह सब भ्रमजाल तुम्हारा ॥ २ ॥ ब्रह्मरूप चेतन अविनाशी, कभी न पड़े काल की फांसी । काल कामी तुही प्रकाशी । सब काजन का काज । नहिं रचा स्रोत मत कारा ॥ ३ ॥ तूही गुप्त तूही परगट है । तूही चेतन तूही जड़ है फूल पात जड़ तूही फल है तूही, मूल तुहि डाल, कर देखो ज्ञान विचारा ॥ ४ ॥

—०—

७४ भजन

तन पाया लाख कंगाल को विषय माली बरक खोवे ।टेक। उसकी कीमत होत बजारा, इसका नाहीं वार कछु पारा, समझत नाहीं मूढ़ गंवारा, नहिं आनन्द तिस के हाथ को । फिर सिर धुनि धुनि के रोवे ॥ १ ॥ नींद अविद्या माहिं सोवता, बहुत दिनों से

८० शब्द

तुह कौन कहां से आया है ॥ टेक ॥ आया जब कछु संगन लाया। देखा माल पराया अपनाया है ॥१॥ धन धाम ग्राम सुत वाम हमारे। यों कहि दखल जमाया है ॥ २ ॥ खान पान घरके सुख माहीं। बहुत घना मन लाया है ॥३॥ गुप्त रूप को भूल्या मूरख। काल आनि शिर छाया है ॥ ४ ॥

—०—

८१ शब्द

दम दम पै दिवाली यह जाय रही ॥ टेक ॥ काया दिवाली मे देव बसत हैं। तिनको पूजा करले सही ॥१॥ सब देवन का आतम राजा। तिसकी जोती जाग रही॥२॥ यह भवसागर दुष्कर धारा। तिसमे यह दुनिया जाती बही ॥३॥ गुप्त ज्ञान को पावत नाहीं। मानत ना गुरू वेद कही ॥४॥

॥ अथ जीव ईश्वर का झगडा लिख्यते ॥

—०—

८२ लावनी ख्याल

जीव ईश का झगड़ा कहूँ यक, इसको सुनना चितलाई। सूति लई शम शेर जिन्होने लड़ने लगे दोनों भाई ॥टेक॥ ईश कहे सुन जीव अज्ञानी, काहे पर बड़ि बात कहै। मैं तो सदा

अति महान मान से सिरखे ॥ औरों को देवे मान प्रीति सत करते। सब हुई मनौती हान दया को धरते ॥ स्तुती निंदा समुताई। मित्र सुख दुःख नीचाई॥ मान औईष्टया समाई। नहिं गरल सुधा विषमाई ॥ सम लक्ष्मी कंचन कांच है भाई। साँच तपे नहिं आँच गर्भ की अग्नी दहने से ॥ २ ॥ सम दरशी शीतलता आई। गय उद्वेग उदारता छाई ॥ सूक्ष्म चित्त मित्र जगसारा। चक्षु रूप जो है निराकारा ॥ सबसे है मित्र भाव कल्पना त्यागी। रहे त्यागी अति संतोष बड़ी बड़ भागी ॥ पाया ऐश्वर्य विज्ञान महान स जिनको। सब जानि बंधमल मोक्ष समयता तिनको ॥ मन की गति सूक्षम होई। आनन्द रूप रहे सोई ॥ त्रिगुण में रहे अवाता रहवे निष्पेह अभोता ॥ लक्ष्या है अनन्त नहीं कुछ अंत। विचारे संत सारले तिनके कहने से ॥ ३ ॥ विगत कलश भरम निरवंता। सूक्षम मती रहत स्वच्छंता ॥ य भूषण संतन के साथ। इति अनंत तिनो को साज ॥ कह लक्षण पर संवेद वा ने गाके। नहि स्वसंवेद को कहे कोई समझा के ॥ तिनकी संगति परताप पाप सब खोव। कोइ पर घट होवे पुण्य संग जब होवे ॥ जोनर करत सत संगा। हूवे संसिरती भय भंगा ॥ जब चढ़े ज्ञान का रंगा। छूटे करिक छोड़ मंगा ॥ खोज तिनकी शरण, मिट भव मरन ॥ चरण संतन के चहने से ॥ ४ ॥

—०—

८० शब्द

तुह कौन कहां से आया है ॥ टेक ॥ आया जब कछु सगन लाया। देखा माल पराया अपनाया है ॥१॥ धन धाम ग्राम सुत वाम हमारे। यों कहि दखल जमाया है ॥ २ ॥ खान पान घरके सुख माहीं। वहुत घना मन लाया है ॥३॥ गुप्त रूप को भूल्या मूरख। काल आनि शिर छाया है ॥ ४ ॥

—०—

८१ शब्द

दम दम पै दिवाली यह जाय रही ॥ टेक ॥ काया दिवाली में देव वसत हैं। तिनको पूजा करले सही ॥१॥ सब देवन का आतम राजा। तिसकी जोती जाग रही॥२॥ यह भवसागर दुष्कर धारा। तिसमें यह दुनिया जाती बही ॥३॥ गुप्त ज्ञान को पावत नाहीं। मानत ना गुरू वेद कही ॥४॥

॥ अथ जीव ईश्वर का झगडा लिख्यते ॥

—०—

८२ लावनी ख्याल

जीव ईश का झगड़ा कहूँ यक, इसको सुनना चितलाई। सूति लई गम शेर जिन्होने लड़ने लगे दोनो भाई ॥टेक॥ ईश कहे सुन जीव अज्ञानी, काहे पर वड़ि वात कहै। मैं तो सदा

मति महान मान से तिरते ॥ औरों को देवे मान प्रीति सब करते सब हुई अनोखी शान दया को धरते ॥ सुखी निज प्रभुताई मित्र सुख दुख नीभाई॥ प्रथा औरेष्टरा समाई । नहिं गरल सुधा विषमाई ॥ सम उसके कंचन कांच है भाई । आँच लगे नहिं आंच गर्म की अग्नी दहन से ॥ २ ॥ सम दरशी शीतलता आई । गय उद्वेग व्यारता जाई ॥ सूक्षम चित्त मित्र मगन्मारा । चेतन रूप जो है निराकारा ॥ सबसे है मित्र भाव उत्पन्न त्यागो । यों त्यागी अति संतोष यही वह मागी ॥ पाया ऐश्वर्य विज्ञान ज्ञान स मिनको । सब क्रानि धर्मकर्म मोक्ष धममथा तिनको ॥ मन की गति सूक्षम होई । आनन्द रूप रहे सोई ॥ शिरगुण स रहे अकेला रहसे निर्पेक्ष अभोला ॥ लक्षण हैं अनगत नहीं कुछ अंत । विचरे संत सारस तिनके कहने से ॥ ३ ॥ विगत कलश धरत निरांसा । सूक्षम मती रहत सन्मंता ॥ य भूषण संयम के साम । यसि असंत तिनो को भजे ॥ कब लक्षण पर संवेद मन न जावे । नहिं स्वसंवेद को कब कोई समझा के ॥ तिनकी संगति परताप पाप सब खोवे । कोड़ पर घट होवे पुन्य संग जब होवे ॥ जोनर करसे सत संगा । हुवे संसिरती भय भंगा ॥ अब चढ़ ज्ञान का रंगा । शुभ कारिक कोड़ मंगा ॥ ऐसे तिनकी सरन, मिटे भय मरन ॥ चरण चतन के गहन से ॥ ४ ॥

विधी निषेध कर्म को करता, जिनके फलों को चखता है ॥
जो परकाश करूँ नहीं तेरा, तो कैसे भोग कर सकता है ॥

शेर—

सर्व शक्ति सर्वज्ञ विभु ईश स्वतंत्र परोक्ष है ।
माया मेरे आधीन रहती, मुझमें बंध न मोक्ष है ॥
तेरे हैं सब धर्मउलटे, खाता भक्ष्या भक्ष है ।
अल्पशक्ति अल्पज्ञ हो के, कैसे त्वंपद लक्ष है ॥

वाच्य लक्ष्य की खबर नहीं है, कैसे करे एकताई ॥ ३ ॥

जीव कहे सुन ईश पियारे, एक बात सुनले मेरी । जहां तक है माया का जाल यह, वहाँ तक धूम धाम तेरी ॥ यह हम भेद वेद से पाया, गुरु की सैन जवी हेरी । मेरी तेरी पोल भगी सव, जरा नहीं लागी देरी ॥

शेर—

वृत्ती लक्षणा कर कहत है, महा वाक्य टेरिके ।
चेतन एक सरुप है तत् पद त्वंपद गेरि के ॥
असिपद एक सरूप है, देख्या है हेरि अरु फेरि के ।
शेर को जब शेर देखै, कहा भय हो शेर के ॥

छोट मोट का खोंट निकाल्या, जब से खबर हमें पाई ४ ॥

ईश कहे सुन जीव अनर्थी क्यों बातें करता खोटी काल अनादी की नीति चली है, मेरी तेरी हो जोटी ॥ सो तिन दोनों के माहीं मेरी तो ऊँची कोटी । वृथा ही बकवाद मारता, लख बात तुझे

स्वतंत्र रहता, तुई हमरे आधीन रहे। नाना विधि के कर्म करत है, उनके फल की आस चहे। विषय भोग जबहो करता है मरे से परकाश लहे ॥

शेर—

कर्म के आधीन होके जन्मता मरता फिरे।
फसि के अविद्या जाल में, भय कूप माहीं तुइ परे॥
तेरी तो शक्ती कहा है, मो सी सफाई तुइ करे।
जब तू मेरी भक्ति करता जगत् जलधी सों तिरे॥

मैं तो शुद्ध सरूप रहत हूं, पर तेरे लगी कर्म की काई ॥१॥ जीव कहे सुन ईश पियारे, तुइ हमसे कैस ऊँचा। माया के धर्मों को मानि के हमको बतलावे नीचा॥ परके धर्म आपन मान मूरखता तुमको आई। मैं तो हूँ कूटस्थ साक्षी, मुझमें मैल नहीं राई॥

शेर—

वास्तव में हम तुम में छोटा बड़ा कोई नहीं।
भर्म के वश्य थकि रहा, माया तुझे कोई नहीं।
वेद तो है परघट कहता, तिस की बात मानो सही॥
माया अविद्या भेद तिनका वास्तव में कोई नहीं।

किस कारण से बड़ा कहत है, एक पिता एकहि माहीं ईश कहे सुन जीव पियारे, क्यों वृथा ही बकता है। हम से बड़ा बना चाहता है कौन शक्ति को रखता है॥

विधी निपेध कर्म को फरता, जिनके फलों को चखता है ॥
जो परकाश करूँ नहीं तेरा, तो कैसे भोग कर सकता है ॥

शेर—

सर्व शक्ति सर्वज्ञ विभु ईश स्वतंत्र परोक्ष है ।
माया मेरे आधीन रहती, मुझ में बंध न मोक्ष है ॥
तेरे हैं सब धर्मउलटे, खाता भक्ष्या भक्ष है ।
अल्पशक्ति अल्पज्ञ हो के, कैसे त्वंपद लक्ष है ॥

वाच्य लक्ष्य की खबर नहीं है, कैसे करे एकताई ॥ ३ ॥
जीव कहे सुन ईश पियारे, एक बात सुनले मेरी । जहां तक है माया का जाल यह, वहाँ तक धूम धाम तेरी ॥ यह हम भेद वेद से पाया, गुरु की सैन जबी हेरी । मेरी तेरी पोल भगी सब, जरा नहीं लागी देरी ॥

शेर—

वृत्ती लक्षणा कर कहत है, महा वाक्य टेरिके ।
चेतन एक सरुप है तत् पद त्वंपद गेरि के ॥
असिपद एक सरूप है, देख्या है हेरि अरु फेरि के ।
शेर को जब शेर देखै, कहा भय हो शेर के ॥

छोट मोट का खोंट निकाल्या, जब से खबर हमें पाई ४ ॥
ईश कहे सुन जीव अनर्थी क्यों बातें करता खोटी काल अनादी की नीति चली है, मेरी तेरी हो जोटी ॥ सो तिन दोनों के माहीं मेरी तो ऊँची कोटी । वृथा ही बकवाद मारता, लाख बात तुझे

क्यों मोटी । शेर—जिस वेद की तू बात करता, तिस का भेद जान्या नाहीं । तिस वेद हो के बीच में, एक बाटी एक मोटी कही ॥ कैसे हम स करे समता बात तेरी सब सही। समझ भाखा वेद का गुरु, मान के हमरी कही ॥ करता बात बड़ापनकी, सब झूठे तेरी प्रभुताइ ॥५॥ जीव कहे सुन ईश हमारो, भ्रमका तुमको फेलाया । चार वेद का जाल बिछाके, सब को वामें उलझाया ॥ मूरख मूरखता में भूले, पंडित को अहंकार छाया ॥ सब जग माहीं गरा पुटाला ॥ मूरख पंडित मर माया ॥ शेर—तुमने यह बाजी रची, रक्खा जगत भरमाय के। मोह्या मदारी हम क्यथा, माया के रंग देखाय के । धन धाम में कोई धाम में, कोई वेद माहिं फसाय के । तुम आप कौतुक देखता है, यह जगत मरता धायके । हमें जानि छई तेरी चतुराई गुरु न क्यों भ्यायो फैलाई । ६॥ ईश्वर कहे सुन जीव गुमानी,सम्म अर्थ में गुरु भटका । सम्म अर्थ को क्या जानत है, मलिन अविद्या में भटका ॥ सेन संग अरु खान पान के बिरत भोग में गुरु छटका ॥ हमरी लीला को क्या जाने, खबर नहीं अम्ब मठका ॥ शेर—माया तो मरी शक्ति है करती देख ही काम को । हाजिर रहे हर वक्त पर देती है बहुत आराम को ॥ सर्व प तुरपट करे, मोह पुण्य अरु वाम को । परपट कर दिखलावती है, रूप अरु सब नाम को ॥ मैं तो सदा असंग रहत हीं काज करें मिथ्या माई ॥७॥ जीव कहे सुन ईश्वर साक्षी, माया मिल्या

बतलाता । मिथ्या का कारज सब मिथ्या नाम रूप सत् क्यो गाता ॥ नाम रूप तेरा भी मिथ्या, तुह कैसे है हमरा दाता ॥ पोल पाल सब जानी तुम्हारी, हमरा तुमरा क्या नाता ॥ शेर— तेरा क्या अहसान है, सब पाते हैं अपना किया । खाता तेरा तूफान का भूठा ही शोर मचा दिया । कर्म काया जीव के,इलजाम शिर लगा दिया ॥ गुरु वेद ने कृपा करी,जोगुप्त भेद लखा दिया । रूप हमारा अगम लखाया, ज्ञान अग्नि जीवहलाई ॥ ८ ॥

—०—

५६ भजन

यह मिथ्या सब संसारा । क्या पड्या भरम में सोवे ॥ टेक ॥ जैसे अही दाम में भासे, सीपो में रूपा परकासे ॥ रज्जु सीप ज्ञान ते नासे,तुह करके देख विचारा । क्यों वृथा आयु खोवे ॥१॥ तैसे तुझ चेतन के माहीं, नाना जगत भामता आई, तुझसे जुदा नहीं है राई ॥ अब पटक अविद्या भारा । जो होना होसो होवे ॥२॥ जिसको तैंने जान्या सच्चा, तिसको वेद कहत है कच्चा ॥ स्वपने के बच्ची अरु बच्चा, सब झूंठा यह परिवारा ॥ तिनके संग में क्यों रोवे ॥३॥ गुप्त गलीचे क्यों नहिं सोवता, बीज पाप के क्यों बोवता, अंत करण को नहीं धोवता, यही अजाब तेरा भारा, निज ब्रम्हरूप नहिं जोवे ॥ ४ ॥

—०—

क्यों चोटी । शेर—जिस वेद की तू बात करता, तिस का भेद जान्या नहीं । तिस वेद हो के बीच में, कक चोटी एक मोटी कही ॥ कैसे हम से करे समता बात तेरी सब बृथा। समझ आशा वेद का तुझ, मान के हमरी कही ॥ करता बात पक्षापक्षी, सब मूंठी तेरी प्रभुताई ॥५॥ जीव कहे सुन ईश हमारा, मनवा मुझको फंसाया । चार वेद का ज्ञान दिखाके, सब को यामें उलझाया ॥ मूरख मूरखता में भूले, पंडित को अहंकार छाया ॥ सब जग माहीं तेरा घुटाला ॥ मूरख पंडित मर माया ॥ शेर—तुमने यह बाजी रची रख्या जगत भरमाय के। मोह्या सवारी हम सब्या, माया के रंग दिखाय के । धन धाम में कोई बाम में, कोई वेद माहिं फंसाय के । तुम आप कौतुक देखता है, यह जगत मरता धायके । हमें जानि कई तेरी चतुराई तुम न क्यों भ्यायो पैठाई । ६॥ ईश्वर कहे सुन जीव गुमानी, शब्द अर्थ में तुम अटका । शब्द अर्थ को क्या जानत है, मलिन अविद्या में भटका ॥ लेन देन अरु खान पान के विषय प्रीम में तुम छनका ॥ हमरी लीला को क्या जाने, अपर नहीं अपन मन्का ॥ शेर—माया तो मेरी शक्ति है करती हैसब ही काम को । हाजिर रहे हर वक्त पर देती है बहुत आराम को ॥ कार्य व घुरघट करे, मोहे पुण्य अरु वाम को । परघट कर दिखलावती है रूप अरु सब नाम को ॥ मैं तो सदा असंग रहत हीं, व्यर्थ करे मिथ्या माह ॥७॥ जीव कहे सुन ईश्वर भासी, माया मिलता

बतलाता। मिथ्या का कारज सब मिथ्या नाम रूप सत् क्यों गाता ॥ नाम रूप तेरा भी मिथ्या, तुह कैसे है हमरा दाता ॥ पोल पाल सब जानी तुम्हारी, हमरा तुमरा क्या नाता ॥ शेर— तेरा क्या अहसान है, सब पाते हैं अपना किया। खाता तेरा तूफान का झूंठा ही शोर मचा दिया। कर्म काया जीव के,इलजाम शिर लगा दिया ॥ गुरु वेद ने कृपा करी,जोगुप्त भेद लखा दिया। रूप हमारा अगम लखाया, ज्ञान अग्नि जीवहलाई ॥ ८ ॥

—०—

५६ भजन

यह मिथ्या सब ससारा। क्या पड्या भरम में सोवे ॥ टेक ॥ जैसे अही दाम में भासे, सीपो में रूपा परकासे ॥ रज्जु सीप ज्ञान ते नासे,तुंह करके देख विचारा। क्यों वृथा आयु खोवे ॥१॥ तैसे तुझ चेतन के माहीं, नाना जगत भामता आई, तुझसे जुदा नहीं है राई ॥ अब पटक अविद्या भारा। जो होना होसो होवे ॥२॥ जिसको तैंने जान्या सच्चा, तिसको वेद कहत है कच्चा ॥ स्वपने के बच्ची अरु बच्चा, सब झूंठा यह परिवारा ॥ तिनके संग में क्यों रोवे ॥३॥ गुप्त गलीचे क्यों नहिं सोवता, बीज पाप के क्यावे घोवता, अंत करण को नहीं धोवता, यही अजाब तेरा भारा, निज ब्रम्हरूप नहिं जोवे ॥ ४ ॥

—०—

५७ भजन

पड़ग्या पड़ग्या काल के गाल में तूह क्या हुव हुव हंसता है ।।टेक।। तेरा तो तन मान कहा है, बंदे पक्षों का बेहाल किया है ।। यम इसको पैमाल किया है, रखता है सभी संभाल में, क्यों भरमजाल फंसता है ।।१।। मात पिता दारा सुत मेरे, गाम धाम अरु पाम्र घेरे ।। कोई शत्रु औ मित्र घनेरे ।। यों फँसि गया, झूठे ख्याल में,यम मकड़ी जाल कसता है ।। २ ।। घड़ी घड़ी अरु पल पल छीजे, तू अपने मन मांही रीझे, निशि दिन पाप बीज को बीजे ।। बड़ा खुसी हुआ धनमाल में,तू कब से यहां बसता है ।। ३ ।। गुप्त रुप को जब स मूझ, नख सिख छाई अविद्या मूजा । कर्म भोग सब करती तुजा ।। क्यों ना बैठे सत संग ताल में ।। जग रुप ? क्यों धसता है ।। ४ ।।

—o—

५८ भजन

करता है आप सब काम को, मन के सिर दोष लगावे ।। टेक ।। मन असत्य जड़ दुःख रूप है तू सत् चित् आनन्द सरूप है ।। तू ही सब भूपन का भूप है, भूलि गया निज धाम को, मन से मिलि मिलि करि धावे ।। १ ।। बिना चलाये तीर नहिं चलता, जब तूह वस जड़ मन से मिलता । तब पावै दुःखमातुम धाम को । जैसे छाजी मगि आवे ।। ।। जब तुमरे बल को मन मारे, तभी

शुभा शुभ पंथ दिखारे, कुसगति से ताहि निवारे। तजि लोभ मोह पर वाम को। क्यों अखज विषयों को खावे ॥ ३ ॥ जीव कर्म आपहि करता है, आपहि सुख दुख का धरता है। वेद यही साखी भरता है ॥ मन के क्यों लावे लिजाम को, नहिं गुप्त भेद को पावे ॥ ४ ॥

—०—

५९ भजन (मस्ती)

दोहा—

दोष लगाये और के, आप करे सब खोट।
लग्या विषयों की चाट में, मन की लेवे ओट ॥

कोई भूप मस्त कोई रूप मस्त, कोई राज काज के कारे में ॥ कोइ राग–मस्त वैराग–मस्त कोइ मंदिर माल भंडारे में ॥ कोई नहर–मस्त कोइ डहर–मस्त, कोई गंगा जमुना किनारे में ॥ कोइ जंगल–मस्त कोइ दंगल–मस्त, कोइ रहवे शहर बजारे में ॥ कोइ संग–मस्त कोइ भग–मस्त, कोइ सुलफा गांजा वारे में ॥ सिकरेट–मस्त कोइ सेठ–मस्त कोइ अमल तमाखू गारे में ॥ कोइ अगन–मस्त कोइ मगन–मस्त, कोइ मौन–मस्त कलदारे में ॥ कोइ ध्यान–मस्त विख्यान–मस्त, कोइ कोठी बाग फुहारे में ॥ एक खुद मस्ती बिन और मस्त सब, पड़े अविद्या द्वारे में ॥

—०—

५७ भजन

पड़या पड़या काल के गाल में तू क्या हस हस हंसता है ।टेक। तेरा तो तन मान कहा है, बड़े बड़ों का बेहाल किया है ॥ सब इसको पैमाल किया है, रखता है सभी संभाल में, क्यों मरजाल फंसता है ॥१॥ मात पिता दारा सुत मेरे, ग्राम धाम सब चाकर चेरे ॥ कोई शत्रु औ मित्र घनेरे ॥ यों फँसि गया, मूठे ख्याल में, यम मकड़ी जाल कसता है ॥ २ ॥ घड़ी घड़ी अरु पल पल छीजे, तू अपने मन मांही रीझे, निशि दिन पाप बीज को बीजे ॥ बड़ सुखी हुआ धनमाल में, तू कब स यहां बसता है ॥ ३ ॥ गुरु स्म को जब स भूला, नव छिन छाई अविद्या भूल । कर्म भेस सब करती तूला ॥ क्यों ना पैठे सत संग ताल में ॥ कहा हर १ क्यों धसता है ॥ ४ ॥

—०—

५८ भजन

करता है आप सब काम को, मन के सिर दोष लगावे ॥ टेक ॥ मन असत्य जड़ दुःख रूप है तू सत् चित् आनन्द सरूप है ॥ तू ही सब भूपन का भूप है, भूलि गया निज धाम को, मन से मिलि मिलि फिरि धावे ॥ १ ॥ जिमि चमके नीर नहिं चलता, जब सूर्य उस सम मन से मिलता । तब चाले शुभाशुभ धाम को । जैसे वाजी मणि धावे ॥ ॥ जब तुमरे बल को मन पावे, तभी

विषयों को विषवन् जानों, ईश्वर को सत् पिछानो ॥
यह सीख हमारी मानो, मृग नीर का यह गारा ॥ २ ॥
संसार है यह स्वपना, इसमें नहीं कोइ अपना ॥
झूठी सबी यह रचना, सुत मात तात दारा ॥ ३ ॥
बचता न राजा राना, सब काल का है खाना ॥
ऐसा क्या भया दिवाना, समझे नहीं गँवारा ॥ ४ ॥
अब कीजे काम ऐसा कहना है वेद जैसा ।
तजि दीजे एसा वैसा, क्यों करता है मुंह कारा ॥ ५ ॥
पावे गुप्त होवे मुक्ता, लिपता नहीं कहि छिपता ।
ध्रू ध्यान में नहिं रुकता, व्यापक है रूप अपारा ॥ ६ ॥

—o—

८५ क़व्वाली

रंग देखि कर दुनिया के, अपने को आप भूला ।
झूठी सभी यह माया, फिरता क्या फूला फूला ॥ टेक ॥
यहां पर नहीं जब आया, तब किसकी थी यह माया ।
अब काहे मे मन लाया क्यों बोवता है शूला ॥ १ ॥
मन विषयों में नहिं दीजे, ईश्वर का नाम लीजे ।
अब काज यही कर लीजे, छीजे अविद्या मूला ॥ २ ॥
इसमें न गलती करनी, कर राम नाम की तरनी ।
भव जल से पार करनी मा[illegible] धाम का है झूला ॥ ३ ॥

८३ क़व्वाली

नजरों से किसको देखे, तुमसे नहीं है न्यारा ॥
जो देखने में आवे सब झूंठ है पसारा ॥ टेक ॥
करता है झूंठा धंधा फिरता है अंधा अंधा ॥
पड़ि गया करम का फंधा, देखा चहत है न्यारा ॥ १ ॥
जब आपने को भूल्या, दुख में पड़ा है फूला ।
सहता फिरे बहु शूला, समझे नहीं इशारा ॥ २ ॥
काया का कारज काया झूंठे है मन अरु माया ॥
तुही आप इन में छाया, कछु कीजिये विचारा ॥ ३ ॥
तन को बनाके सुथरा, बांचत है पोथी पत्रा ।
करता फिरे बहु नखरा ठगि ठगि खाया जग सारा ॥४॥
करता है काम्य करनी, करता खबर नहिं अपनी ॥
भूल्या है देखि सपनी मन्दिर को खूब संमारा ॥ ५ ॥
खोजो गुपत इस तन में, फिरता है क्या बन बन में ॥
दृ निश्चय कीजे मन में, ऐसा है रूप तुम्हारा ॥६॥

—०—

८४ क़व्वाली

गफ़लत में फंस जाय फिर काल का नगारा ॥
विषयों के सुख में भूल्या करता नहिं विचारा ॥ टेक ॥
जिस दिन दुनी में आया संग में कछू नहीं लाया ।
यहाँ देख्या माल पराया, करता है म्हारा २ ॥ १ ॥

विषयों को विषवत जानों, ईश्वर को सत् पिछानों ॥
यह सीख हमारी मानो, मृग नीर का यह गारा ॥ २ ॥
संसार है यह स्वपना, इसमें नहीं कोइ अपना ॥
झूठी सची यह रचना, सुत मात तात दारा ॥ ३ ॥
बचता न राजा राना, सब काल का है खाना ॥
ऐसा क्या भया दिवाना, समझे नहीं गँवारा ॥ ४ ॥
अब कीजे काम ऐसा कहना है वेद जैसा ।
तजि दीजे एसा वैसा, क्यों करता है मुंह कारा ॥ ५ ॥
पावे गुप्त होवे मुक्ता, लिपता नहीं कहि छिपता ।
धू ध्यान में नहिं रुकता, व्यापक है रूप अपरा ॥ ६ ॥

—०—

८५ क़व्वाली

रंग देखि कर दुनिया के, अपने को आप भूला ।
झूठी सभी यह माया, फिरता क्या फूला फूला ॥ टेक ॥
यहा पर नहीं जब आया, तब किसकी थी यह माया ।
अब काहे में मन लाया क्यों बोवता है शूला ॥ १ ॥
मन विषयो में नहिं दीजे, ईश्वर का नाम लीजे ।
अब काज यही कर लीजे, छीजे अविद्या मूला ॥ २ ॥
इसमें न गलती करनी, कर राम नाम की तरनी ।
भव जल से पार करनी सुख धाम का है भूला ॥ ३ ॥

जब गुप्त गोविन्द जाने, सब ही करम को माने।
जो लावे चोट निशाने, पावे मुक्ति द्वार खुला ॥ ४ ॥

—o—

८६ क़व्वाली

क्या सोवे रैनि अंधेरी, यह जगत आज सपना।
देखो न खोलि अँखियाँ, इसमें नहिं कोइ अपना ॥ टेक ॥
धन माल घोड़ा हाथी, संग में बहुत हैं साथी।
माता पिता सुत नाती, झूँठी सभी है रचना ॥ १ ॥
जेता कछु माल खजाना, संग में चले नहिं आना।
फिर होयगा पछताना, जब स्वांस का होय खिचना ॥२॥
राजा धनी अरु कंगला, करि चाले खाली बंगला।
आखिर मिला है जंगला, इस काल से नहिं बचना॥ ३ ॥
पहिरो सत संगति चोला, गुप्त ज्ञान का ले गोला।
पाया बस्तु अनमोला, ध्रुव ध्यान में नित मचना ॥ ४ ॥

—o—

८७ क़व्वाली

लाखों किरोड़ों देखे, हम नंगे पैरों जाते।
धन जोड़ि जोड़ि रखते, कौड़ी नहीं ले जाते ॥ टेक ॥
अब की तो सब की जानी, हम कहते बात पुरानी।
नौ शेर बादशाह जानी, असी गज धजावे रहते ॥ १ ॥

पैसा न खैरात दिया, तब कोप खुदा ने किया ।
अग्नी को सँभाल लिया, जल बल भसम होजाते ॥ २ ॥
इस देश मालव माहीं, यक भिक्षु विरहमन आहो ।
कौड़ी न धर्म में लाई, सब लुटि गये माल अंघाते ॥ ३ ॥
तन धन का गर्व न करना, सब ही के सिर पर मरना ।
अब गुप्त ध्यान को धरना, जाते सभी अरु आते ॥ ४ ॥

—०—

८८ क़व्वाली

सुनिले मुसाफ़िर प्यारे, दो दिन का है यह डेरा ॥
करनी करो कोई ऐसी, पावे स्वरूप तेरा ॥ टेक ॥
योनी छुटे चौरासी, यम को कटे सब फांसी ।
पावे तुझे अविनाशी, होवे नहीं फिर फेरा ॥ १ ॥
निष्काम कर्म को कीजे, भक्ती के रस को पीजे ।
फिर ज्ञान तिलक को लीजे, कहना करो अब मेरा ॥ २ ॥
पाकर के अपना रूपा, होजा भूपन का भूपा ।
सो सबसे अजब अनूपा, कछु दूरि नाहि नेरा ॥ ३ ॥
यह ज्ञान लखो गुप्ताई, सुन लीजो बाबू भाई ।
हम कहते हैं समझाई, छुटि जाय पाप का घेरा ॥ ४ ॥

—०—

८६ क़व्वाली

काया नगर में बास के, क्या हो रहा दिवाना ।
लाखों करो चतुराई, आखिर को तुझको जाना टेक ॥

भूल्या है धाम धन में, फिरता अविद्या बन में ॥
कुछ सोचता नहिं मन में, खाता विषय रस खाना ॥ १ ॥
क्या सोता रैनि अंधेरी, छगती नहीं कछु देरी ।
करता है मेरी मेरी, छिन में होय माल बिराना ॥ २ ॥
इस मानुष तन को पाया, ध्यान नहिं धनी से लाया ॥
फिर अंत में पछताया, मियाँ कर चले पयाना ॥ ३ ॥
कहता है शुभ पुकारी, समझो न मूढ़ अनारी ।
करि राम भजन की त्यारी, भूंठा है सभी समाना ॥ ४ ॥

—•—

६० शब्द पद, (भजन, हितकारी)

कहता हूँ तुमके समझाय के अब सुन ज्यानी का रीती ॥ टेक ॥
अंतःकरण से निकसी वृत्ती, इन्द्रिय द्वार विषय में वरती ॥
भंग आवरन मिलकर करती, फल देता तिसे जनाय के ॥

यह अद्वैत बात को नीती ॥ १ ॥

जिस स्थल में भर्म जो होवे । वृत्ति जाय विषय को खोवे ।
नहीं आवरण रुग जो होवे । दोष तिमिर में जाय के ॥

फिर होय पन्नग की मीती ॥ २ ॥

सोई निमित्त है तिसके ज्ञान में । दोनों कल्पित अधिष्ठान में ।
अनिर्वचनीय यह सुनो ध्यान में । चित अपने को लायके ।

मन में होवे मजबूती ॥ ३ ॥

अधिष्ठान दोनों का चेतन। रज्जु वृत्ती जड़ अचेतन ॥
पर रज्जु ज्ञान से होवे विलेपन। उपजे अज्ञान से आयके।
चौठी आचरज चीती ॥ ४ ॥
माया के परिणाम हैं जोई। चेतन के विवर्त हैं सोई ॥
सम स्वभाव विपरीति जो होई। रूप अन्यथा जाहि के ॥
यह लिखा भजन अवधूती ॥ ५ ॥

—०—

६१ भजन

जिनों के उडे भरम के कोट, यह रमज समज में आई ॥ टेक ॥
जैसे सर्प ज्ञान है मिथ्या, तैसे जानों जग की सत्ता ॥
आतम में नहिं हिलता पत्ता, नहीं शुद्ध में खोट।
यह बात वेदने गाई ॥ १ ॥
सो विचरत है होय निशंका, काल बली का कर गये फंका ॥
फिर क्या तनि को राजा रंका नहीं खाते यम की चोट ॥
सब शंका धोय बहाई ॥ २ ॥
जाप ताप अरु कठी माला, टूटा सभी भरम का ताला ॥
कर में लिया ज्ञान का भाला, मुख हालत नहिं होंठ ॥
फिर क्यों करते कठिनाई ॥ ३ ॥
फिकिर नहीं जाने आने का, शोच नहीं पीने खाने का ।
माल नहीं रखते आने का, गिंनी रखै न नोट ॥
खाते हैं दूध मलाई ॥ ४ ॥

गुप्त ज्ञान हिरदै में रखले, जो मन माने ज्योंही भखले ।
जोगना धनी बराबर समझे, नहीं बड़ाई छोट ॥
जिन वस्तु अमोलक पाई ॥ ५ ॥

—०—

६२ भजन

भूल्या निज अपने आपको, होगया माया का चेरा ॥ टेक ॥
माया कारण अहर्निशि डोले भूंठ तूफान बहुत से बोले ॥
हिरदे की भंभी नहिं खोले, करले अपना पापको ॥
घट अन्तर हुवा अँधेरा ॥ १ ॥
गृहस्थी जोगी मूंड मुँडवाया, तौभी तुमको चल न पाया ।
धर्म पाखण्ड बहुत सा लाया, तज दिया हरी के जाप को ॥
चेला चेली न घेरा ॥ २ ॥
औषध गोली करने लागे, गांठि लगाय बांधने लागे ॥
मूरख लोग पूजने लागा बड़ा सिद्ध मिला है साधुको ॥
चोफेर दे रहे फेरा ॥ ३ ॥
कोठी बंगला खूब बनावे, खाना बस्तर अच्छा भावे ॥
कई औरतें और कमावे, खाये हैं तानों तान को ॥
करते हैं मेरा मेरा ॥ ४ ॥
पाने निकले गुप्त रूप को, उलझ जाय पड़े भव के कूप को ।
को समझावे बेवकूफ को जाने लगे रिझाव को ॥
कहना मानत नहिं मेरा ॥ ५ ॥

—०—

६३ भजन

समझत नाहिं गुरु सैन को, लग गया ठगनी के चारे ॥ टेक ॥

दोय रुप धरि जग को ठगती, कनक कामनी होकर लगती ॥

स्पर्श किये शेर ज्यों जगती, सब दूरि करै सुख चैन को ॥

तोहिं पटकि फटकि कर मारे ॥ १ ॥

बड़े तपस्वी मारे वन में, काम रूप होय तिन के मन में ॥

चतुर बचे नहिं लाखो जन में, भरमावत बाँके नैन को ॥

फिर गर्भ वास मे जारे ॥ २ ॥

कनक भलों का करता नासा, गल में गेरि लोभ की फासा ॥

त्यागो को उपजावे आसा, लगि गये कौड़ी लेन को ॥

क्या भवसागर तें तारे ॥ ३ ॥

ग्राम धाम सबही तजि दीने, वन मे जाय बसेरे कीने ॥

लोभ बली नें बंधि में दीने भूलि गये ज्ञान अध्ययन को ॥

फिरता है धनी के लारे ॥ ४ ॥

खोजत नाहीं गुप्त ज्ञान को, धन हित खोजत सब जहान को ।

देखो तमाशा बेईमान को, दिन कहने लागया रैन को ॥

बनि रहे महत बड़े भारे ॥ ५ ॥

—०—

६४ भजन

अब देखो ध्यान लगाय के, घट भीतर जंग तमाशा ॥ टेक ॥

नेत्र रूप देखने जावे, श्रवण शब्द सुनने को धावे ॥

गुप्त ज्ञान हिरदे में रखवे, जो मम मानै ज्योही चखवे ।
कंगाल धनी बराबर लखवे, नहीं बतावे खोट ॥
जिन वस्तु अमोलक पाई ॥ ५ ॥

—०—

६२ भजन

भूल्या निज अपने आपको, होगया माया का चेरा ॥ टेक ॥
माया कारण अहर्निशि डोले झूंठ तूफान बहुत से बोले ॥
हिरदे की घुंडी नहिं खोले, करने लग्या पापको ॥
घट अन्दर हुवा अँधेरा ॥ १ ॥
गृहस्थी जोगी मूंड मुँडवाया, तौभी गुरुको तत्व न पाया ।
दम्भ पाखण्ड बहुत सा लाया, तज दिया हरी के जाप को ॥
भेख भेखी मे भरा ॥ २ ॥
औषध गोली करने लागे, गाँठि लगाय बाँधने लागे ॥
मूरख लोग पूजने लगा बड़ा सिद्ध मिला है वाहुको ॥
चोफेर दे रहे फेरा ॥ ३ ॥
कोठी बंगला खूब बनावे लाता बस्तर अच्छा लावे ॥
कई औरतें और कमावे, लाये हैं तीनों ताप 'का ॥
करते हैं मेरा मेरा ॥ ४ ॥
पावे जिनसे गुप्त रूप को,बच्छ जाय पड़े भव के कूप को ।
को समझावे बेवकूफ को जाने लगे रिसाव को ॥
कहना मानत नहिं मेरा ॥ ५ ॥

—०—

खुले कोट के नौ दरवाजे, जिनके माहीं देव विराजे ॥
अपने साज सभी उन साजे लडने लगे गोलक ओट मे ॥
सजि चाले पंच सिपाई ॥ २ ॥
असुर सेन का वजा नगारा, देवन का गढ़ घेरा सारा ॥
होती आवे मारो मारा, दे लिये विषयो की लोट में ॥
चाले हैं देव पराई ॥ ३ ॥
मनीराम अफ़सर जब बोला, सुनों शील तुम कैसे डोला ॥
उलटि शीलने शस्तर का झोला, अब शत्रु आगया फेंट में ॥
गुरु विष्णु करै सहाई ॥ ४ ॥
उलटि शीलने ससतर मारा, पकड़ि काम धरनी पर डारा ।
देव लिये निज निज हथियारा, चूकत नाहीं चोट में ॥
जब देवन को जय पाई ॥ ५ ॥
सुर असुरों को हुई लड़ाई, मनीराम अफ़सर है भाई ॥
जियाराम की हुई सहाई, इस गुप्त जग के फोट में ॥
ध्रुव देखो ध्यान लगाई ॥ ३ ॥

दोहा—

काया गढ़ के नगर में, राजा आतम राम ।
मन दीवान जिसका रहै, करे शुभाशुभ काम ॥
जिस राजा का मंत्री, नीति निपुण जो होय ।
दुष्ट चोर तिस राज में, रहन न पावे कोय ॥

गंध नासिका नित उठि चाहै, स्वक्सुख होय स्पर्श आय के ॥
रसना करै रस की आसा ॥ १ ॥
मन सकल्प और को जावा, चित चिंतवन में तत्पर पावा ॥
अहंकार अहे में रात्या बुद्धि निश्चय में आयके ॥
अब अदान प्राण घर्षे लासा ॥ २ ॥
वाचक कहे वैखरी बानी, वस्तु ग्रहण करत हैं पाणी ॥
रती भोग अरु मल त्यागानी, गुदा शिश्न हरषाय के ॥
चलते हैं चरण खुलासा ॥ ३ ॥
काम क्रोध आशा और तृष्णा, सबही रच रहे अपनी रचना ॥
सुषोपति अरु जाग्रत स्वपना, गुण बरतें सारा आयके ॥
पड़ि गया माया का फाँसा ॥ ४ ॥
गुप्त संग होता दिन राती, देव असुर तिनकी प्रम जाती ॥
राजा मंत्री से ले साथी, फौज सई सजवाय के ॥
दोनों का रुपि गया रासा ॥ ५ ॥

—०—

६५ भजन

संग माच्या काया कोट में लड़ते हैं शूर लड़ाई ॥ टेक ॥
जिया नाम है जिसका राजा, मनीराम को अफसर साजा ॥
दिया हुक्म अब कीजै काजा, मत रहे मन की ओट में ॥
अब जल्दी करो चढ़ाई ॥ १ ॥

खुले कोट के नौ दरवाजे, जिनके माहीं देव विराजे ॥
अपने साज सभी उन साजे लड़ने लगे गोलक ओट में ॥
सजि चाले पंच सिपाई ॥ २ ॥

असुर सेन का बजा नगारा, देवन का गढ़ घेरा सारा ॥
होती आवे मारो मारा, दे लिये विषयो की लोट में ॥
चाले हैं देव पराई ॥ ३ ॥

मनीराम अफसर जब बोला, सुनों शील तुम कैसे डोला ॥
उलटि शीलने शस्तर का झोला, अब शत्रु आगया फेंट में ॥
गुरु विष्णु करै सहाई ॥ ४ ॥

उलटि शीलने सस्तर मारा, पकड़ि काम धरनी पर डारा ।
देव लिये निज निज हथियारा, चूकत नाहीं चोट में ॥
जब देवन को जय पाई ॥ ५ ॥

सुर असुरों की हुई लडाई, मनीराम अफसर है भाई ॥
जियाराम की हुई सहाई, इस गुप्त जग के फोट में ॥
ध्रुव देखो ध्यान लगाई ॥ ३ ॥

दोहा—

काया गढ़ के नगर में, राजा आतम राम ।
मन दीवान जिसका रहै, करे शुभाशुभ काम ॥
जिस राजा का मंत्री, नीति निपुण जो होय ।
दुष्ट चोर तिस राज में, रहन न पावे कोय ॥

कामादिक जे असुर हैं, शीलादिक हैं देव।
दंड देत तिनको सदा, तब करै राव की सेव॥
असुर सभो के बीच में, तीन बड़े सरदार।
काम क्रोध अरु लोभ जो, तीनों मर्कं गुबार॥

—०—

६६ भजन

मत फँसे कर्म के बीच में, तूं चेतन सदा अकरता॥ टेक॥
करम विकरम का लक्ष नहीं है, अकरम का कोइ दश नहीं है।
मजब पन्थ कोइ भेप नहीं है, यों कहा वद के बीच में॥
तू जन्में नाहीं मरता॥ १॥
जिसके पड़ा कर्म का फंदा, सो नर हुवा जगत में अंधा॥
छिप गया आतम पूर्ण चन्दा, पड़ि गया अंधेरो बीच में॥
दुख चौरासी के भरता॥ २॥
विधी निषेध कर्म दो फांसा, समझत नहीं वेद का आसा॥
कैसे छूटे यम की त्रासा, फँसि गया कीचम बीच में॥
फिर जन्म अग्नि के मरता॥ ३॥
पढ़ि पढ़ि वेद हुये अभिमानी गुप्त मते को बात न जानी॥
करता दुखी बदना ज्ञानी नहीं बहता वफ मर्जाधि में॥
सो भव सागर से तरता॥ ४॥

—०—

९७ भजन

जिन जान्या अपने आप को, सो निर्भय होके सोवे ॥ टेक॥
हिरदे की ग्रंथी जिन तोड़ी, संसों को सब मटुकी फोड़ी ॥
विधि निषेध की उठि गई जोड़ी, फिर जपै कौन के जापको ॥
करमन में कैसे रोवे ॥ १ ॥
मूल अविद्या गई मूल से, आतम में भासी थी भूल ते ।
कर्म भोग सब होत तूल से, फिर तपे कौन के ताप को ॥
जो होना होय सोइ होवे ॥ २ ॥
संसै विपर्यय मिट गया साँसा, आतम ब्रह्म रूप करि भासा ॥
हर वक्त देखते वहो तमाशा, चेतन शुद्ध प्रकाश को ॥
फिर मैल कौन का धोवे ॥ ३ ॥
गुप्त होय जब गुप्तहि पावे, मिलते ही ध्रुव अचल हो जावे ॥
जो कोई इस सागर न्हावे, सो खोवे तीनों ताप को ॥
जब एक ब्रह्म को जोवे ॥ ४ ॥

—०—

९८ शब्द (चौसर)

तू कई बेर चौसर हारा, जरा खेळ समझ कर बाजी ॥ टेक ॥
माया चौपड़ जीव खेळारी, लोक ब्रह्माण्ड बने सब क्यारी ॥
देव मनुष जहं फिरती सारी, जब तिरगुण पासा डारा ॥
फिर ऐसी रचना साजी ॥ १ ॥

छमा लेख में आपन भूला, स्वयं सरूप से भयो प्रतिकूला ॥
नख सिख छाई अविद्या मूला, मन मूल्यो रूप अपारा ॥
बनि बैठा पंडित काशी ॥ ॥
ब्रह्म भूल कर जीव कहायो, आप मान मन में मन भायो ॥
ईश्वर को जब जीव बनायो, जब जान्यो आपको न्यारा ॥
फिर बन्धा ईस का पाशी ॥ ३ ॥
हरी नरव को फेर पियारा जब आवेगा दाव तुम्हारा ॥
पकि घर आवे सोजौं सारा, नहिं गर्भ वास मईं आरा ॥
छूटे जन्म मरन बड़े राजी ॥ ४ ॥
गुप्त गुरु अरु गुप्तहि भेखा, गुप्त भया है जिन का मेखा ॥
गुप्त ज्ञान से जगत् अकेला, भयो मूल पद अधिकारा ॥
यह तत्व रचा है तासी ॥ ५ ॥

—०—

६६ भजन

तू सदा स्वयं परकाश है, फिर किसका ध्यान धरे है ॥ टेक ॥
क्या है ब्रह्म, कहां है माया, कैसे तिसको जगत उपाया ॥
ईश्वर जीव कहां से आया, तू जपै कौन का जाप है ॥
जन्मे मरे कौन मरे है ॥ १ ॥
ब्रह्म नपुंसक अरु है माया, कहां जगत स्थान बनाया ॥
जीव ईश मन तरी छाया, तू परकाशन का परकाश है ॥
कभी जन्म नहीं मरे है ॥ २ ॥

गुरु वेदका पटको पकड़ा, कहा से लायो झूठा झगड़ा ॥
बिना पंथ की बाट है दगड़ा, जहां नहीं धरनी आकाश है ॥
डूबे अरु कौन तरे है ॥ ३ ॥
तीन शरीर कहाँ से आया, कैसे पाचों कोप बनाया ॥
कहाँ से पच क्लेश लगाया, जहा नहीं बुद्धिचिदाभास है ॥
चित मन से सदा परे है ॥ ४ ॥
गुप्त मते का पथ निराला, जहा नहीं कोई कंठी माला ॥
बंध मोक्ष का तोड़ो ताला, तू सब स्वासन का स्वास है ॥
कछु मूल से नहीं परे है ॥ ५ ॥

—o—

१०० भजन

तू आप सच्चिदानन्द है, फिर किस को फेरे माला टेक ॥
सत्त पद तुम जानो सोई, तीन काल मे बाध न होई ॥
चेतन ते न्यारा नहिं सोई, सो परकाशक निस्पंद है ॥
टुक तार चश्म का जाला ॥ १ ॥
मुख्य प्रीति का विषय है जोई, आनन्द रूप पिछानो सोई ॥
चेतन तासे जुदा न होई, सो सदा सुख का सिंध है ॥
टुक छोड़ जगत का नाला ॥ २ ॥
माला का मतलब सुन प्यारे, जैसे मणिके न्यारे न्यारे ॥
तैसे देव मनुष्य हैं सारे, चेतन सदा सुछंद है ॥
तू सब कालन का काला ॥ ३ ॥

तीन शरीर अरु तीन अवस्था, तीन काल अरु सभी व्यवस्था ॥
शुद्ध चेतन की सब में बसता जहाँ कोई नहीं दुख द्वंद है ।
फिर क्यों करता मुंह काला ॥ ४ ॥
गुप्त भेद की बात बताई सो तुम साँची जानो भाई ॥
यामें झूठ नहीं है राई, तू सब सिंधन का सिंध है ॥
कर देखो मूल तमाशा ॥ ५ ॥

—०—

१०१ भजन (मोटर)

इस तन के अंदर बाग में, एक मोटर अजब चली है ॥ टेक ॥
पाँचों भूत रजोगुण मिलकर, हुई तयार जब मोटर बनकर ।
मनुवा ड्राइवर बैठा संभलकर, फिर कल चलाया बाग में ।
फिरने लगी गली गली है ॥ १ ॥
नाभी कंठ सड़क बनवाई, जिस पर मोटर आनि चलाई ।
शब्द का भोंपू दिया बजाई, जगी बीजली जठरा आग में ॥
जिसकी जब नली नली है ॥ २ ॥
जिसमें चेतन आनि बिराजा, सो कहिये राजन् पति राजा ।
दिया हुकुम जब मोटर साजा, जाय बिचरया है बाग में ॥
जहँ खिलि रही कली कली है ॥ ३ ॥
ऐसी मोटर अजब चलाई, मील घड़ी की गिनती आई ।
इक्कीस सहस छः सौ भाई, इस मोटर के अन्दाज में ॥
फिर चलने लगी घड़ी है ॥ ४ ॥

तू नहिं मोटर बैठन वाला, फिर क्यों करता है मुंह काला ।
बन्ध मोक्ष का तोड़ो ताला, उलझा क्यों करम विभाग में ॥
क्या कूवे भांग घुली है ॥ ५ ॥
इस मोटर का खेल निराला, समुद्र नदी गिने ना नाला ।
पीछे लागया वैरी काला, फूंक देत है आग में ॥
बचता कोइ गुप्त वली है ॥ ६ ॥

—०—

१०२ पद

फल गुप्त प्रगट सत संग में, फिर क्या करना बाक़ी है ॥टेक॥
भोग अदृष्ट दृष्टि में आवे, बिना राग सब में बरतावे ॥
बाळक वत् सब खेल बनावे, नित चेतन सदा असंग में ॥
वह सब चेतन झांकी है ॥ १ ॥
शब्द स्पर्श रूप रस गन्धा, इन्द्रिन का इनसे सम्बन्धा ।
नित न्यारा आतम निरबंधा, ज्यों अनुभव शब्द प्रसंग में ॥
यह खुद अपना साखी है ॥ २ ॥
बिन करता करता कहलावे, सो करता नहिं चले चलावे ॥
जैसे पति पुत्र कहलावे, सब रंग उसी के रग में ॥
नहिं स्वेत रक्त खाकी है ॥ ३ ॥
गुप्त मुक्त की यही निशानी, सूरत में सूरत लासानी ॥
'अहं ब्रह्म' यह बोलो बानी, ज्यों व्यापक अगो अग में ॥
ध्रू मूल जगत नाखी है ॥ ४ ॥

१०३ भजन

जिसको पाया अमोलक समल, यह किसकी आस करेगा ॥ टेक ॥
सुखमर सोये तत्त्व तखत पर, ज्ञान गलीचा स्नेह बसत पर ॥
फिर क्यों ममता करे जगत् पर, सुख रहे तीनों काल ॥
क्यों पच पच जगत मरेगा ॥ १ ॥
जिनको नहीं कुछ लेना देना, हुआ नहीं कुछ आगे होना ॥
वर्तमान में वर्ते क्यों ना, तोड़ भरम का जाल ॥
यों कारज सभी सरैगा ॥ २ ॥
परारब्ध से जो कुछ करते, जिसमें हर्ष शोक नहिं करते ।
वे कबहू जन्में नहिं मरते, नहीं रखते मन माल ॥
भव जल से पार तिरेगा ॥ ३ ॥
गुप्तरूप में हैं मस्ताने, टूट सभी कुफर के थाने ।
जानन योग्य सभी जिन जाने, नहीं फंसे वेद के जाल ॥
क्यों मूंड़ी खाक मरेगा ॥ ४ ।

—o—

१०४ भजन

जिसका वजूद करे हंकारा, यह पानी के सा पाला । टेक ॥
पंचभूत करके जकड़ी है कर्मयोग से आट भरी है ।
रज-वीरज की गांठ पड़ी है, करके देख विचार ॥
नित बहे मैल का नाला ॥ १ ॥

जिसके मांहि वड़ापन मान्या, औरन को नीचा करि जान्या ।।
हरि तजि खाय विपय रख खाना भक्तिविन चारों वर्ण चमार ।।
लख तुलशीदास हवाला ।। २ ।।
जिसके मौंहि वहुत मन लाया, धन यौवन स्वपने को माया ।।
थिर नहिं रहे किसी की काया, झूंठा सब परिवार ।
अब तोड़ भरम का ताला ।। ३ ।।
अपने मन वुद्धि को लावो गुप्त गली से जल्दी आवो ।।
जब कुछ आगम भेद को पावो, छूटे सब विस्तार ।।
कर पकड़ ज्ञान का भाला ।। ४ ।।

—०—

१०५ भजन

खेलत हैं खेल खिलारी, जग में लिपते नहीं त्रिकार । टेक ।
नाना विधि करत हैं किरिया, जिनको पद पाया है तुरिया ।
उनके सब ही कारज सरिया, आशा तृष्णा दई मार ।
चढि गये ज्ञान असवारी ।। १ ।। ध्यान योग नहिं करे समाधी,
पार ब्रह्म है अनत अनादी । वाद करै तो आतम-वादी,
सब जाना जगत् असार ।। चढ़ि गई है ज्ञान-खुमारी ।। २ ।।
सब कुछ करते कुछ नहिं करते, ना कभि जन्मे ना कभि मरते ।।
काल अगिनि मे वह नहिं जलते, व्यापक रूप अपार ।।
कुछ नहि हलके नहिं भारी, । ३ ।। गुप्त गली में फाग खेलते ।

रंग पिचकारी मारि मेल्वे, जो कोइ मिले तिसी पे मेल्वे,
मर हो जावे नार। करले अपने अनुसारी ॥ ४ ।

—०—

१०६ भजन

रचा है बाजीगर का ख्याल, मूल हैं दखि तमासा टेक ॥
क्षिति जल पावक और समीरा, गगन रचा है अति गंभीरा ।
जिनके बीच में चतन हीरा, विनयासी बिनखेल ।
दसहू दिसि हुया उजासा ॥ १ । जासे चन्दसूर परकास ॥
अनल विदुत तारागन मासे, अंधकार परकाश म नासे
दानों का मिश्र दिया मेल, ॥ कोई करे न किसी का नासा ॥२॥
पहिला सूक्ष्म सृष्टि रचाई, मेल मिश्र स्थूल बनाई ।
पंचतत्व दिये जिसमें समाई, करने लगे खेल ।
फिर पाप-पुन्य होय मागा ॥ ३ ॥ गुप्त रूप ह एक विराजे,
बुद्धि भेद कर नाना साजे ॥ बाजा ढोल ज्ञान का बाजे,
बिगड़ जाय सब खेल, जब समझै बेद का आसा ॥४॥

—०—

१०७ भजन

इस राजा आतम-राम को मन मटवा खेल दिखावे ।।टेक।।
मन मन्चे ने खेल बनाया, बिना हुआ सब कर दिखलाया ।
राजा को तिसने भरमाया, करता अचरज के काम को
बिन हाथ पैर मग जावे ॥ १ ॥

जाग्रत मे स्थूल तमासा, विषय देह इंद्रिय परकासा ।
देव त्रिपुटी करे उजासा ॥ रचे पंच-भूत के गाम को,
विषयों के बंध लगावे ॥ २ ॥
देह इंद्रिय को छिटकावे, स्वपने माहीं और बनावे
कंठ-देश नाड़ी में जावे, तज कर नेतर-धाम को
फेर कई कई खेल खिलावे ॥ ३ ॥
सुषोपति में गुप्त जो होवे, जाग्रत और सुपन को खोवे
कारण माहीं सुख से सोवे, तज गया रूप और नाम को,
टुक अपने रूप समावे ॥ ४ ॥

१०८ भजन

जिनों के उड़ि गये नाम निशान, राजा थे चक्रवर्ती ॥टेक॥
बल पौरुष जिनके विख्याता, लिखी पुरानन में सब गाथा
जिनकी समता कोई न पाता, बहुत करे थे अभिमान ॥
हाथों से तौलते धरता ॥ १ ॥
जिनके तुंग अगार बने हैं, कोट किला अरु बहुत तने हैं ॥
सेनापति अरु कोष घने है । जिनों के बंदीजन करे गान ॥
महलों में चन्द्रमुखी चरती ॥ २
तिनका खोज रहा नहिं राई । और किसी की कहा चलाई ॥
जिनने सुर्त हरी से लाई । सोई उभरे संत सुजान ॥
पाये आप रूप में थिरती ॥ ३ ॥

जो नर गुरु-ज्ञान पाता है। उसको काल नहीं खाता है॥
सो कहिं आवे नहिं जाता है। यों कहते वेद पुरान।
सब मूल अविद्या मरती ॥ ४ ॥

१०६ भजन

यक दिन जंगल होय मुकाम, छुटि जायगें महल अटारी।टेक॥
भूलि गया विषयों के सुख में, हरदम हंस काल के मुख में॥
हा हा कार करत है दुख में, नहीं जपे हरी का नाम॥
चढ़ि आई काल सवारी ॥ १ ॥
मूरख नींद भरम की सोवे। सिर पर काल खड़ा नहिं जोवे॥
अंतःकरण को क्यों नहिं धोवे। सब सिध होवें काम॥
होय नाश अविद्या सारी ॥ २ ॥
ज्ञान रवी घट में परकास। जगत् जाल सपना सा भासे॥
अंधकार अज्ञान को नासे। जब होय ब्रह्म में धाम॥
चढ़ि जावे ज्ञान खुमारी ॥ ३ ॥
गुप्तप्रगट जो कुछ भास। आप रूप से सब परकास॥
कल्पित आ।पज्ञान में नासे। है तिसके दरमियान॥
नहिं रजत सीप से न्यारी ॥ ४ ॥

११० भजन

जगा यह सब गुरु न साखे, सुधि गय बजार के ताले॥ टेक॥
रस्ता साफ नहिं कोइ माया, काल कर्म के जाल गय फांदा॥

सौदा हुवा सीस के साटा, ज्ञान की अग्नी को जाली ॥
जलि गये अविद्या जाले ॥ १ ॥
अंतर की वस्तु परकासी । मैं चेतन यह दृष्य बिनासी ॥
मैं ही हूँ सब का परकासी । खिली सब मोंसे हरियाली ॥
धोये दाग दिलों के काले ॥ २ ॥
कान माहिं ऐसा दिया मंतर । तुह चेतन रहता है स्वतंतर ॥
दृष्य सभी कल्पित तुझ अतर । देव क्या भैंरो और काली ॥
तुही करै सब को उजियाले ॥ ३ ॥
गुप्त रूप से एकहि रहता । ना कछु करता ना कछु चहता ॥
काल अगिनि को तूही दहता । उमँर तेरी वृद्ध नहीं बाली ॥
छुटि रहे ज्ञान के नाले ॥ ४ ॥

१११ राग-विलावल

निज आतम आनंद में जो जन नित राते ।
आठ पहर तिस अमल में रहते हैं माते ॥ १ ॥
मोह जाल फास कटी हुई बंध खुलासा ।
निरभय होकर देखते सब खलक तमाशा ॥ २ ॥
फूटा घट अज्ञान का लाया ज्ञान का डंडा ।
काम कर्म आभास का हो गया सत खंडा ॥ ३ ॥
ईश्वर माया जगत, की सब मिटी उपाधी ।
पारब्रह्म से परसिया सो सुद्ध अनादी ॥ ४ ॥

काल जाल यमराज का दफ्तर सब फाड़ा ।
ब्रह्म रूप मैदान में डंका जिन गाड़ा ॥ ५ ॥
ब्रह्मानन्द आनन्द में आनन्दित रहवे ।
ब्रह्मलोक बैकुण्ठ को नहीं कछु चहवे ॥ ६ ॥
सर्व मित्र निष्कामना त्यागा संतोषा ।
बिना अपने आपके और नहीं भरोसा ॥ ७ ॥
गुप्त पलंग पे सोवते लगा ज्ञान का तकिया ।
जब गुरु वाणी लगि रही आपी जागी अंखियां ॥ ८ ॥

११२ राग विलावल

सब देवन के बीच में यक आतम ज्योती ।
सदा दिपाली संत की जिस मांहीं होती ॥ १ ॥
किताबा पढ़ना चातुरी अरु पत्रा पोथी ।
निज आतम जाने बिना, सब ही है थोथी ॥ २ ॥
गोबर की पूजा करे, पकवान मिठाई ।
पूजे नहीं आतम देव को, सब उमर गमाई ॥ ३ ॥
देवी दुरगा पूजते, और भैरों काली ।
देही अन्दर देहरा, जहं देव दिवाली ॥ ४ ॥
शून्य सिंहासन लग रहा, परदा नहीं पहेरा ।
धरती डोंगर देहरा, नहीं जंगल सवेरा ॥ ५ ॥
व्यापक है सब ठौर में कर देख विचारा ।
भूले भरम अपार में नर मूढ़ गंवारा ॥ ६ ॥

सव के शामिल मिलि रहा, अरु सव से न्यारा ।
रूप रेख जाके नहीं, पीला अरु काला ॥ ७ ॥
गुप्त रु परघट एक है, जहं नाहीं दूजा ।
पूजा पूजक पूज्य का, तोड़ो भ्रम कूजा ॥ ८ ॥

११३ शिष्य की शंका (विलावल)

भगवान आतम एक है, यह आप सुनाया। पूजा पूजक भाव को, सव भरम वताया ॥ १ ॥ नाना विधि जग भासता कहो कहाँ से आया ॥ आतम मे किरया नहीं, यह किसने वनाया ॥२॥ तीन काड हैं वेद में, यह कहि समझाया । कर्म उपासन ज्ञान का साधन वतलाया ॥ ३ ॥ कौन सत्य को झूठ है, दोई कहता वेदा । कहीं तो उत्पत्ति कहे, कहिं कहे निपेधा ॥ ४ ॥ कथन किया है कर्म का, मरने पर्यंता । कहीं त्याग सवका कहा, भजिये भगवन्ता । ५ ॥ ईश्वर करता वेद का, सब कहें पुकारी । द्विविधि वचन समझो नहीं, यह शंका म्हारी । ६ ॥ समर्थ आप दयालु हो, मैं वुद्धि खोया । भरमि रहा ससार में, जन्मातर रोया ॥ ७ ॥ गुम भेद समझाय के, कहि दीजे सारा ॥ आप विना या जगत में कोई नहीं उद्धारा । ८ ॥

११४ पूर्व प्रश्नों का उत्तर (विलावल)

अधिकारी के भेद से, सव वेद कहानो । गूढ वचन हैं वेद के, समझता नहीं प्रानो । ॥ अज्ञानी स-काम को, करने को

कहता । जो जिज्ञासु ज्ञान का, तिसको नहीं चाहता ॥ २ ॥ कर्म शमन के वास्ते, सब कर्म करावे ॥ काम्य कर्म छुटवाके निष्काम बतावे ॥३॥ कर्म उपासन सो करे, जा के मल विक्षेप । अमल की छुट्टी भई, फिर करे न एक ॥४॥ परवृत्ति में भेद का, भ्रम समझो भासा । सदा निवृत्ति अद्वय है, दूद मत पासा ॥ ५ ॥ विविधि भांति जग भासता, तिसकी सुनि लीजे ॥ यह सब माया जाल है, नहिं भूलि पतीजे ॥ ६ ॥ जैसे सोया नींद में, भासता है स्वपना । कोई अपना कोई और का, मिथ्या सब रचना ॥७॥ गुप्त आतम अज्ञान से, सब ही कुछ भासे । ज्ञान होय निज रूप का, फिर सबही नासे ॥८॥

११५ विलावल

मंद अंध के बीच में, रज्जु सर्प में भासे । अरु सीपी के अज्ञान सें, रूपा परकासे ॥१॥ जैसे मरुस्थल भूमि में, होय जल परतीति ॥ तैसे तस्कर ठूंठ में, यों जग की रीति ॥ २ ॥ जैसे भ्रम में देखिये घट मठ बहु नामा ॥ गगन एक का एक है नाहीं कुछ नाना ॥३ ज्यों जल माहीं कल्पते, बुद बुदे तरंगा ॥ जल से कुछ न्यारे नहीं जल ही सब अंगा ॥ ४ ॥ अग्नी माहीं कहत हैं, बहु दीप मसाला ॥ लालटेन अरु बिजली बिच फूलि उजाला ॥ ५ ॥ लोह में खंजर बने सब बने ओहारा । ज्यों का त्यों लोहा रहै कल्पित हथियारा ॥ ६ ॥ सोन में भूषण बहुत, सब बने

सोनारा। सोना सोना ही रहे, नहीं धरे विकारा ॥ ७ ॥ परजा पति ने घट घड़े, माटी विन काही। गुप्त आतम में जगत को, ऐसे लख भाई ॥ ८ ॥

दोहा—

सिपी रूपा रज्जू सर्प, मरुथल जल का भास।
वह काटे नहि वह बिके, वह नहीं खोवे प्यास ॥

११६ चाल—बनजारा

समझे नहि मूढ़ गंवारा, तन सुखा सुखा के मारा ॥ टेक ॥ रखते उपास अरु रोजा, अन्तर से नहीं खोज्या जी ॥ ऊपर के करै अचारा ॥ १ ॥ पंच तीरथ में अशनाना ॥ खाता है सूक्ष्म खाना जी, करने लागे संथारा ॥ २ ॥ कुछ समझता नहीं मनने, क्या कसूर किया तन ने जी। करने काम विसारा ॥ ३ ॥ सुनि कर गुप्त ज्ञान की बाता। कर्मों में कूटते माथा जी। होगया आतम हत्यारा ॥ ४ ॥

११७ चाल—बनजारा

मन मरे नहीं तन मारे, करि यतन बहुत से हारे ॥टेक॥ बाँबी को कूटै कोई, नहीं दु:ख सर्प को होई जी। वह रहता बंबी मंझारे॥१॥ पग बाँधि वृक्ष में लटके, मन के चलने को अटकेजी ॥ करते हैं यतन बड़े भारे ॥ २ ॥ मन कारन तन को मारे, उपवास वृत बहु धारेजी ॥ सब अंग अग्नि में जारे ॥३॥ मन गुप्त रूप हो रहता॥ नहीं बात किसी से कहता जी। सब मन को जालपसारे ॥४॥

दोहा—

ममरे मिर्ही पीसि के, ऊपर डारें आग ॥
तो भी चपता ना मिटे, उठ उठ जावे भाग ॥

११८ चाल-बनजारा

समझे क्यों ना मन मेरा, मत करे विषयों का फेरा ॥ टेक ॥ यह अहर्निशि तोहि डरावे, फिर अन्तसमय ठगिजावे जी, तब होवे दुःख घनेरा ॥ १ ॥ झूठा धन बहुत कमाया, बिरथा हीसार बढ़ाया जी, फिर अन्त काल ने घेरा ॥ २ ॥ कैसा सा पकड़ा जाय, क्या जबाब वहांपे सुनावगो, कुछ चले नहीं बल तेरा ॥ ३ ॥ जो किये कर्म गुप्ताई, लेखा होय राई राई जी, मुख काला कीजे तेरा ॥४॥

दोहा—

चले नहीं वाकस्टरी, नहिं रिश्वत कानून ॥
वह सच्चा दरबार है, करे अन्यथा कबून ॥

११६ चाल-बनजारा

आतम चेतन अविनाशी, नहीं पड़े काल की फाँसी ॥ टेक ॥ ऐसा है रूप तुम्हारा, जिसमें कल्पित संसाराजी, करके देखो तलाशी ॥ १ ॥ निराकार नहीं आकाश जिसमें कुछ नहीं पसारा जी, कहिं आवे ना कहिं जासी ॥ २ ॥ ऐसे निश्चय को धारो, यम की फरदों को फारोजी, घट २ में आप निवासी ॥ ३ ॥ मुनि गुप्त मते की बानी वेदोंमें साखि बखानीजी आतम चेतन सुखरासी ॥ ४ ॥

१२० चाल-बनजारा

देखो निज रूप तमासा, निज अंतर कीजै वासा ॥ टेक ॥ इंद्रिय अरू तिनके देवा, कुछ जानत नाहीं भेवाजी, तुह करे सबका उजियासा ॥ १ ॥ तूही सब देवन को जाने, तुझको कोइ नाहिं पिछानेजी, तुही आप स्वयं परकासा ॥ २ ॥ कोई जीव ईश नहीं माया, तुहि आप निरंजन रायाजी, कोइ नाही सेवक दासा ॥ ३ ॥ है गुप्त रूप अविनासी, अब तोड़ि देव की फाँसी जी, फिर होय अविद्या नासा ॥ ४ ॥

दोहा--

जो समझे इस सैन को, लखै आप निरबान ।
कर्म कीच छूटै सभी, दिल में होय आराम ॥
सब वेदान्त का सार यह, लखै ब्रह्म निज आप ॥
माया ईश्वर जीव जग, छाडि भर्म सन्ताप ॥

१२१ असावरी

यक चतुर नाटकी आई, जिन दिया अखाड़ा लाई ॥ लिये देव मनुष भरमाई, तिर्यक् की किन्ने चलाई ॥ टेक ॥ झोले से सूत निकाला, सो तीन तार करडाला ॥ बट अहंकार का घाला, डोरी मजबूत बनाई ॥ १ ॥ तिस डोरी मे सब बन्धे, किये देव मनुष सब अन्धे ॥ सबही गल डारे फन्दे, मानन लगे छोटे बड़ाई ॥ २ ॥ तीनन को देव बनाया, जब अपना हुकुम सुनाया ॥

काहू पर करनी न धाया, जैसा करै तैसा भुगताई ॥३॥ जब हुक्म किया है जारी, तीनों न बात विचारा ॥ रचि दीनी चौरह क्या है, तिरलोकी भजन बनाइ ॥ ४ ॥ क्षिति पावक जल अरु पवना, आकाश माहिं सब भवना ॥ जिनमें होय आवा गवना, यह दीन्ह पंथ चलाई ॥ ५ ॥ विषयों को ठोकर बाजी, सुन सुन के हुए सब राजी ॥ मन मोहन रचना साजी, देखन लगे लोग लुगाई ॥ ६ ॥ कर्मों का टिकिट जैसा लिया, सबने वैसा परचा दिया ॥ सब पावे अपना किया, कछु चले नहीं चतुराइ ॥ ७ ॥ जिसे नाटक में मन भाया तिसे गुप्त भेद नहीं पाया ॥ वेदों में सभी समझाया, ठगनी की भूलि भुलाई ॥ ८ ॥

१२२ असावरी

हमें नगर ढूंढि लिया सारा पाया नहिं मीत हमारा ॥ दर्शई दिश पड़ा अन्धारा, सब अंग विरह ने जारा ॥ टेक ॥ मैं तो पहिर गले बिच सेली, बन परवत फिरी अकेली ॥ सब देखा हाट हवेली, ढूंढे हैं शहर बजारा ॥ १ ॥ तीरथ बरतादिक करती, नित ध्यान मीत को धरती ॥ बड़े दुर्गम देशों फिरतो, सब अंग अग्नि में जारा ॥२॥ सब तजि दिया घर का धंधा, नित पढ़ी गायत्री संध्या॥ उलटा गले पड़ि गया फन्दा कर्मों का गहन बन भारा ॥३॥ हम दोनों कान फड़ाये सिर लम्बे केश बढ़ाये ॥ सींगी अरु नाद बजाय सही कठिन छुरी की धारा ॥ ४ ॥ हम बन यती सन्यासी, घर छोड़ि हुए बनवासी ॥ नहीं कटी लोभ की फांसी, काहू को

किया मुख कारा ॥ ५ ॥ यम नियम प्राणायामा, करते हैं आठो यामा ॥ पाया नाहींनिज धामा, फिरी चोरासी की धारा ॥ ६ ॥ करि देखो नाना किरिया, पद पाया नहीं हम तुरिया ॥ वृथा ही पच पच मरिया, खोया है जमाना सारा ॥ ७ ॥ जब गुप्त गली में आया, सत्गुरु ने भेद बताया ॥ सब ही चेतन की छाया, व्यापक है रूप तुम्हारा ॥ ८ ॥

१२३ असावरी

जब गुरू मिले ब्रह्मज्ञानी, तब बोले अमृत-वानी ॥ बतलाई नूर निशानी, सब झूंठी द्वैत कहानी ॥ टेक ॥ जब सुने यथारथ वचना, सब मिटी कर्म की रचना, निज बोध रूप मे जचना, यह बात सुनी रस सानी ॥ १ ॥ जिस कारन भटकत डोले, वह घट घट माहीं बोले ॥ जब धरि काँटे पर तोले, तब पावे पद निरवानो ॥ २ ॥ जिमि व्याल दाम में भासे । ऐसा ही जगत प्रकासे । अधिष्टान ज्ञान तें नासे । जो शेष रहे सो जानो ॥ ३ ॥ जैसे नभ में घठ मठ नामा । यों जीव ब्रह्म में जाना ॥ सब भेद भरम को भाना । जह मन पहुंचे नहिं वानी ॥ ४ ॥ जब तीर लक्ष में ताना । माया के भर्म को भाना ॥ तब भेद अगम का जाना । सब मिटि गई खेंचातानी ॥ ५ ॥ दनी गुरु ज्ञान-सिरोही । सब मूल अविद्या खोई ॥ जो होना होय सो होई । कछु लाभ रहा नहि हानी ॥ ६ ॥ किये जप तप नेम उपासा । छूटी नहिं मन की आसा ।

देखा निज रूप तमासा ॥ सब माई सुख की खानी ॥ ७ ॥ हुवा गुप्त ज्ञान का गोखा । सब रहा भर्म का धोखा । होगया मेहर का झोखा, नहिं फरत चारों खानी ॥ ८ ॥

१२४ असावरी

कहते हैं वेद सिमरिती । यह जीव कभी नहिं मरती ॥ नहिं जन्मादिक को धरती । क्यों भूलि भर्म में फिरती ॥ टेक ॥ जैसे मद पी होवे मतवारा । कछु तनको रहे न सँभारा । गिरि आवत मैली गारा । तब लोटन लगे धरता ॥ १ ॥ जब विषयन में मन दीना । कर्ता अहंकार जो कीना । तब जीव आपको चीन्या । भूल्या निज अपनी सुरती ॥ २ ॥ सपने में बहुत धन पाया । पुत्तर पोते अरु माया ॥ कछु खर्च किया नहिं जाया । झूठी सबही परविरती ॥३॥ कर्ता कर्म अरु किरिया । तजि तिनको पायो तुरिया ॥ सब कर्म इसी से जरिया । जब पावे आप निवरती ॥४॥ निज आतम रूप अपारा । जिसमें मिथ्या संसारा ॥ सो माहीं नहिं कछु न्यारा । करो ब्रह्माकार अब विरती ॥ ५ ॥ यह सुन सतगुरु की बानी । सो अतिशय सुख की खानी ॥ याते थिर होवे प्रानी । पुनी नहिं बाहर परती ॥ ६ ॥ जब होय दृढ़ अभ्यासा । पावे निज रूप हुलासा ॥ फिर यम को रहे न त्रासा । सब मूल अविद्या जरती ॥ ७ ॥ गुरु गुप्त भेद बतलाया । सब मूँठा जाल उड़ाया । शिष्य-सेवक भाव मिटाया । जब जीव-ब्रह्म पाव धिरती ॥ ८ ॥

१२५ असावरी

यह देख्या ब्रह्म तमासा । सब कटा भरम का फाँसा ॥ पाया निज रूप खुलासा । दस हू दिशि हुया उजासा ॥ टेक ॥ ऐसा है रूप हमारा । नहि भौतिक भूत पसारा । सब शामिल सब से न्यारा । नहिं आगम निगम का रासा ॥ १ ॥ कोई आतम देह बतावे । मन इन्द्रिय प्राण सुनावे ॥ कोई बुद्धि को समझावे । यों पायो बहुत तिरासा ॥ २ ॥ कभी तीन देह में अटक्या । कभी पच कोष में भटक्या । पाया नहिं निरगुण लटक्या । सब किया उमर का नासा ॥ ३ ॥ कोई पूजा तिलक बतावे । कोई गायत्रो जपवावे ॥ कोई माला को हलवावे । कोई कहते सेवक दासा ॥४॥ हमें मिले बहुत अलभेड़ो । गल गेरे मजब की बेड़ी ॥ करते हैं आँख बडी टेड़ी । बतलाते हैं परकासा ॥ ५ ॥ कोई मिले अगम के भेदी । जिन मूल अविद्या छेदी ॥ रचिदई ब्रह्म की वेदी । घट अन्दर हुआ हुलासा ॥६॥ जब सुने यथारथ बचना । तब रूप पिछाना अपना । मिटि गई कुतर्क की रचना । जब द्वारा निर्गुण पासा ॥ ७ ॥ अब सोये गुप्त गलीचे । नहिं जाना ऊपर नीचे ॥ आनन्द में उमरिया बीते । सब दूर हुवा है साँसा ॥ ८ ॥

दोहा—

ब्रह्मानन्द आनन्द में, आनन्द रहे हमेश ।
जा आनन्द का जगत में, आनन्द है लवलेश ॥

देखा निज रूप तमासा ॥ सब माइ सुख की खानी ॥ ७ ॥ यह गुप्त ज्ञान का गोला । सब दहा भर्म का टोला । होगया मेहर का मोला, नहिं पवसे पारा खानी ॥ ८ ॥

१२४ असावरी

कहते हैं बेद सिमरिती । यह जीव कळु नहिं मरती ॥ नहिं जन्मादिक को धरती । क्यों भूलि मर्म में फिरती ॥ टेक ॥ जैसे मद पी होवे मतवारा । कछु तनकी रहे न संभारा । गिरि जावत मैली गारा । तब छोटन लागी भरता ॥ १ ॥ जब विषयन में मन दीन्हा । कर्ता अहंकार जो कीना । तब जीव आपको चीन्हा । भूल्या निज अपनी सुरती ॥ २ ॥ सपने में बहुत धन पाया । पुत्तर पोते अरु माया ॥ कछु कर्म किया नहिं आया । झूंठी सकी परविरती ॥३॥ कर्ता कर्म अरु किरिया । सब तिनको माशे प्ररिया ॥ सब कर्म इसी से जरिया । जब पावे आप निवरती ॥४॥ निज आत्म रूप अपारा । जिसमें मिथ्या संसारा ॥ सो माहीं नहिं कछु न्यारा । करो ब्रह्माकार अब विरती ॥ ५ ॥ यह सुन सतगुरु की बानी । सो अतिशय सुख की खानी ॥ पावे थिर होवे प्रानी । बुई नहिं बाहर चरती ॥ ६ ॥ जब होय दृढ़ अभ्यास । पावे निज रूप तमासा ॥ फिर मन की रहे न आशा । सब मूल अविद्या जरती ॥ ७ ॥ गुरु गुप्त भेद बतलाया । सब मूंठा जाल जलाया । शिष्य—सेवक भाव मिटाया । अब जीव—ब्रह्म पावे थिरती ॥ ८ ।

१२५ असावरी

यह देख्या ब्रह्म तमासा । सब कटा भरम का फाँसा ॥ पाया निज रूप खुलासा । दस हूं दिशि हुया उजासा ॥ टेक ॥ ऐसा है रूप हमारा । नहि भौतिक भूत पसारा । सब शामिल सब से न्यारा । नहिं आगम निगम का रासा ॥ १ ॥ कोई आतम देह बतावे । मन इन्द्रिय प्राण सुनावे ॥ कोई बुद्धि को समझावे । यों पायो बहुत तिरासा ॥ २ ॥ कभी तीन देह में अटक्या । कभी पंच कोष में भटक्या । पाया नहिं निरगुण लटक्या । सब किया उमर का नासा ॥ ३ ॥ कोई पूजा तिलक बतावे । कोई गायत्री जपवावे ॥ कोई माला को हलवावे । कोई कहते सेवक दासा ॥४॥ हमें मिले बहुत अलमेड़ी । गल गेरे मजब की बेडी ॥ करते हैं आँख बड़ी टेड़ी । बतलाते हैं परकासा ॥ ५ ॥ कोई मिले अगम के भेदी । जिन मूल अविद्या छेदी ॥ रचिदई ब्रह्म की वेदी । घट अन्दर हुआ हुलासा ॥६॥ जब सुने यथारथ बचना । तब रूप पिछाना अपना । मिटि गई कुतर्क की रचना । जब डारा निर्गुण पासा ॥ ७ ॥ अब सोये गुप्त गलीचे । नहिं जाना ऊपर नीचे ॥ आनन्द में उमरिया बीते । सब दूर हुवा है साँसा ॥ ८ ॥

दोहा—

ब्रह्मानन्द आनन्द में, आनन्द रहे हमेश ।
जा आनन्द का जगत में, आनन्द है लवलेश ॥

देखा निज रूप तमासा ॥ सब माई मुक्त की खानी ॥ ७ ॥ इस गुप्त ज्ञान का गोझा । सब कहा मर्म का दोझा । होगया मद्दर प सोझा, नहिं पड़वे चारो खानो ॥ ८ ॥

१२४ असावरी

कहते हैं वेद सिमरिती । यह जीव कबहु नहिं मरती ॥ की अभ्यासिक को धरती । क्यों मूक्ति भर्म में फिरती ॥ टेक ॥ जैसे मद पी होवे मतवारा । कछु तनकी रहे न संभारा । गिरि जाय मैली गारा । तब छोटन लगी धरती ॥ १ ॥ जब विषयन में मन दीना । कर्ता अहंकार जो कीना । तब जीव आपको चीन्हा । भूल्या निज अपनी सुरती ॥ २ ॥ आपने में बहुत भ्रम पाया । पुत्र पोते अरु माया ॥ कछु कर्म किया नहिं जाता झूठी सब परविरती ॥३॥ कर्ता कर्म अरु किरिया । तवि तिनको पावो दुरिया॥ सब कर्म इसी से जरिया । जब पावे आप सिखरती ॥४॥ निज आतम रूप अपारा । जिसमें मिथ्या संसारा ॥ सो माहीं नहिं कछु न्यारा । करो अखाकार अब बिरती ॥ ५ ॥ यह सुन सतगुरु की बानी । सो अतिशय मुक्त की खानी ॥ याते थिर होवे प्रानी । फुर्ती नहिं बाहर जरती ॥ ६ ॥ जब होय दृढ़ अभ्यास । पावे निज रूप तमासा ॥ फिर बस को रहे न त्रासा । सब मूक्त भविष्य जरती ॥ ७ ॥ गुरु गुप्त भेद बतलाया । सब मूँठा जाल उड़ाया । शिष्य-सेवक भाव मिटाया । जब जीव-ब्रह्म पावे बिरती ॥ ८ ॥

१२५ असावरी

यह देख्या ब्रह्म तमासा । सब कटा भरम का फाँसा ॥ पाया निज रूप खुलासा । दस हू दिशि हुया उजासा ॥ टेक ॥ ऐसा है रूप हमारा । नहिं भौतिक भूत पसारा । सब शामिल सब से न्यारा । नहिं आगम निगम का रासा ॥ १ ॥ कोई आतम देह बतावे । मन इन्द्रिय प्राण सुनावे ॥ कोई बुद्धि को समझावे । यों पायो बहुत तिरासा ॥ २ ॥ कभी तीन देह में अटक्या । कभी पंच कोष में भटक्या । पाया नहिं निरगुण लटक्या । सब किया उमर का नासा ॥ ३ ॥ कोई पूजा तिलक बतावे । कोई गायत्री जपवावे ॥ कोई माला को हलवावे । कोई कहते सेवक दासा ॥४॥ हमें मिले बहुत अलमेड़ी । गळ गेरे मजब की वेड़ी ॥ करते हैं आँख बडी टेडी । बतलाते हैं परकासा ॥ ५ ॥ कोई मिले अगम के भेदी । जिन मूल अविद्या छेदी ॥ रचिदई ब्रह्म की वेदी । घट अन्दर हुआ हुलासा ॥६॥ जब सुने यथारथ बचना । तब रूप पिछाना अपना । मिटि गई कुतर्क की रचना । जब डारा निर्गुण पासा ॥ ७ ॥ अब सोये गुप्त गलीचे । नहिं जाना ऊपर नीचे ॥ आनन्द में उमरिया बीते । सब दूर हुवा है साँसा ॥ ८ ॥

दोहा—

ब्रह्मानन्द आनन्द में, आनन्द रहे हमेश ।
जा आनन्द का जगत में, आनन्द है लवलेश ॥

रंग्य निज रूप समासा ॥ तब माई सुख की रासी ॥ ७ ॥ यह
गुप्त ज्ञान का गोख्म । सब उबा मर्म का टोक्म । होगया ब्रह्म का
सोक्म, नहिं पहुचे चारो खानी ॥ ८ ॥

१२४ असावरी

कहते हैं वद सिमरिती । यह जीव कभी नहिं मरती ॥ वह
जन्मादिक को धरती । क्यों भूलि मर्म में फिरती ॥ टेक ॥ जैसे
मद पी होवे मतवारा । कछु तनको रहे न संभारा । गिरि खाक
मैंली गारा । सब छोदन छसी अरता ॥ १ ॥ जब विषयन में गम
दीना । कर्ता अहंकार जो कीना । तब जीव आपको चीन्हा।
भूल्या निज अपनी सुरती ॥ २ ॥ सपने में बहुत धन पाया ।
पुत्र पोते अरु माया ॥ कछु खर्च किया नहिं लाया ' झूठी सबर
परमिरती ॥३॥ कर्ता कर्म अरु किरिया । तजि तिनको पावे तुरिया ॥
सब कर्म इसी से जरिया । तब पावे आप निवरती ॥४॥ निज
आतम रूप अपारा । जिसमें मिथ्या संसारा ॥ सो माहीं नहिं न्
न्यारा । करो महाकार अब विरती ॥ ५ ॥ यह सुन सतगुरु की
बानी । सो अतिशय सुख की खानी ॥ याते थिर होवे प्रानी । पुनि
नहिं बाहर परती ॥ ६ ॥ जब होय दृढ अभ्यास । पावे निज
रूप हुल्लासा ॥ फिर यम को रहे न त्रासा । सब भूल अविद्या
जरती ॥ ७ ॥ गुरु गुप्त भेद बतलाया । सब मूंठा जाल उड़ाया
शिष्य–सबक भाव मिटाया । जब जीव–ब्रह्म पाव थिरती ॥ ८ ॥

१२५ असावरी

यह देख्या ब्रह्म तमासा । सब कटा भरम का फाँसा ॥ पाया निज रूप खुलासा । दस हू दिशि हुया उजासा ॥ टेक ॥ ऐसा है रूप हमारा । नहिं भौतिक भूत पसारा । सब शामिल सब से न्यारा । नहिं आगम निगम का रासा ॥ १ ॥ कोई आतम देह बतावे । मन इन्द्रिय प्राण सुनावे ॥ कोई बुद्धि को समझावे । यों पायो वहुत तिरासा ॥ २ ॥ कभी तीन देह में अटक्या । कभी पच कोष में भटक्या । पाया नहिं निरगुण लटक्या । सब किया उमर का नासा ॥ ३ ॥ कोई पूजा तिलक बतावे । कोई गायत्री जपवावे ॥ कोई माला को हलवावे । कोई कहते सेवक दासा ॥४॥ हमें मिले बहुत अलमेड़ी । गळ गेरे मजब की वेडी ॥ करते हैं आँख वडी टेड़ी । वतलाते हैं परकासा ॥ ५ ॥ कोई मिले अगम के भेदी । जिन मूल अविद्या छेदी ॥ रचिदई ब्रह्म की वेदी । घट अन्दर हुआ हुलासा ॥६॥ जब सुने यथारथ बचना । तब रूप पिछाना अपना । मिटि गई कुतर्क की रचना । जब डारा निर्गुण पासा ॥ ७ ॥ अब सोये गुप्त गलीचे । नहिं जाना ऊपर नीचे ॥ आनन्द में उमरिया बीते । सब दूर हुवा है साँसा ॥ ८ ॥

दोहा—

ब्रह्मानन्द आनन्द में, आनन्द रहे हमेश ।
जा आनन्द का जगत में, आनन्द है लवलेश ॥

देखा निज रूप तमासा ॥ तब माई सुख की रासी ॥ ७ ॥ गुरु गुप्त ज्ञान का गोला । सब उड़ा भर्म का टोला । होगया सहज मोला, नहिं पड़ते भारी खानी ॥ ८ ॥

१२४ असावरी

कहते हैं वेद सिमरिती । यह जीव कल्प नहिं मरती ॥ अर्थ जन्मादिक को धरती । क्यों भूलि भर्म में फिरती ॥ टेक ॥ जो मद पी होवे मतवारा । कछु तनकी रहे न संभारा । गिरि आया मैली गारा । तब चेतन लागे भरती ॥ १ ॥ जब विषयन में मन दीना । कर्ता अंहकार जो कीना । तब जीव आपको चीन्हा । भूल्या निज अपनी सुरती ॥ २ ॥ सपने में बहुत धन पाया । पुत्रर पोते अरु माया ॥ कछु कार्य किया नहिं आया । झूठी सबही सरविरती ॥३॥ कर्ता कर्म अरु किरिया । तब तिनमें पाये दुरिया ॥ सब कर्म इसी से अरिया । जब पावे आप निवरती ॥४॥ निज आतम रूप अपारा । जिसमें मिथ्या संसारा ॥ सो माहीं नहिं कछु न्यारा । क्यों भवसागर अब तिरती ॥ ५ ॥ यह सुन सत्गुरु की बानी । सो अतिशय सुख की खानी ॥ भावे थिर होवे मानी । सुधी नहिं बाहर धरती ॥ ६ ॥ जब होय दृढ़ अभ्यास । पावे निज रूप अकासा ॥ फिर यम को रहे न त्रासा । सब सूख महिमा धरती ॥ ७ ॥ गुरु गुप्त भेद बतलाया । सब मूठा जाल उड़ाया । सिष्य–सेवक भाव मिलाया । तब जीव–ब्रह्म पावे थिरती ॥ ८ ॥

१२५ असावरी

यह देख्या ब्रह्म तमासा । सब कटा भरम का फाँसा ।। पाया निज रूप खुलासा । दस हू दिशि हुया उजासा ।। टेक ।। ऐसा है रूप हमारा । नहिं भौतिक भूत पसारा । सब शामिल सब से न्यारा । नहिं आगम निगम का रासा ।। १ ।। कोई आतम देह बतावे । मन इन्द्रिय प्राण सुनावे ।। कोई बुद्धि को समझावे । यों पायो बहुत तिरासा ।। २ ।। कभी तीन देह में अटक्या । कभी पंच कोष में भटक्या । पाया नहिं निरगुण लटक्या । सब किया उमर का नासा ।। ३ ।। कोई पूजा तिलक बतावे । कोई गायत्री जपवावे ।। कोई माला को हलवावे । कोई कहते सेवक दासा ।।४।। हमें मिले बहुत अलफेड़ो । गळ गेरे मजब की बेड़ी ।। करते हैं आँख बड़ी टेड़ी । बतलाते हैं परकासा ।। ५ ।। कोई मिले अगम के भेदी । जिन मूल अविद्या छेदी ।। रचिदई ब्रह्म की वेदी । घट अन्दर हुआ हुलासा ।।६।। जब सुने यथारथ बचना । तब रूप पिछाना अपना । मिटि गई कुतर्क की रचना । जब डारा निर्गुण पासा ।। ७ ।। अब सोये गुप्त गलीचे । नहिं जाना ऊपर नीचे ।। आनन्द में उमरिया बीते । सब दूर हुवा है साँसा ।। ८ ।।

दोहा—

ब्रह्मानन्द आनन्द में, आनन्द रहे हमेश ।
जा आनन्द का जगत में, आनन्द है लवलेश ।।

देखा निज रूप तमासा ॥ तब माइ सुक्ख की पावे ॥ ७ ॥ सुख गुप्त ज्ञान का गोला । सब सन्त मर्म का टोला । होगया मेहर का मोला, नहिं पकरत चारा खानो ॥ ८ ॥

१२४ असावरी

कहते हैं वेद सिमरिती । यह जीव कभी नहिं मरती ॥ अरि अभ्यासिक को धरती । क्यों मूलि मर्म में फिरती ॥ टेक ॥ जबे मन पी होवे मतवारा । कछु तनको रहे न संभारा । गिरि जाय मैली गारा । तब लोटन लगे अरता ॥ १ ॥ जब विषयन में मन दीन्हा । कर्ता अहंकार सो कीना । तब जीव आपको चीन्हा । भूल्या निज अपनी सुरती ॥ २ ॥ सपने में बहुत धन पाया । पुत्र पोते अरु माया ॥ कछु कार्य किया नहिं आया । झूठी सब परमिरती ॥३॥ कर्ता कर्म अरु किरिया । तजि तिनको पावो तुरिया । सब कर्म इसी से जरिया । तब पावे आप निवरती ॥४॥ निज आतम रूप अपारा । जिसमें मिथ्या संसारा ॥ सो माहीं नहिं न्यारा । करो मथामथर अब विरती ॥ ५ ॥ यह सुन सद्गुरु की बानी । सो अतिशय सुख की खानी ॥ माते थिर होवे मानी । सुधी नहिं बाहर चरती ॥ ६ ॥ जब होय दृढ़ अभ्यासा । पावे निज रूप तमासा ॥ फिर धन को रहे न आसा । सब मूल मरिता अरती ॥ ७ ॥ गुरु गुप्त भेद बतलाया । सब झूठा जाल उड़ाया । शिष्य-सेवक भाव मिटाया । अब जीव-ब्रह्म पाय फिरती ॥ ८ ॥

१२५ असावरी

यह देख्या ब्रह्म तमासा । सब कटा भरम का फाँसा ॥ पाया निज रूप खुलासा । दस हूं दिशि हुया उजासा ॥ टेक ॥ ऐसा है रूप हमारा । नहिं भौतिक भूत पसारा । सब शामिल सब से न्यारा । नहिं आगम निगम का रासा ॥ १ ॥ कोई आतम देह घतावे । मन इन्द्रिय प्राण सुनावे ॥ कोई बुद्धि को समझावे । यों पायो बहुत तिरासा ॥ २ ॥ कभी तीन देह में अटक्या । कभी पंच कोष में भटक्या । पाया नहिं निरगुण लटक्या । सब किया उमर का नासा ॥ ३ ॥ कोई पूजा तिलक बतावे । कोई गायत्री जपवावे ॥ कोई माला को हलवावे । कोई कहते सेवक दासा ॥४॥ हमें मिले बहुत अलमेड़ी । गल गेरे मजब की वेड़ी ॥ करते हैं आँख बड़ी टेड़ी । बतलाते हैं परकासा ॥ ५ ॥ कोई मिले अगम के भेदी । जिन मूल अबिद्या छेदी ॥ रचिदई ब्रह्म की वेदी । घट अन्दर हुआ हुलासा ॥६॥ जब सुने यथारथ वचना । तब रूप पिछाना अपना । मिटि गई कुतर्क की रचना । जब डारा निर्गुण पासा ॥ ७ ॥ अब सोये गुप्त गलीचे । नहिं जाना ऊपर नीचे ॥ आनन्द में उमरिया वीते । सब दूर हुवा है साँसा ॥ ८ ॥

दोहा—

ब्रह्मानन्द आनन्द में, आनन्द रहे हमेश ।
जा आनन्द का जगत में, आनन्द है लवलेश ॥

देखा निज रूप तमासा ॥ तब माई सुख की रासी ॥ ७ ॥ यह गुप्त ज्ञान का गोला । सब धका भर्म का टोला । होगया मार प्र होला, नहिं पकड़े चारों खानो ॥ ८ ॥

१२४ असावरी

कहते हैं भेद सिमरिती । यह जीव कम्म नहिं मरती ॥ यों अभ्यासिक जो परती । क्यों मूर्खि भर्म में फिरती ॥ टेक ॥ जैसे मद पी होवे मतवारा । कछु तनको रहे न संभारा । गिरि जाय मैली गारा । तब छोल्म करमो मरती ॥ १ ॥ जब विषयन में मन दीना । कर्ता अहंकार सो कीना । तब जीव आपको चीन्हा । भूल्या निज अपनी सुरती ॥ २ ॥ सपने में बहुत धन पाया । पुत्तर पाये अरु माया ॥ कछु अर्थ किया नहिं सपना झूठी सबही परबिरती ॥३॥ कर्ता कर्म अरु किरिया । तजि तिनको पावे तुरिया ॥ सब कर्म इसी म जरिया । जब पावे आप निबरती ॥४॥ निज आतम रूप अपारा । जिसमें मिथ्या संसारा ॥ सो मार्गी नहीं कछु न्यारा । करो ब्रह्माकार अब विरती ॥ ५ ॥ यह सुन सद्गुरु की बानी । सो अतिशय सुख की खानी ॥ पावे थिर होवे प्रानी । दुर्मति नहिं बाहर भरती ॥ ६ ॥ जब होय दृढ़ अभ्यासा । पावे निज रूप सुपासा ॥ फिर यम की रहे न त्रासा । सब भूल अविद्या जरती ॥ ७ ॥ गुरु गुप्त भेद बतलाया । सब मूढ़ता आन नशाया । शिष्य-सेवक भाव मिटाया । अब जीव-ब्रह्म पाव भिरती ॥ ८ ॥

१२५ असावरी

यह देख्या ब्रह्म तमासा । सब कटा भरम का फाँसा ॥ पाया निज रूप खुलासा । दस हू दिशि हुया उजासा ॥ टेक ॥ ऐसा है रूप हमारा । नहिं भौतिक भूत पसारा । सब शामिल सब से न्यारा । नहिं आगम निगम का रासा ॥ १ ॥ कोई आतम देह बतावे । मन इन्द्रिय प्राण सुनावे ॥ कोई बुद्धि को समझावे । यों पायो बहुत तिरासा ॥ २ ॥ कभी तीन देह में अटक्या । कभी पच कोष मे भटक्या । पाया नहिं निरगुण लटक्या । सब किया उमर का नासा ॥ ३ ॥ कोई पूजा तिलक बतावे । कोई गायत्री जपवावे ॥ कोई माला को हलवावे । कोई कहते सेवक दासा ॥४॥ हमें मिले बहुत अलफेड़ी । गळ गेरे मजब की वेड़ी ॥ करते हैं आँख बडी टेड़ी । बतलाते हैं परकासा ॥ ५ ॥ कोई मिले अगम के भेदी । जिन मूल अविद्या छेदी ॥ रचिदई ब्रह्म की वेदी । घट अन्दर हुआ हुलासा ॥६॥ जब सुने यथारथ बचना । तब रूप पिछाना अपना । मिटि गई कुतर्क की रचना । जब डारा निर्गुण पासा ॥ ७ ॥ अब सोये गुप्त गलीचे । नहिं जाना ऊपर नीचे ॥ आनन्द मे उमरिया बीते । सब दूर हुवा है साँसा ॥ ८ ॥

दोहा—

ब्रह्मानन्द आनन्द में, आनन्द रहे हमेश ।
जा आनन्द का जगत में, आनन्द है लवलेश ॥

देखा निज रूप तमासा ॥ तब भाई सुख की खानो ॥ ७ ॥ ए
गुप्त ज्ञान का गोला । सब उसा मर्म का ठोला । होगया मस्त म
तोला, नहिं पड़ते धारा खानो ॥ ८ ॥

१२४ असावरी

१२५ असावरी

यह देख्या ब्रह्म तमासा । सब कटा भरम का फाँसा ।। पाया निज रूप खुलासा । दस हूं दिशि हुया उजासा ।। टेक ।। ऐसा है रूप हमारा । नहि भौतिक भूत पसारा । सब शामिल सब से न्यारा । नहिं आगम निगम का रासा ।। १ ।। कोई आतम देह घतावे । मन इन्द्रिय प्राण सुनावे ।। कोई बुद्धि को समझावे । यों पायो वहुत तिरासा ।। २ ।। कभी तीन देह में अटक्या । कभी पच कोष में भटक्या । पाया नहिं निरगुण लटक्या । सब किया उमर का नासा ।। ३ ।। कोई पूजा तिलक बतावे । कोई गायत्री जपवावे ।। कोई माला को हलवावे । कोई कहते सेवक दासा ।।४।। हमें मिले बहुत अलफेड़ी । गल गेरे मजब की वेडी ।। करते हैं आँख बड़ी टेड़ी । बतलाते हैं परकासा ।। ५ ।। कोई मिले अगम के भेदी । जिन मूल अबिद्या छेदी ।। रचिदई ब्रह्म की वेदी । घट अन्दर हुआ हुलासा ।।६।। जब सुने यथारथ वचना । तब रूप पिछाना अपना । मिटि गई कुतर्क की रचना । जब डारा निर्गुण पासा ।। ७ ।। अब सोये गुप्त गलीचे । नहिं जाना ऊपर नीचे ।। आनन्द मे उमरिया बीते । सब दूर हुवा है साँसा ।। ८ ।।

दोहा—

ब्रह्मानन्द आनन्द में, आनन्द रहे हमेश ।
जा आनन्द का जगत में, आनन्द है लवलेश ।।

१२६ असावरी

यह तन मैंना मैंना । सब छोड़ो पोष्ट फैना ॥ टेक ॥ गो गोचर मन अहं छग साथे । सो यह कुछ भी है न ॥ माया कल्पित विश्व धन्यो है । मृग जल जानि बहेना ॥ १ ॥ सोवत रंक स्वप्न होय राजा । राज करत संग सेना ॥ जागत भीख परे घर मांगे । तबहुं फेर मरेना ॥ २ ॥ तन तिरिया सुत स्वपन मात्र ये सब काठ पखना । इन संगसत्र संग हरि का करिये । हरि हरि मुख से कहना ॥ ३ ॥ सो हरि गुप्त प्रकट सकल संग । समझा मुनिय कहना ॥ प्रभु यह कृपा करत बिन कारण । सुख के कहि कहि बैना ॥ ४ ॥

१२७ दादरा

जाना तुम्हें जरूर है, कर्मों के धाम को ॥ सौदा करो मही का, भजिके राम नाम को ॥ टेक ॥ क्यों भूला है देखिके, धन धामको ॥ चलना पड़ेगा यार तजिके, धाम धाम को ॥ १ ॥ बाम नगारा कूच का । सुबह व शाम को । लेन न पाव संग में, कौड़ी छदाम को ॥ २ ॥ समझा है सत्य तैने, इस झूठे खिजाम को ॥ धोखा पकड़ा जायगा यम के मुकाम को ॥ ३ ॥ कहता है गुप्त पुकारिके इन सहमान को ॥ बिगड़ा बनावि काम को, करता न काम को ॥ ४ ॥

१२८ दादरा

स्वप्ने में स्वप्ना खलिक होता फिरै सुमार ॥ जड़िके अविद्यारूप में क्यों भूला है यार ॥ टेक ॥ ऐसे नशे में गिर गया, पतन छाय

मझधार ॥ तब तक नहीं आराम है, पकड़े नहीं किनार ॥ १ ॥ देही मिली है मनुष्य की, कछु कीजिये विचार ॥ डारो अविद्या जालका, सिर आअने से भार ॥ २ ॥ करना जो काज आज है, कल की नहीं उधार ॥ नाहीं खबर छिन एक को, कब आनि पकडे कार ॥ ३ ॥ गुप्त गोविन्द को जपो, अब राग दोष जार ॥ छाड़ो अखाड़ा लोभ का, इस मारही को मार ॥४॥

१२९ दादरा

मेंहदी के जैसे पात में, लाली रही समाय ॥ काया में तैसे ब्रह्म है, खोजन को कहाँ जाय ॥ टेक ॥ वृथा ही बाहर भटकता, खोजे नहीं सत्भाव ॥ बाहर से उलटी मोड़ि के, अंतर को विरती लाय ॥१॥ ढूँढन वाले को ढूँढिले, इस ढुढाही के माय । अतर व बाहर एक रस, क्यों मरता धाय धाय ॥ २ ॥ यद्यपि अपना आप है, सतगुरु बिना नहीं पाय ॥ गहेना गले के बीच में, कोई देत है बतलाय ॥ ३ ॥ गुप्त अपना आप है, दृष्टि न मुष्टि आय ॥ जब तक न जाने आपको, बन बन में भटके खाय ॥ ४ ॥

१३० दादरा

दिल दीजे न संसार, यार छोड़ जाते हैं ॥ लाखो करो उपाय फिर, ढूंढे न पाते हैं ॥ टेक ॥ प्रीति में जो सुख हुये, हमको जलाते हैं । खान पान धाम ये, नाहीं सुहाते हैं ॥ १ ॥ जिन बिन घड़ी नहिं बीतती, अब दिवस जाते हैं ॥ कोई चन्द

१२६ असावरी

यह सन मैना मैना। सब लोगों को कष्ट देना ॥ टेक ॥ म गोचर मन जहं लग जावे। सो यह कुछ भी है ना ॥ माया कल्पित विश्व बन्यो है। मृग जल जानि बहेना ॥ १ ॥ सोवत रंक स्वप्न होय राजा। राज करत संग सना ॥ जागत भीख मरे घर मांगि। तबहूं पेट भरैना ॥ २ ॥ तन तिरिया सुत स्वपन मानत ये सब काल चबना। इन संगतज संग हरि का करिये। हरि हरि मुख से कहना ॥ ३ ॥ सो हरि गुप्त प्रकट सज्जन संग। उनका सुनिय कहना ॥ मुख बह कृपा करत बिन कारण। मुख के कहि कहि बैना ॥ ४ ॥

१२७ दादरा

आना तुम्हें जरूर है, कर्मों के धाम को ॥ सौदा करो मही का, भजिके राम नाम को ॥ टेक ॥ क्यों मूउवा है बैठिके, धमक धामको ॥ चलना पड़ेगा यार तजिके, धाम धाम को ॥ १ ॥ बाजे नगारा कूंच का। सुबह व शाम को। लेन न पावे संग में, कौड़ी छदाम को ॥ २ ॥ समझा है सत्य तैंने, इस मूठि सिजाम को ॥ कहीमा पकड़ा जायगा, यम के मुकाम को ॥ ३ ॥ कहता है गुप्त पुकारिके, मन बईमान को ॥ झगड़ा मचावे काम का, करता न धाम को ॥ ४ ॥

१२८ दादरा

स्वप्न में सच्चा दखिके होता फिरै सुमार ॥ पढ़िके अविनाशरूप मैं क्यों भूलता है यार ॥ टेक ॥ जैसे नदी में गिर गया, बहत लगा

मझधार ॥ तब तक नहीं आराम है, पकड़े नहीं किनार ॥ १ ॥ देही मिली है मनुष्य की, कछु कीजिये विचार ॥ डारो अविद्या जालका, सिर आअने से भार ॥ २ ॥ करना जो काज आज है, कल की नहीं उधार ॥ नाहीं खबर छिन एक को, कब आनि पकडे कार ॥ ३ ॥ गुप्त गोविन्द को जपो, अब राग दोष जार ॥ छोड़ो अखाड़ा लोभ का, इस मारही को मार ॥४॥

१२६ दादरा

मेंहदी के जैसे पात मे, लाली रही समाय ॥ काया में तैसे ब्रह्म है, खोजन को कहाँ जाय ॥ टेक ॥ वृथा ही बाहर भटकता, खोजे नहीं सतभाव ॥ बाहर से उलटी मोड़ि के, अंतर को विरत्ती लाय ॥१॥ ढूँढन वाले को ढूँढिले, इस ढुढाही के माय । अतर व बाहर एक रस, क्यों मरता धाय धाय ॥ २ ॥ यद्यपि अपना आप है, सतगुरु विना नहीं पाय ॥ गहेना गले के बीच में, कोई देत है बतलाय ॥ ३ ॥ गुप्त अपना आप है, दृष्टि न मुष्टि आय ॥ जब तक न जाने आपको, बन बन में भटके खाय ॥ ४ ॥

१३० दादरा

दिल दीजे न संसार, यार छोड़ जाते हैं ॥ लाखों करो उपाय फिर, ढूंढे न पाते हैं ॥ टेक ॥ प्रीति में जो सुख हुये, हमको जलाते हैं । खान पान धाम ये, नाहीं सुहाते हैं ॥ १ ॥ जिन बिन घड़ी नहिं बीतती, अब दिवस जाते हैं ॥ कोई चन्द

रोज मौथ में, हम मा समाते हैं ॥ ३ ॥ विछ मार्गी विछ भेद के, मुदृष्यव लगाते हैं ॥ एक दिन वियोग को, अवश्य पाते हैं ॥ ३ ॥ जाने बिना निज गुप्त के, यों दुःख पाते हैं ॥ धार मित्र दोरदी, सब झूठे नाते हैं ॥ ४ ॥

१३१ दादरा

गाना सुनाना चाहिये जो गैबी ख्याल है ॥ गंधर्व हुआ तो क्या हुआ वाकिफ न हाल है ॥ टेक ॥ तानारोरी में फंस मरना, करता कमाल है । उदात्तको अनुदात्त, नहिं स्वर की संभाल है ॥१॥ नहीं तार काठ चाम छोड़ा, तस्सा न चाल है ॥ अनहद के बाजे बजि रहे, तबला न ताल है ॥२॥ सुरसत की ठोकर खायके, होता निहाल है ॥ कथनी कथी तो क्या हुआ, कोरा कंगाल है ॥ ३ ॥ उस गान को जान्या नहीं, जो गुप्त माल है ॥ धम काम धातु वो मरना पर नहीं ख्याल है ॥ ४ ॥

१३२ दादरा

मंथन किया है वेद का, कवि कवि के कहते हैं ॥ ज्ञान बिना निज रूप के, मव जल में बहते हैं ॥ टेक ॥ छोम की अग्नी लगी, किस माहिं बहते हैं । तजि छमा को अक्षमा कर, दमदी को चहते हैं ॥ १ ॥ बिन निवृत्ति नहिं होय सुख, क्यों दुःख सहते हैं । मध्यावस्स प्रस्थान की विद्या के कहते हैं ॥ २ ॥ धम धाम काज राज में सुकृमति को सहते हैं । कथनी कर वेदांत

की, हम असंग रहते हैं ॥ ३ ॥ जान्या है गुप्त-ज्ञान सो, अमान रहते हैं । तजि के वस्तु सार नहीं, असार गहते हैं ॥ ४ ॥

१३३ दादरा

हरहाल में कर ख्याल को, तुह कौन तेरा है । यह जगत् माया जाल, यहां तेरा न मेरा है ।। टेक ॥ भूल्या फिरे क्या भर्म में, स्वप्ने का डेरा है । धन धाम वाम अरु तनय, झूंठा बखेरा है ॥ १ ॥ सब फीके रग जहान के, जहाँ मन को गेरा है । कुछ समझिके कर काज, नहीं चौरासी फेरा है ॥ २ ॥ गुरु वेद में विश्वास करि, जो भेद हेरा है । कहते अखडित आत्मा, नहीं दूर नेरा है ॥ ३ ॥ समझो न गुप्तज्ञान क्यों, हैरान होरहा है । जिसको तू समझे दूर में, तेरा ही चेहरा है ॥ ४ ॥

१३४ दादरा

जैसे केले थभ में, पाता नहीं है सार ॥ तैसे ही देखो खोजि के मिथ्या सभी संसार ॥ टेक ॥ पकड़्या है तैंने आय के, यह माया का विकार ॥ पचि पचि के मरता रात दिन, करता नहीं विचार ॥१॥ छोड़े बिना छूटै नहीं, झूठा भी यह असार ॥ अब जानो अपने रूप को, पटको न सिर ते भार ॥ २ ॥ छोड़ो सभी परमाद को, लावो धनी से तार । शिर ऊपर काल गाजता, करता नहीं उधार ॥ ३ ॥ देखै हैं अपनो आख से, लगती नहीं कछु वार लाखों किरोडों चलि गये, कहता है गुप्त पुकार ॥ ४ ॥

रोज बीच में, हम भी समाते हैं ॥ २ ॥ दिल माहीं दिल को देख के, मुहब्बत लगाते हैं ॥ एक दिन वियोग को, अवश्य पाते हैं ॥ ३ ॥ जाने बिना निज गुप्त के, यों दुख पाते हैं ॥ यार मित्र दोस्ती, सब झूठे नाते हैं ॥ ४ ॥

१३१ दादरा

गाना सुनाना चाहिये, जो गैबी ख्याल है ॥ गंधर्व हुआ तो क्या हुआ वाकिफ न हाल है ॥ टेक ॥ तानारोरो में फंस मरया, करता कमाल है। तदापकमी अनुराग, नहिं स्वर की संभाल है ॥१॥ नहीं यार काठ पाम ओहा, वस्ता न चाल है ॥ मतलब के पाने वारि रहे, समझा न ताल है ॥२॥ सुरसब की ठोकर खाय के, होय निहाल है ॥ कथनी कभी तो क्या हुआ, कोरा कंगाल है ॥ ३ ॥ उस गाने को जाण्या नहीं, जो गुप्त माल है ॥ धन काम आयु को भरया घर माहीं काल है ॥ ४ ॥

१३२ दादरा

मंथन किया है वेद का, कवि कवि के कहते हैं ॥ ज्ञान बिना निज रूप के, सब काल में बहते हैं ॥ टेक ॥ प्रेम की अग्नी कमी, तिस माहिं दहते हैं। तजि ज्ञान को अकारण कर, समझी को चाहते हैं ॥ १ ॥ बिन निवृत्ति नहिं होय सुख, क्यों दुःख सहते हैं। अद्वापस प्रस्थान को किया के कहते हैं ॥ २ ॥ बन धाम काज राज में कुमति को सहते हैं। कथनी कर वेदांत

की, हम असंग रहते हैं ।। ३ ।। जान्या है गुप्त-ज्ञान सो, अमान रहते हैं । तजि के वस्तु सार नहीं, असार गहते हैं ।। ४ ।।

१३३ दादरा

हरहाल में कर ख्याल को, तुह कौन तेरा है । यह जगत् माया जाल, यहां तेरा न मेरा है ।। टेक ।। भूल्या फिरे क्या भर्म में, स्वप्ने का डेरा है । धन धाम वाम अरु तनय, झूंठा बखेरा है ।। १ ।। सब फीके रंग जहान के, जहाँ मन को गेरा है । कुछ समझिके कर काज, नहीं चौरासी फेरा है ।। २ ।। गुरु वेद में विश्वास करि, जो भेद हेरा है । कहते अखण्डित आत्मा, नहीं दूर नेरा है ।। ३ ।। समझो न गुमज्ञान क्यों, हैरान होरहा है । जिसको तू समझे दूर मे, तेरा ही चेहरा है ।। ४ ।।

१३४ दादरा

जैसे केले थभ में, पाता नहीं है सार ।। तैसे ही देखो खोजि के मिथ्या सभी संसार ।। टेक ।। पकड़्या है तैंने आय के, यह माया का विकार ।। पचि पचि के मरता रात दिन, करता नहीं विचार ।।१।। छोड़े विना छूटै नहीं, झूंठा भी यह असार ।। अब जानो अपने रूप को, पटको न सिर ते भार ।। २ ।। छोड़ो सभी परमाद को, लावो धनी से तार । शिर ऊपर काल गाजता, करता नहीं उधार ।। ३ ।। देखै हैं अपनो आख से, लगती नहीं कछु वार लाखों किरोड़ों चलि गये, कहता है गुप्त पुकार ।। ४ ।।

रोज पोष में, हम भी समाते हैं ॥ २ ॥ दिल मार्ही दिल को दय क, मुहब्बत लगाते हैं ॥ एक दिन वियोग को, अवश्य पाते हैं ॥ ३ ॥ जाने बिना निज गुप्त के, यों दुख पावे हैं ॥ यार मित्र दोस्ती, सब झूठे माते हैं ॥ ४ ॥

१३१ दादरा

गाना सुनाना चाहिय जो गैबी ख्याल है ॥ गंधर्व हुआ तो क्या हुआ, वाकिफ न हाल है ॥ टेक ॥ तानारोरो में फंस मरना, करता कमाल है । उदात्त औ अनुदात्त, नहिं स्वर की सँभाल है ॥१॥ नहीं तार काठ चाम लोहा, तस्मा न बाल है ॥ अनहद के बाजे बाजि रहे, तबला न ताल है ॥२॥ मुरसद की ठोकर खायके, होता निहाल है ॥ कथनी कथी तो क्या हुआ, कोरा कंगाल है ॥ ३ ॥ बस गान को साम्या नहीं, जो गुप्त माल है ॥ धन काम व्यसु को मरना, घर माहीं काल है ॥ ४ ॥

१३२ दादरा

मंथन किया है वेद का, कवि कवि के कहते हैं ॥ जाने बिना निज रूप के, सब काल में बहते हैं ॥ टेक ॥ ओम की अग्नी लगी, जिस माहिं दहते हैं । सांचि खाक को अकाज कर, वमडी को चाहते हैं ॥ १ ॥ बिन निवृत्ति नहिं होय दुख, क्यों दुःख सहते हैं । अघात्स प्रस्थान जो, विधा के कहते हैं ॥ २ ॥ धन धाम काम राज में हुकमति को सहते हैं । कथनी करे बहोत

उसकी पिछान है ॥ २ ॥ अनेक एक है नही, क्या कहे बखान है। आयने दिल मैं हमेश, होता भान है ॥ ३ ॥ गुप्त सेन जान तू, करदे मुकाम है। ध्रुवस्वयं सरूप मे, नहिं होतो हानि है ॥ ४ ॥

१३७ दादरा

चाम के इस गाँम मे, रहना किसी का नाय। धन धाम वाम नाशवंत, क्यों रहा लुभाय ॥ टेक ॥ नाम रूप से रहित, आप सवही माय। स्व स्वरूप जानने से, जगत जाल जाय ॥ २ ॥ दूध में घृत देखले, खाने से स्वाद आय। विश्व माहीं विश्वनाथ, सव में रह्यो छाय ॥२॥ अपनी आँख मंदता से, चंद दो दिखाय। हाय हाय हाय कष्ट, इसकी भूल खाय ॥३॥ गुप्त रूप है अनूप, उसको लेवे पाय। ध्रुव उसी आनन्द में चित, दीजिये ठहराय ॥ ॥

१३८ दादरा

जाने बिना स्वरूप के, नाहीं आराम है, पाया है जन्म मनुष्य तो, कर येही काम है ॥ टेक ॥ समझा है सत्य तेंने, झूठा मुकाम है। आखिर फना ये होयगा, खलकत तमाम है ॥ १ ॥ कर विचार देखिये, जो मोक्ष धाम है। दिन व्यतीत होगये, अव कुछ कयाम है ॥२॥ ख्याल जाळ का वना, यह चमक चाम है। फंस के अविद्या फद में, वनता गुलाम है ॥ ३ ॥ आनन्द गुप्त हो रहा, अनाम नाम है। ध्रुवस्वयं स्वरूप में न लगता दाम है ॥ ४ ॥

१३९ दादरा

मेहमान सुवह शाम का, किस ख्याल खेले में। मान कही मान कुछ, सामान तो ले ले ॥ टेक ॥ खाने को तुझे चाहिये, क्या

१३५ दादरा

काया तो अपनी है नहीं माया कहां ते होय । समझो न अपने रूप को, इन दोनोंऊ को खोय ॥ टेक ॥ बीती को मूत काल में, जिसको न मन में खोय । भावी का सोच मत करो जो होनी होय सो होय ॥ वरते जो वर्तमान में, देखो न आप खोय ॥ पूछे क्या पंडित जोतिषियों, नहिं टारि सकता कोय ॥ १ ॥ निश्चित होकर कीजिये, करने के योग सोय ॥ तजि दे करता हंकार को, करता रहे न कोय ॥ ३ ॥ इस गुप्त भेद को समझो, रहो एक न दोय ॥ साधुन सम्प्र के ज्ञान का, करता मति को धोय ॥ ४ ॥

दोहा—

बैद औषधी देत है, पथ को वैद बताय ॥
कुपथ छोड़ि सेवन करैं, तबही व्याधी जाय ॥
जीव आतमा के लग्यो, बड़ो रोग अज्ञान ॥
गुरू वैद बतलावते, औषध तिसकी ज्ञान ॥
ज्ञान दवाई जब लगे, कुपथ तजे विषै भोग ॥
पथ विवेक सेवन करे, तब आतम होय निरोग ॥

१३६ दादरा

बंदा न बन तू, देख अजब, तेरी शान है । अपने को आप भूलकर होता हैरान है ॥ टेक ॥ साक्षी है वह सर्व का, जो घट में बस रहा । वेद भेद बिन सदा, करता जो गान है ॥ १ ॥ तेरी चमक पाय के, चमकता जहान है नाम रूप से जुदा,

उसकी पिछान है ॥ २ ॥ अनेक एक है नहीं, क्या कहे बखान है। आयने दिल में हमेंश, होता भान है ॥ ३ ॥ गुप्त सेन जान तू, करदे मुकाम है। ध्रुवस्वय सरूप में, नहिं होतो हानि है ॥ ४ ॥

१३७ दादरा

चाम के इस गाँम में, रहना किसी का नाय। धन धाम वाम नाशवंत, क्यों रहा लुभाय ॥ टेक ॥ नाम रूप से रहित, आप सबही माय। स्व स्वरूप जानने से, जगत जाल जाय ॥ २ ॥ दूध में घृत देखले, खाने से स्वाद आय। विश्व माहीं विश्वनाथ, सब में रह्यो छाय ॥२॥ अपनी आँख मंदता से, चंद दो दिखाय। हाय हाय हाय कष्ट, इसकी भूल खाय ॥३॥ गुप्त रूप है अनूप, उसको लेवे पाय। ध्रुव उसी आनन्द में चित, दीजिये ठहराय ॥ ॥

१३८ दादरा

जाने बिना स्वरूप के, नाहीं आराम है, पाया है जन्म मनुष्य तो, कर येही काम है ॥ टेक ॥ समझा है सत्य तेंने, झूठा मुकाम है। आखिर फना ये होयगा, खलकत तमाम है ॥ १ ॥ कर विचार देखिये, जो मोक्ष धाम है। दिन व्यतीत होगये, अब कुछ कयाम है ॥२॥ ख्याल जाळ का बना, यह चमक चाम है। फंस के अविद्या फद में, बनता गुलाम है ॥ ३ ॥ आनन्द गुप्त हो रहा, अनाम नाम है। ध्रुवस्वयं स्वरूप में न लगता दाम है ॥ ४ ॥

१३९ दादरा

मेहमान सुबह शाम का, किस ख्याल खेले मे। मान कही मान कुछ, सामान तो ले ले ॥ टेक ॥ खाने को तुझे चाहिये, क्या

१३५ दादरा

काया तो अपनी है नहीं, माया कहां से होय। समझो व अपने रूप को, इन दोनाऊ को खोय ॥ टेक ॥ बीती जो मूत काल में, तिसको न मन में ओय। भावी का सोच मत करो जो होनी होय सो होय ॥ बरतो जो वर्तमान में, उसो न आप सोच ॥ पूर्व क्या पैदिस जोतिर्यों, नहिं टारि सकता कोय ॥ १ ॥ निश्चित होकर काजिये, करने के योग सोय ॥ शमि वे करता हंकार का, करता रहे न कोय ॥ ३ ॥ इस गुप्त मेद को लखो, लखो एक न दोय ॥ साबुन लगा के ज्ञान का, करता मति को धोय ॥ ४ ॥

दोहा—

वैद औषधी देत है, पथ को देय बताय ॥
कुपथ छोड़ि सेवन करें, तबही व्याधी जाय ॥
जीव आतमा के लग्यो, बड़ो रोग अज्ञान ॥
गुरू वैद बतलावते, औषध तिसकी ज्ञान ॥
ज्ञान दवाई जब लगे, कुपथ तजे विषै भोग ॥
पथ विवेक सेवन करे, तब आतम होय निरोग ॥

१३६ दादरा

देखा न वन तू, इस कदर, तेरी शान है। अपन को आप भूलकर होता हैरान है ॥ टेक ॥ साक्षी है यह सर्व का, जो सर में बस रहा। वेद भेद बिन सदा, करता जा गान है ॥ १ ॥ हरी चमक पाय के, चमकता जहान है नाम रूप स जुदा,

रहीम का ध्यान धरे। नहीं तसवी माला से जाप करे, मम रूप अक्रिय में क्रिया नहीं ॥ २ ॥ सब द्वैत अद्वैत मिटा झगडा, अपने मे वना न कछू विगडा । भ्रम भेद का डार दिया पगडा, सब वेद किताब की वात वहो ॥३॥ नहीं सूक्षम स्थूल अरु मूल नहीं, उस गुप्त गली मे तो भूल नहीं । वहाँ पुन्य अरु पाप की शूल नहीं, तहां एक अरु दो का गम्य नहीं ॥ ४ ॥

१४२ कव्वाली

मुझे निद्रा लगी जब सूता परा, उस स्वपने मे कोस हजारों फिरा । जब जागि उठा तब देखन लगा, कहिं आया गया न वहां ही परा ॥टेक। जैसे चलते दिशा का भर्म होजाय, जानो पूरव तजकर पश्चिम जाय । जब जानि परी तब क्या विस्माय, जहाँ जाना वहाँ में न भूलजरा ॥१॥ कोई वार कहे कोइ पार कहे, कोइ नदी कहे कोइ धार कहे । कोइ वीच कहे कोइ किनार कहे, वकि थकि कर वृथा हो मूढ़ मरा ॥२॥कोइ देश कहे परदेश कहे, कोई कोइ शेष कहे, कोई शिवजी कहे कोई महेश कहे, नामों का भेद कोई जीव वाकी कहे है वस्तु खरा ॥३॥ तैसे आतम एक ही नाम घने, कहै कोइ ब्रह्म भने । सब भेद उपाधि कृत ही वने, सो न आता न जाता न जन्मा मरा ॥ ४ ॥

१४३ कव्वाली

जैसे अन्धकार में रज्जू परी, तिमे देख अहो का भरम हुआ। जब दीपक लेकर देख लई, तब रज्जु की रज्जु ही सर्प गया ॥ टेक ॥

आके आयगा ॥ जब पड़े सो हाथ मे, कुछ दान दो देले ॥ १ ॥ अपना जिसे तू मानता, सपना सा जग मा । संत वेद कहे तुझे उनकी तो मानले ॥२॥ कर्म के बस फँसता है, पुसता खुसी से आ। चलते समय में सामने, सब कर से कर मले ॥ ३ ॥ ध्यान धर उस राम का, तेरी खबर जो ले । ध्रुव गुप्त और ना बने तो, सम तो ले ले ॥ ४ ॥

१४० दादरा

चल चट समझ के देख, क्या बाकी हिसाब है । लेना नहीं को लेने, क्या देवे जबाब है ॥ टेक ॥ मूल का मन पूत, मूत स बना हुआ । अपना इसे तू मानता, ये हा अजाब है ॥ १ ॥ चमक दमक चांदनी, बिजली सी है घना । बुदबुदा हुआ समझे नहीं, करता खिजाब है ॥२॥ अकड़ मकड़ छोड़ो, जोड़ो नेह राम से । यह प्रपंच एसा है जैसा जो ख्वाब है ॥३॥ मनको ले तन से चले, सतगुरु शरण मेला । ध्रुव गुप्त मिले मुक्त हा, वही सबाब है ॥४॥

१४१ कव्वाली और प्रकार की

जब अपने आपको आत्मा लखी, सब दीन दुनी फक नहीं नहीं । जब आपहि आप बिराज रहा, तब और किसी का सो कौन नहीं ॥ टेक ॥ जब माया अविद्या का पाप कटा, तब ईस्वर जीव का भेद मिटा । सब करता किरिया कर्म छुटा, नहीं करना से कुछ सफर ही नहीं ॥ १ ॥ अष्टांग न योग समाधि करें, नहीं राम

रहीम का ध्यान धरे। नहीं तसवी माला से जाप करे, मम रूप अक्रिय में क्रिया नहीं ॥ २ ॥ सब द्वैत अद्वैत मिटा झगड़ा, अपने में बना न कछू बिगड़ा। भ्रम भेद का डार दिया पगड़ा, सब वेद किताब की बात वही ॥३॥ नहीं सूक्ष्म स्थूल अरु मूल नहीं, उस गुप्त गली में तो भूल नहीं। वहाँ पुन्य अरु पाप की शूल नहीं, तहा एक अरु दो का गम्य नहीं ॥ ४ ॥

१४२ कव्वाली

मुझे निद्रा लगी जब सूता परा, उस स्वपने में कोस हजारों फिरा। जब जागि उठा तब देखन लगा, कहिं आया गया न वहां ही परा ॥टेक। जैसे चलते दिशा का भर्म होजाय, जानो पूरब तजकर पश्चिम जाय। जब जानि परी तब क्या विस्माय, जहाँ जाना वहाँ में न भूलजरा ॥१॥ कोई वार कहे कोइ पार कहे, कोइ नदी कहे कोइ धार कहे। कोइ बीच कहे कोइ किनार कहे, बकि बकि कर वृथा हो मूढ मरा ॥२॥कोइ देश कहे परदेश कहे, कोई कोइ शेष कहे, कोई शिवजी कहे कोई महेश कहे, नामों का भेद कोई जीव बाकी कहे है वस्तु खरा ॥३॥ तैसे आतम एक ही नाम घने, कहै कोइ ब्रह्म भने। सब भेद उपाधि कृत ही बने, सो न आता न जाता न जन्मा मरा ॥ ४ ॥

१४३ कव्वाली

जैसे अन्धकार में रज्जू परी, तिसे देख अहो का भरम हुआ। जब दीपक लेकर देख लई, तब रज्जु की रज्जु ही सर्प गया ॥ टेक ॥

जैसे आतम अकरता शुद्ध सदा, अज्ञान से मानत करता जुदा, गुरु वेद से करतेद भेद विदुषा, तब एक अद्वैत न अन्या मुवा ॥१॥ जैसे सीपी में रूपा प्रकाशत है, तैसे आतम में जग भासत है। अधिष्ठान ज्ञान ते नाशत है, सो तीनों ही काल में मूठा कहा ॥२॥ जैसे नाभि कमल कस्तूरी अहे यह मूरख मिरग दूर चहे। तैस आपही चेतन शुद्ध यहे जाने खोजि रहा सोवे नाहिं कुमा ॥ ३ ॥ जिस आनन्द की बुद्धि चाह हुई, ते शुद्धानंद शुद्ध आप सही, द्वैत बिना क्षलेश नहीं, मन में विचारे न टेरि कहा ॥ ४ ॥

१४४ क़व्वाली

हम जाहिर पुकारि पुकारी कहे, जिस पर भी समाप्त नहीं जुदा। जुग जुग मन्वन्तर कल्प कल्प, कहते आये हम एक सदा ॥ टेक ॥ नहीं त्यागे करम सदा करता। जिनके बसि है जनम मरता ॥ जिस बोझे को सिर पर धरता। फिरता कर्मों को लाद लदा ॥ १ ॥ हमन बहुतहिं समझाय दिया। गुरु पारस वैसाही किया ॥ इन कामादिक को जाय लिया। समझे नहीं मस्त वैसाही गधा ॥ २ ॥ हम तत्त्वमसि स आदि कहे। जाने खोजि जिस ताके पाप दहे ॥ सो भवसागर में नाहिं बहे। जान आन तत्त्व दोनों परा ॥ ३ ॥ जिन माया अविद्या को दूरि किया। सब धर्म तिनोंका पूर किया। इस वाच्य अरथ का पूर किया। पाया शुद्ध स्वरूप सब दुःख जुदा ॥ ४ ॥

१४५ क़व्वाली

जिन आतम तत्त्व विचार लियो। तिन और विचार कियो न कियो॥ जो जीवन मुक्त भये जग में वोह बहुते काल जियो न जियो॥ टेक॥ झूंठे धन हेत उपाय किया। चलती वर पैसा न एक लिया, जिन आतम धन को त्याग दिया। तो लियाकि लियाकि लिया के लिया॥ १॥ धन दान किया बड़ा मान लिया। ईश्वर का नाम कभी न लिया॥ जो कर्म किया सह काम किया। तो किया कि किया कि किया के किया॥ २॥ पिवे गांजा चरस और भांग कहीं। कहीं पीवे शराबरु दूध दही॥ जब प्याला अमीरस नाहीं पिया। तो पिया के पिया के पिया के पिया॥२॥ कभी स्याल हुया कभी शेर हुया। यज्ञादिक करकर देव हुआ॥ मानुष तन पाकर फेरि मुया। तो हुया कि हुया कि हुया के हुया॥ ४॥ कभी नीच कर्म करि गधा हुया। योगादिक करकर सिद्ध हुया॥ नर का तन पाकर फेर मुया। तो मुया के मुया के मुया के मुया॥ ५॥ तन तेल फुलेल लगाय लिया। कपड़े तन धोकर पाक हुया॥ नहिं अन्त करन को साफ किया। तो धोया के धोया के धोया के धोया॥ ६॥ जब धाम तजा धन माल खोया। डर डारि सभी वन में सोया॥ वह मूल अज्ञान नहीं खोया। तो खोया के खोया के खोया के खोया॥ ७॥ जब पलंग नेवाड़ पै शयन किया तकियारु विछौना खूब दिया॥ वह गुप्त गलीचा नाहिं किया। तो सोया के सोया के सोया के सोया॥८।

तैसे आतम अकरता शुद्ध सदा, अज्ञान से मानत करता हुआ, पु वेद स कसीरु भेद खिद्या, सब एक अद्वैत म जन्मा हुआ ॥१॥ जैसे सीपी में रूपा प्रकाशत है, तैस आतम में जग भासत है। अभिमान ज्ञान से नाशत है, सो तीनों ही काल में झूठा भया ॥२॥ जैसे नाभि कमल कस्तूरी भई पर मूरख मिरगा दूर कहे। तैसे आपही चेतन शुद्ध मदे आने खोजि रहा सोवे नाहिं छुया ॥ ३ ॥ जिस आनन्द की तुष्टि भाव हुई, गुमानंद शुद्ध आप सही, वेरत बिना समलेरा नहीं, पर मन मिचारे ने टेरि कहा ॥ ४ ॥

१४४ क़व्वाली

हम चारित पुकारि पुकारी कहें, किस पर भी समझत मूढ़ हुरा। युग युग मन्वन्तर कल्प कल्प, कहते आवें हम एक सदा ॥ टेक ॥ नहीं त्याग करम सदा करता। तिनके बंधि में जनमे मरता ॥ किस बोझे को सिर पर धरता। फिरता कर्मों की मार खया ॥ १ ॥ हमन बहुतहि समझाय लिया। गुरु पाकर वैराग्यी किया ॥ इन कामादिक को साथ किया। समझे नहीं मस्त वैसाखी गधा ॥ २ ॥ हम तत्वमसि स आदि कहे। आन खोजि स्थिर ताके पाप रहे ॥ सो भवसागर में नाहिं बहे। जान आने तर्क दोनों पदा ॥ ३ ॥ जिन माया अविद्या को दूरि किया। सब धर्म तिनोंका पूर किया। इस वाच्य अरथ को पूर किया। पाया गुम स्वरूप तब हुए सुखा ॥ ४ ॥

१४५ क़व्वाली

जिन आतम तत्त्व विचार लियो । तिन और विचार कियो न कियो ॥ जो जीवन मुक्त भये जग में वोह वहुते काल जियो न जियो ॥ टेक ॥ झूंठे धन हेत उपाय किया । चलती वर पैसा न एक लिया, जिन आतम धन को त्याग दिया । तो लियाकि लियाकि लिया के लिया ॥ १ ॥ धन दान किया वड़ा मान लिया । ईश्वर का नाम कभी न लिया ॥ जो कर्म किया सह काम किया । तो किया कि किया कि किया के किया ॥ २ ॥ पिवे गांजा चरस और भांग कहीं । कहीं पीवे शरावरु दूध दही ॥ जव प्याला अमीरस नाहीं पिया । तो पिया के पिया के पिया के पिया ॥३॥ कभी स्याल हुया कभी शेर हुया । यज्ञादिक करकर देव हुआ ॥ मानुष तन पाकर फेरि मुया । तो हुया कि हुया कि हुया के हुया ॥ ४ ॥ कभी नीच कर्म करि गधा हुया । योगादिक करकर सिद्ध हुया ॥ नर का तन पाकर फेर मुया । तो मुया के मुया के मुया के मुया ॥ ५ ॥ तन तेल फुलेल लगाय लिया । कपड़े तन धोकर पाक हुया ॥ नहिं अन्त करन को साफ किया । तो धोया के धोया के धोया के धोया ॥ ६ ॥ जव धाम तजा धन माल खोया । डर डारि सभी वन में सोया ॥ वह मूल अज्ञान नहीं खोया । तो खोया के खोया के खोया के खोया ॥ ७ ॥ जव पलंग नेवाड़ पै शयन किया तकियारु विछौना खूव दिया ॥ वह गुप्त गलीचा नाहिं किया । तो सोया के सोया के सोया के सोया ॥८।

दोहा—

करम पराये आप मे, मानत सोइ अज्ञान ।
जिसके हैं तिसके लखैं, सोई ज्ञानी जान ॥
ज्ञान उसी को कहत हैं, सुनियो करके कान ।
जैसी होवे वस्तु को, तैसी लेव जान ॥
जिन पकड़्या है मूल को, शाखा तजी अनेक ।
काम बहुत थोड़ा सरम, करिके देख विवेक ॥
त्याग किया जिन एक का, वस्तू गही अपार ।
ताको एक अनेक नहिं, चाहे जीवो बरस हजार ॥

१४६ क़व्वाली (और प्रकार की)

मजा जग लेवे हैं वोही यार जो हरि नाम कमाने वाले ॥टेक॥ दया करि देवे द्रव्य लुटाय, संग दुरजन का मन से हटाय। संग हरिजन के सो अभिलाष, शुभ गुण ठाठ जमाने वाले ॥१॥ करते कर्म करें निष्काम, करम से जाते सन्त के धाम, रहते सवघट आतमराम, रंग हरिरंग रमाने वाले ॥ २ ॥ विश्व को देखें स्वप्न समान, तन का त्याग किया अभिमान, न करते किसी जीव की हान, मान मद मोह नसाने वाले ॥ ३ ॥ चिन्ता स चिन्ता त्यागी टार, आप खुश रहते हैं हरबार, गुप्त गोविंद भजे बारम्बार, ध्रुव निज रूप समाने वाले ॥ ४ ॥

१४७ क़व्वाली

शिव शिव हर हर को हरबार हर भवपार कमाने वाले ।टेक॥ शिव चिता भस्म है अंग, वाम अर्द्ध है गौरा अरधंग । भाववे चंद

शीश पर गंग, भूषण व्याल हैं काले काले ॥ १ ॥ डमरू तिरशूल लिये झोला, पहिने बांगवर सोला ॥ मुंड रुद्राक्ष सोहे भोला, कि भोला ध्यान लगानेवाले ॥ २ ॥ आपके फुरने का विस्तार, उत्पत्ति पालन और संहार ॥ करता बिनु करता करतार, पीभंग भर्म भगाने वाले ॥ ३ ॥ गुप्त गिरिजापति गिरिजा साथ, बैठे ईश विश्व के नाथ ॥ जिनके सुमिरन से अघजात, ध्रू दे दर्श नंदोगन वाले ॥ ४ ॥

१४८ क़व्वाली

काशी विश्वेश्वर दातार, दाता ज्ञान के देने वाले ॥ टेक ॥ शिव अविनाशी तन में, परकाशत सब के मन में ॥ वही चींटी वही जन में, संग शक्ती के रहने वाले ॥ १ ॥ शिव सर्व रूप होके, अतर बाहर सब देखे ॥ दर्शन भक्तों को देके, पाती बिल्व के लेने वाले ॥ २ ॥ सत् चित आनन्द मायापार, माया कल्पित यह संसार ॥ योगियों का जो तत्व विचार, नौका भक्त की खेने वाले ॥ ३ ॥ अंतर गुप्त ध्यान धारे, शिव संकल्प सभी जारे ॥ केवल मोक्ष मूर्तिवारे । ध्रूमुख आपहि कहने वाले ॥ ४ ॥

१४९ क़व्वाली

बैठे शिव सरूप हो आप, मुक्ती मोज के लेने वाले ॥टेक। संग में शान्ति मुदिता नार, चेतन बोध रहे हर वार ॥ संसृति मूल दिया जिन डार, बानी सत्य कि कहने वाले ॥ १ ॥ जिनने द्वैत किया सब दूर, व्यापक ब्रह्म लखा भरपूर ॥ कीना करता

मति का पूर । ज्ञानी ज्ञान के धन वाले ॥ २ ॥ पंच-भूत तीन-गुन मांहिं, किसी से राग द्वेष कुछ नाहिं ॥ सम दृष्टि सब मांहिं, दोनों ताप मिटाने वाले ॥ ३ ॥ ऐसे आप तिरे तारे, स मिले रहें न्यारे ॥ आपही गुप्त प्रगट सारे, प्रभु निज छपाने वाले ॥ ४ ॥

१५० क़व्वाली

क्या कहें कही ना जाय, रचना अजब रचाने वाले ॥ टेक कीमा सृष्टि का विस्तार, जिसका नहीं वार नहीं पार, जिसमें रहे नर नार, तेरे सब से ढंग निराले ॥ १ ॥ तैने ऐसा बन ख्याल, जिसके परदे भरी कमाल ॥ उसमें कुछ ना रहे संभा भूले चतुर कहाने वाले ॥ २ ॥ कुछ है नाहीं दरसाय, बिन रूप दिखलाय ॥ सबमान सभी भरमाय, बिन बंध छगा वाले ॥ ३ ॥ कोई छाया गहने जाय वो हाथ कभी ना आय प्रभु सुद्ध ही समझ रहजाय यों गुप्त प्रगट भ्रम वाले ॥ ४ ॥

१५१ क़व्वाली

पाय के नर तन ऋतु बसंत, फाग खेलत हैं रोस वाले ॥ टेक ॥ उदय हुये पूरब पिछले भाग जास उपजा वैराग ॥ किया है सभी जगत् का त्याग, राग अरु द्वेष मरा वाले ॥ १ ॥ उपजा स्वयं स्वरूप का ज्ञान, पावें दूरि हुआ अज्ञान छुटे हैं सभी मोह मद मान छुटे अज्ञान भ्रम के तान ॥ २ रहते ब्रह्मानन्द आनन्द, कटे हैं सभी कर्म के फंद ॥ नित्य

पूनम जैसे चंद, दाग सब धोये काले काले ॥ ३ ॥ गुप्त मे रहते हैं गर गाप, जिसमें नहीं जगत का पाप ॥ सदा पूरन हैं आपहि आप, आप मद पी होगये मतवाले ॥ ४ ॥

१५२ क़व्वाली

शुभ कर्म करो निष्काम, राम भजि उतरो भव पारा ॥टेक॥ जिनों को सुमिरा हरि का नाम, उनों के सब सिध होगये काम ॥ लग्या नहिं कौड़ी एक छदाम, छूटि गया सभी कर्म का गारा ॥१। जगत् में पापी तिरे अनेक, लेकर राम नाम की टेक ॥ जिनों को नहिं धारा कोई भेख, नाम नौका चढ़ि उतरे धारा ॥२॥ ररा सब माहीं रमता, ममाकर सब मे ममता ॥ जब भाव उदय हो समता, अपने चित्त में करो विचारा ॥ ३ ॥ गुप्त प्रगट में एकहि जान, सीखले गुप्त गुरु से ज्ञान ॥ अबतो मत ना रहे अजान, मान मद तजिदो सभी विकारा ॥ ४ ॥

१५३ क़व्वाली

भूलि के सत् चित्त आनन्द रूप, पड़ा है जन्म मरण के कूप ॥ टेक ॥ कहत हों तोसों सबही हाल, भर्म का टूटि छाय सब जाल। जरा टुक सुनिये करके ख्याल, तुहीं इस काया माहीं भूप ॥ १ ॥ स्थूल सूक्ष्म जेता विस्तार, सभी रहता तेरे आधार ॥ इनों का आपस में व्यभिचार, तुही तो व्यापि रहा अनुसूत ॥ २ । जन्मता मरता है स्थूल, आप में मानत है यही भूल ॥ इसी से

मति का धूर । ज्ञानी ज्ञान के देने वाले ॥ २ ॥ पंच-भूत तीन-गुन नाहिं, किसी से राग द्वेष कुछ नाहिं ॥ सम दृष्टि सब के माहिं, तीनों ताप मिटाने वाले ॥ ३ ॥ एस आप फिरे चार, सब से मिले रहें न्यारे ॥ आपही गुप्त प्रगट सारे, भू निज ज्ञान जगाने वाले ॥ ४ ॥

१५० क़व्वाली

क्या कहें कही ना जाय, रचना अजब रचाने वाले ॥ टेक ॥ कीना सृष्टि का बिस्तार, जिसका नहीं वार नहीं पार, जिसमें हुए रहे नर नार, तेरे सब से ढंग निराले ॥ १ ॥ तैने ऐसा बनाया ख्याल, जिसके परदे भरी कमाल ॥ उसमें कुछ ना रहे संभाल भूले चतुर सयाने वाले ॥ २ ॥ कुछ है नाहीं सत्यमय, बिन रूप रूप दिखलामय ॥ सबमान सभी भरमाय, बिन बेष स्वांग दिखाने वाले ॥ ३ ॥ कोई आया गहने जाय वो हाथ कभी ना आय ॥ भू खुद ही समझ रहजाय, यों गुप्त प्रगट भय वाले ॥ ४ ॥

१५१ क़व्वाली

पाय के मर तन ऋतु बसंत, फाग खेलत हैं खेलन वाले ॥ टेक ॥ उत्तम हुये पूरन पिछले भाग वासं उपजा है बैराग ॥ किया है सभी जगत् का त्याग, राग अर द्वेष मशान वाले ॥ १ ॥ उपजा स्वयं स्वरूप का ज्ञान, भागें दूरि हुवा अज्ञान ॥ छुटे हैं सभी मोह मद मान, खुले अज्ञान वज्र के ताले ॥ २ ॥ रहवे ब्रह्मानन्द आनन्द, कटे हैं सभी कर्म के फंद ॥ जिस रहे

पूनम जैसे चंद, दाग सब धोये काले काले ॥ ३ ॥ गुप्त में रहते हैं गर गाप, जिसमें नहीं जगत का पाप ॥ सदा पूरन हैं आपहि आप, आप मद पी होगये मतवाले ॥ ४ ॥

१५२ क़व्वाली

शुभ कर्म करो निष्काम, राम भजि उतरो भव पारा ॥टेक॥ जिनों को सुमिरा हरि का नाम, उनो के सब सिध होगये काम ॥ लग्या नहिं कौड़ी एक छदाम, छूटि गया सभी कर्म का गारा ॥१। जगत में पापी तिरे अनेक, लेकर राम नाम की टेक ॥ जिनों को नहि धारा कोई भेख, नाम नौका चढ़ि उतरे धारा ॥२॥ ररा सब माहीं रमता, ममाकर सब में ममता ॥ जब भाव उदय हो समता, अपने चित्त में करो विचारा ॥ ३ ॥ गुप्त प्रगट में एकहि जान, सीखले गुप्त गुरु से ज्ञान ॥ अबतो मत ना रहे अजान, मान मद तजिदो सभी विकारा ॥ ४ ॥

१५३ क़व्वाली

भूलि के सत् चित्त आनन्द रूप, पड़ा है जन्म मरण के कूप ॥ टेक ॥ कहत हों तोसों सबही हाल, भर्म का टूटि छाय सब जाल । जरा टुक सुनिये करके ख्याल, तुहीं इस काया माहीं भूप ॥ १ ॥ स्थूल सूक्ष्म जेता विस्तार, सभी रहता तेरे आधार ॥ इनों का आपस में व्यभिचार, तुही तो व्यापि रहा अनुसूत ॥ २ । जन्मता मरता है स्थूल, आप में मानत है यही भूल ॥ इसी से

सहता है यह शूल, नहीं तुझ में है आया भूप ॥ ३ ॥ तुही है गुप्त रूप निज सार, देह तीनों को जानि विकार ॥ पटक अब इनको शिर से मार, शीत अब क्यों हारत है धूप ॥ ४ ॥

१५४ तरज तान

निरभै हो कर को झारि के, हंस खेल खेल खेल ॥टेक॥ अब गुरु संग को तजना, मत नाम हरि का भजना ॥ कोई मिले आनन्द सजना, तिस मेली से कर मेल मेल मेल ॥१॥ इस अगम् आत को जारो, निज अपना अगम सुधारो ॥ अब मूल अविद्या हारो। कर सबो ज्ञान का खेल खेल खेल ॥२॥ तन मन से हटिउठाओ । निज एक प्रभु में समाओ ॥ सत रूप आपना पावो । अज्ञानादिक दुख को पेल पेल पेल ॥ ३ ॥ यह गुप्तज्ञान गहि राखो ॥ अब स्वाद इसी का चाखो ॥ वासक से बानी भाखो । निज आतम सुख को मस्त मेल मेल ॥ ४ ॥

१५५ तरज तान

इस नर तन को पाय के । कर काज काज काज ॥ टेक ॥ अब काज यही कर लीजे । ईश्वर में चित्त को दीजे ॥ कछु परनों पर नहिं कीजे । शुभ कारज को कर आज आज आज ॥ १ ॥ बहु योनी में फिरि आया । यह नर तन दुरलभ पाया ॥ झूठी है सब ही माया । अब साज भजन का साज साज साज ॥ २ ॥ जिसको मानत है अपना । यह जगत् रैनि का सपना ॥ झूठी है सब ही रचना । इस झूठे जग से भाग भाग भाग ॥ ३ ॥ निज गुप्तरूप

है सच्चा । और सब ही जानो कच्चा ।। स्वपने के बच्चो बच्चा । इस मोह् जाल को त्याज त्याज त्याज ।। ४ ।।

१५६ तरज तान

दिल मे वैराग जँचाय । भजिले राम राम राम ।। टेक ।। तन की ममता तजि दीजे । निष्काम कर्म को कीजे ।। तूं भक्ति सुधारस पीजे । टुक चित अपने को थाम थाम थाम ।।१।। करता हंकार न करिये । निज शुद्धरूप उर धरिये ।। सब पाप इसी से जरिये । तूं पावेगा सुख धाम धाम धाम ।।२।। निश्चय में राम ठहरावो । मन हर्ष शोक मत लावो ।। सब द्वैत भाव छिटकावो । ना लागे इस मे दाम दाम दाम ।।३।। यों निज जन्म सुधारो । अपने को भव से तारो ।। लख गुप्त गर्भ को जारो । ध्रू कर लींजे यह काम काम काम ।।४।।

१५७ तरज तान

क्यों फंसै विषय की जाल । कहना मान मान मान ।। टेक ।। ये विषय सदा दुख रूपा । तिनके संग से भव कूपा ।। यो सतमार कह रूका । मत विषय खाक को छान छान छान ।। १ ।। यह जगत जाल है स्वपना । इस मे नहिं कोई अपना ।। जैसा करना वैसा भरना । सुन कथा लगा कर कान कान कान ।। २ ।। तन से सत सगति करना । मुख से हरि नाम सुमरना ।। मन निजानद में धरना । प्रभू रूप जान जान जान ।। ३ ।। जब गुप्त रूप को पावे । तब माया मळ मिटि जावे ।। नहिं गर्भ वास में आवे । ध्रुव तीर लक्ष में तान तान तान ।। ४ ।।

साहता है बहु शूल, नहीं सुख में है छाया भूप ॥ ३ ॥ सुरी है गुप्त रूप निज सार, देह तीनों को जानि विकार ॥ पटक अब इतना सिर से भार, जीव अब क्यों हारत है सूप ॥ ४ ॥

१५४ तरज तान

निरभै हो कर को हारि के, हंस खल खेल खेल ।टेक॥ अब गुरु संग को लगना, एक नाम हरि का भजना॥ कोई मिले मानस सजना, तिस मेली से कर मेल मेल मेल ॥१॥ इस जगत जाल को टारो, निज अपना जन्म सुधारो ॥ अब मूल अविद्या हारो । कर मज्जे ज्ञान का तेल तेल तेल ॥२॥ तन मन से दृढ़ि ठहरावो । निज पद ब्रह्म में समावो ॥ तब रूप आपना पावो । जन्मादिक दुख को पेल पेल पेल ॥ ३ ॥ यह गुप्तज्ञान गहि राखो ॥ अब सार इसी का चाखो ॥ बालक से बानी भाखो । निज आतम सुख को मल्ल मेल मेल ॥ ४ ॥

१५५ तरज तान

इस नर तन को पाय के । कर काज काज काज ॥ टेक ॥ अब काज यही कर लीजे । ईश्वर में चित्त को दीजे ॥ कल परसों पर नहिं कीजे । शुभ कारज को कर आज आज आज ॥ १ ॥ बहु योनी में फिरि आया । यह नर तन दुरलभ पाया ॥ झूठी है सब ही माया । अब साज भजन का साज साज साज ॥ २ ॥ जिसको मानत है अपना । यह जगत रैनि का सपना ॥ झूठी है सब ही रचना । इस झूठे जग से भाज भाज भाज ॥ ३ ॥ निज गुप्तरूप

१६० तरज तान

सत गुरु के शरन जायके ॥ लखि सैन सैन सैन ॥ टेक ॥ वचनो में श्रद्धा कीजे । सरवन के रस को पीजे ॥ फिर मनन उसी का कीजे । तब पावेगा सुख चैन चैन चैन ॥ १ ॥ गुरु करै ब्रह्म परकासा । जब होय अविद्या नासा ॥ तब मिटै जीव का सांसा रस प्याया अमृत वैन वैन वैन ॥ २ ॥ घट अंदर हुआ उजाला । खुलि गया भरम का ताला ॥ दरियाव मिल्या जिमि नाला । जैसे जल माहीं फेन फेन फेन ॥ ३ ॥ जब गुप्त रूप को जान्या । सब भेद भर्म को भाना ॥ तब लाग्या लक्ष निशाना । ध्रुव विषय करै नहि लैन लैन लैन ॥ ४ ॥

१६१ कक्का बतीसी वैत सेहरफी, कर्म नाशक

(क) काल अरु कर्म नहिं आतमा में । टुक जागि के देख पड़ा क्या सोवे ॥ देश अरु काल लेश नाहिं । सदा एक अखण्ड क्यों खण्ड जोवे ॥ एक शुद्ध परकाश सरूप तेरा । फिर कर्म से कौन का मैल धोवे ॥ गुप्त निरवन्ध सम्बन्ध नाहिं । इस कर्म के जाल क्यो फंसा रोवे ॥१॥

दोहा—

कक्का जारो कर्म को, ज्ञान अग्नि के संग ॥
आतम में किरिया नहीं, पूरण शुद्धअसंग ॥

(ख) खोजि कर देख निज आतमा को । जासे कर्म अरु भर्म का लेश नाहीं ॥ नहीं पंच क्लेश की गंध जामें । सुख रूप पर—

१५८ तरज तान

सत गुरु ने मारा बान । शिष्य के तान तान तान ॥ टेक ॥ सैंनी अब ज्ञान कमाना । फिर छाया शब्द निशाना ॥ सब बींधे मरम स्थाना । भया आप रूप का ज्ञान ज्ञान ज्ञान ॥ १ ॥ शिष्य घायल करके डारा फिर क्या करे वैद बिचारा ॥ कोई मांस काम नहिं फाडी । कोई घायल लेवे जान जान जान ॥ २ ॥ घायल की घायल जाने । दूजा कोई नाहिं पिछाने ॥ जिस तन में लगी कटारी । दुक घरि के दखो ध्यान ध्यान ध्यान ॥ ३ ॥ जब गुप्त रूप को पावे । सब घाव दरद मिटि जावे ॥ शिष्य अपने गुरु से बोला । छुटिगई चौरासी खान खान खान ॥ ४ ॥

१५९ तरज तान

तुझ में ना मैला पाप । तुइ तो साफ साफ साफ ॥ टेक ॥ अब भाव मिटावो दूजा । किसकी करे हेवा पूजा ॥ जब पक नहिं रूप सूम्ह फिर किसका करता आप जाप आप ॥ १ ॥ स्वप्ने में दखी जैसा । इसको भी जानों वैसा ॥ कोई कोडी लगे न पैसा । अब तीनों काल में आप आप आप ॥ २ ॥ मत रचना मूठी रचना । क्यों को मानत अपना ॥ पर धर्म आप क्यों रचना । इसस नहिं आगे पाप पाप पाप ॥ ३ ॥ जब गुप्त गली में आवे ॥ तब गुप्त भेद को पावे । सब मर्म कर्म झडि जावे । झुव करै कौन का ताप ताप ताप ॥ ४ ॥

१६० तरज तान

सत गुरु के शरन जायके ॥ लखि सैन सैन सैन ॥ टेक ॥ बचनों में श्रद्धा कीजे । सरवन के रस को पीजे ॥ फिर मनन उसी का कीजे । तब पावेगा सुख चैन चैन चैन ॥ १ ॥ गुरु करै ब्रह्म परकासा । जब होय अविद्या नासा ॥ तब मिटै जीव का सांसा रस प्याया अमृत बैन बैन बैन ॥ २ ॥ घट अंदर हुआ उजाला । खुलि गया भरम का ताला ॥ दरियाव मिल्या जिमि नाला । जैसे जल माहीं फेन फेन फेन ॥ ३ ॥ जब गुप्त रूप को जान्या । सब भेद भर्म को भाना ॥ तब लाग्या लक्ष निशाना । ध्रुव विषय करै नहिं नैन नैन नैन ॥ ४ ॥

१६१ कक्का बतीसी वैत सेहरफी, कर्म नाशक

(क) काल अरु कर्म नहिं आतमा में । टुक जागि के देख पड़ा क्या सोवे ॥ देश अरु काल लेश नाहिं । सदा एक अखंड क्यों खंड जोवे ॥ एक शुद्ध परकाश सरूप तेरा । फिर कर्म से कौन का मैल धोवे ॥ गुप्त निरबन्ध सम्बन्ध नाहिं । इस कर्म के जाल क्यों फंसा रोवे ॥१॥

दोहा—

कका जारो कर्म को, ज्ञान अग्नि के संग ॥
आतम में क्रिया नहीं, पूरण शुद्ध असंग ॥

(ख) खोजि कर देख निज आतमा को । जामें कर्म अरु भर्म का लेश नाहीं ॥ नहीं पंच क्लेश की गंध जामें । सुख रूप पर-

१५८ तरज तान

मत गुरु ने मारा बान। शिष्य के तान तान तान ॥ टेक ॥ सैंधी जब ज्ञान कमाना। फिर आया मगन निशाना ॥ सब कीरे मरम स्थाना। भया आप रूप का ज्ञान ज्ञान ज्ञान ॥ १ ॥ मिथ पायल करके डारा फिर क्या कर वैद विचारा ॥ कोई मांस ब्राह्म नहिं फाड़ो। कोइ घायल सब जान जान जान ॥ २ ॥ घायल को घायल जाने। दूजा कोइ नाहिं पिछाने ॥ जिस तन में लगी कटारे। दुक घरि के देखो ध्यान ध्यान ध्यान ॥ ३ ॥ सब गुप्त रूप को पाव। सब घाव दरद मिटि जावे ॥ शिष्य अपन मुक्त स बोध। छुटिगई चौरासी स्थान स्थान स्थान ॥ ४ ॥

१५९ तरज तान

मुझ में ना मैल पाप। तुम तो साफ साफ साफ ॥ टेक ॥ अब भाव मिटाओ दूजा। किसकी करे देवा पूजा ॥ जब एक नहिं रूप सूझा फिर किसका करता जाप जाप जाप ॥१॥ स्वप्ने में दले जैसा। इसको भी जानों तैसा ॥ कोइ कोड़ी लगा न पैसा। सब तीनों काल में आप आप आप ॥ २ ॥ मन रचता झूठी रचना। कोई को मानत अपना ॥ पर धर्म आप क्यों रचना। इससे नहिं लागे पाप पाप पाप ॥ ३ ॥ जब गुप्त गली में आवे ॥ तब गुप्त भेद को पावे। सब मर्म कर्म कहि आवे। भ्रम करै कौन का ताप ताप ताप ॥ ४ ॥

(ङ) गंध अरु रस नहीं रूप जामें । स्पर्श अरु शब्द क्यों पाइयेजी ॥ सोतो शुद्ध सरूप नहीं गंध माया । महत्तत्त्व हंकार क्यों गाइयेजी ॥ जामें जीव अरु ईश की ठौर नाहीं । सोइ आप में आप समाइये जी ॥ गुप्त ज्ञान से देखि जब भेद जाने । ध्रुव अचलहै अचल को पाइयेजी ॥५॥

दोहा—

ङगालिब में गैव है, दीखे सुने अपार ॥
भीतर बाहर एक रस, लिपता नहीं विकार ॥

(च) चमक तेरी का पाय के जी, यह चमकता पिंड ब्रह्माण्ड सारा ॥ जेसे सूर परकाश तें किरन बहु भासती, तिस सूरते नहीं कछु किरन न्यारा ॥ सब जोतिका जोति है आतमा तुह । तुहीं जानता चाँदना अंधियारा ॥ नहीं गैव है गुप्त परकास सब का करे, ध्रुवदेखिये आप मिल्या नहीं न्यारा ॥६॥

दोहा—

चचा चामरु हाड़ को, करता है परकास ॥
दमक पड़ी कूटस्थ की, जिसे कहे जीव आभास ॥

(छ) छार में लाल मिलि रहा प्यारे, तिस छानि के लाल को काढ़ि लीजे । अब गुरु वेद को करो छांणि, धी छानने वाली को लाय दीजे ॥ पंच कोष वपु तीन ये छार सब ही लख, शुद्ध रूप निज आतमा लाल लीजे ॥ सोइ गुप्त अतोल नहीं मोल जाका, ध्रुव कौन बजार मोल कीजे ॥ ७ ॥

काश एस आप याहीं ॥ कोइ आमव स्वप्न नहिं नींद जामें । नी विरव वैभव प्राप्त याहीं । गुमानन्द आनन्द घू अचल है तू । जामें चौथि अरु पंचमी नाहिं कहीं ॥२॥

दोहा—

आप्पा खोउया आपको, तीन देह क माहिं ॥
कर्त्ता किरिया कर्म सब, कुच भी पाया नाहिं ॥

(ग) ज्ञान परताप पावे आप ताहि । नहिं और प्रकार का ५प छूटे ॥ चहे कम उपासना क्षम कीजे । कहीं जायगा वहीं अज्ञान छूटे ॥ यही ज्ञान स्वरूप पिछानियाजी जब द्वैत अद्वैत का मर्म टूटे ॥ गुप्त रूप है आप अनूप प्यारे । भुम पाप के बन्धन यह मौत छूटे ॥ ३ ॥

दोहा—

गगा गुरु भव तरन में, और न कोई उपाव ॥
छांडो किरिया कीचको, यक चढ़ा ज्ञान की नाव ॥

(घ) कोजि घर माहिं क्यों बाहर जाव, गुरु वेद से बार तहकीक कीजे । सोवत कीजिय काय के मारिफों की । मन वचन अरु देह से प्रीति कीजे ॥ नैन से वैन से सैन से परखि कर। अपने चित्त में जानि लीजै । है गुप्त प्रगट तुही यक व्यापक सदा। मृगानि के रूपअज्ञान कीजे ॥ ४ ॥

दोहा—

घघा घर घर में रमा, सत चित आनन्द रूप ॥
एक बन्या भरमत फिरे, तुहिं भूपन का भूप ॥

जी ।। चहे रंग राग सुन बाग माहीं, चहे राग वैराग को त्यागिये जी ।। जब जानिया गुप्त तब मुक्त जीवन हुये, ध्रू खेल या खेलिना लीजियेजी ।। १० ।।

दोहा—

ञञा याके बीच में, तुँह तो रहे असंग ।।
जैसे काली कामली, चढ़े न दूजा रंग ।।

(ट) टारिके मूल अज्ञान सोये, फेरि तू ल से कौनसा काज बिगड़े ।। जैसे स्वप्न मँझार भये शत्रु अरु यार, खुलै आंख तब मित्र कहाँ शत्रु झगड़े ।। जैसे भीति के शेर से भीति नहिं होत है, नहीं चित्र की आगि से तिमिर निवड़े ।। गुप्त में जगत अरु जगत में गुप्त है, ध्रू जगत के माहिं फेरि कौन रवडे ।। ११ ।

दोहा—

टटा टाटी भरम की, सतगुरु दई उड़ाय ।।
दरसाया निज आतमा, पूरण अचल सुभाय ।।

(ठ) ठीक ठिकाने को पाय के जी, फेरि उलटि अरु पलटि के नहीं आना ।। उस धाम के गाम में हाड़ अरु चाम नाहीं, पैर से गमन कर नहीं जाना ।। घट फूटि के घट आकास जैसे, महाकाश में आगवन गवन भाना ।। एक गुप्त सरूप अनूप वह धाम लखि ध्रुव वाच्य को त्यागि के लक्ष जाना ।। १२ ।।

दोहा—

ठठा ठाकुर जगत में, जा ठाठे निज रूप ।।
लक्ष राखि निज आपको, वाच्य फटकि दिया सूप ।।

जी ।। चहे रंग राग सुन वाग माहीं, चढ़े राग वेराग को त्यागिये जी ।। जव जानिया गुप्त तव मुक्त जीवन हुये, ध्रू खेल या खेलिना लीजियेजी ।। १० ।।

दोहा—

ञञा याके बीच में, तुँह तो रहे असंग ॥
जैसे काली कामली, चढ़े न दूजा रंग ॥

(ट) टारिके मूल अज्ञान सोये, फेरि तू ल से कौनसा काज विगड़े ।। जैसे स्वप्न मँझार भये शत्रु अरु यार, खुलै आंख तव मित्र कहाँ शत्रु झगड़े ।। जैसे भीति के शेर से भीति नहिं होत है, नहीं चित्र की आगि से तिमिर निवड़े ।। गुप्त में जगत अरु जगत में गुप्त है, ध्रू जगत के माहिं फेरि कौन खवडे ।। ११ ।

दोहा—

टटा टाटी भरम की, सतगुरु दई उढ़ाय ॥
दरसाया निज आतमा, पूरण अचल सुभाय ॥

(ठ) ठीक ठिकाने को पाय के जी, फेरि उलटि अरु पलटि के नहीं आना ।। उस धाम के गाम में हाड़ अरु चाम नाहीं, पैर से गमन कर नहीं जाना ।। घट फूटि के घट आकास जैसे, महाकाश में आगवन गवन भाना ।। एक गुप्त सरूप अनूप वह धाम लखि ध्रुव वाच्य को त्यागि के लक्ष जाना ।। १२ ।।

दोहा—

ठठा ठाकुर जगत में, जा ठाठे निज रूप ॥
लच्च राखि निज आपको, वाच्य फटकि दियासूप ॥

(ड) हारि के मूल अज्ञान को भी, जिस मूल को जानि छीजै ॥ जिस मूल में डार अरु फूल सब ही रहैं, सो सदा अक्षर है नाहिं कीजै ॥ सोवो आपना आप है आप किसका करै, तोहि कुछर अज्ञान यह राह लीजै ॥ इस गुप्त गलियार में जगत नाहीं, मूल जानिके मूर्ख फरि क्या कीजै ॥ १३ ॥

दोहा—

सदा सब हर हारिके, निरभय होकर सोय ॥
मूल तूल का मूल निज, खिया आपको जोय ॥

(ढ) हारि के पास जग चौपड़े पे, गुण तीन से आपको जुदा करना ॥ सब जन्म अरु मरन गुण तीन में हैं तीनों कर्म अरु बन्ध नहीं मोक्ष फुरना ॥ गज तीन के पास को छाड़ दीजै, अब गेरि पौबार नहीं जन्म मरना ॥ है गुप्त सब ठौर कहाँ जावे दौरि के, मूज्ञान अरु ध्यान को क्या करना ॥१४।

दोहा—

सदा होव भड़ाय के, कहे वेद दिन रात ॥
गुण क्रिया सम्बन्ध से, आतम सदा अजात ॥

(ण) अणु अरु महान् नहीं आतमा में तिसे अणु महान् यह वेद गावे ॥ तिस वेद के भेद को समझि प्यारे, तिसे जानि सूक्ष्म यह सैन लखे ॥ फेरि एक अरु दोम नहीं भना थोरा, नहीं आप अनाप को बतलावे ॥ है गुप्त गुलजार कछु पार नाहीं भूलकि कहि आपही नित गावे ॥ १५ ॥

दोहा—

णणा लेन देन न जासमें, खान पान नहिं कोय ॥
फेन तरंग अरु बुदबुदा, भिन्न नहीं कछु तोय ॥

(त) त्यागि के राग को जागि देखो, जामे दोष अरु रोष को लेश नाहीं ॥ सो तुह आप निरवाण नहीं वाण माया, टुक समझि के देखिये आप ताहीं ॥ और लाख उपाव नहीं पाक होवे, तोमें शुद्ध अशुद्ध नहीं मैल काही ॥ तुही गुप्त परकास फेरि आस किसकी करै, ध्रुवज्ञान अरु ध्यान नहीं परे छांहीं ॥ १६ ॥

दोहा—

तता तोड़ी जगत से, नाता सभी बहाय ॥
तुही एक भरपूर है, दूजा भाव उठाय ॥

(थ) थाप अथप नहीं आतमा में, कोई जाप अरु ताप का नहीं रासा ॥ पुन्य अरु पाप नहीं साफ असाफ नहीं, नहीं राग अरु दोष का पड़ा फासा ॥ उल्लू लाख और हजार बेकार कल्पै, नहीं सूर में अन्ध अरु उजियासा ॥ गुप्त निरवयव में अवयव का लेश ना, ध्रू खोजि के देख होवे हुलासा ॥ १७ ॥

दोहा—

थथा थाके उरे में, मन बुद्धि चित हंकार ॥
पैंड़ी पंथ न पग टिके, निराकार आकार ॥

(द) दूरि तें दूरि कह आतमा को, सो तो आपना नूर नहीं दूर नेरा ॥ जैसे उल्लू की आखी के दोष बल से, परकाशता सूर

कहीं से अंधेरा ॥ वैसे मल विक्षेप अंतर पड़ा जीव के, सोभास अरु कर्म स्वभाव घेरा ॥ है आप अपार नहीं पारै वारा जिसे, भ्रुगुम न पिंड ब्रह्मांड डेरा ॥ १८ ॥

दोहा—

दवा दिल के बीच में, उमंगि रहा दरियाव ॥
मन मलाह चलावता, बलती बुद्धि नाव ॥

(घ) धारना ध्यान को दूरि कीजे, तुही एक अखंड विराजता है। यम नियम आसन क्यों प्राण खेंचे, करे नेती अरु धोती नहीं छाजता है। आतम नित प्राप्त सब रहित किया निरवयव में कर्म क्यों साजता है। निज रूप में योग का रोग झूठ, भ्रु आप असंग क्यों भाजता है ॥ १९ ॥

दोहा—

घघा घन घट में घमा, समझत नाहीं मूढ ॥
योग कर्म में ढूंढता, आतम रहे अगूढ ॥

(न) नाम अरु रूप नहीं आतमा में, फेरि अस्ती अरु भाती को क्या कहिये ॥ इस रमज को समझि समझावते हैं, नाम अंत तरु नाम कोई नहीं पाइये ॥ कोई वाच्य अरु लक्ष नहीं दृष्ट आवे सो तुही लक्ष का लक्ष फेरि क्या चहिये ॥ है गुप्त सरूप सब ठौर व्यापक भ्रु इसमे वास्ते कहाँ जइये ॥ २० ॥

दोहा—

नना न्यारा मांहिं नहीं, व्यापक ब्रह्म सरूप ॥
जो समझै इस रमज को, तेज परे भव कूप ॥

(प) पायके आपने आपको जी, और पावने योग्य कोई नहीं दूजा ॥ ज्ञान अरु ध्यान फेर कौन का कीजिये, धूप अरु दीप करे कौन पूजा ॥ वह एक अखंड नहीं खंड जामें, जब पिंड ब्रह्मंड मे एक सूझा ॥ गुप्त ज्ञान को पाय मस्तान हुवे, ध्रूजानि यह मर्म सब कर्म छीजा ॥ २१ ॥

दोहा—

पपा पाप न पुन्य है, निज आतम के माहिं ॥
लाभ हानि जामें नहीं, अगम अगोचर ठाहिं ॥

(फ) फेर है आपको भूल माहीं, तिस भूल के मूल का खोज करना ॥ भूल निज आपको शूल बहुते सहे, याते लोक परलोक में गमन करना ॥ करै पुन्य अरु पाप को दुःख सुख भोगता, फेरि गर्भ की अग्नि के माहि जरना ॥ तजे कर्म हकार उद्धार होवे, जपे गुप्त गोविंद ध्रुव होय तरना ॥ २२ ॥

दोहा—

फफा फारिग होत है, कर्म करै निष्काम ॥
छूटे मल विक्षेप सब, दिल में होय अराम ॥

(ब) ब्रम्हसरूप निज आतमा है, तिस आतमा से नहीं ब्रम्ह न्यारा ॥ मिले नीर अरु क्षीर कोई धीर जाने, हैं एक में एक सब भेद जारा ॥ घटाकाश महाकाश का टूक नाहिं, घटाकाश से नहीं महाकाश भारा वहीं गुप्त प्रगट निज आपना आप है ध्रुव भेद को छेद हल का न भारा ॥ २३ ॥

दोहा—

ममा बाहर अंतर में, ब्रह्म आतमा एक ॥
जैसे फूटे कांच के, टूक टूक में देख ॥

(म) मर्म के मार को सारिये जी, तिस मार को मार बड़े भ्रम पाया ॥ तीन देह अरु पंच ही कोष य मार है, माना भारको सिर भरु प्राण काया ॥ तुह तो शुद्ध सरूप परकाश सबका करे, इस वहम में थई को क्यों बड़ाया ॥ गुप्त में मुक्ती भरु अगत का मूल नहीं भूपंथ का मूल अज्ञान छाया ॥ २४ ॥

दोहा—

ममा मार बतार के, बैठो सतसंग मांहि ॥
पानी पियो विचार का, सर्म रहे कोई नांहि ॥

(म) मान तरु तान के मांहि भूला, नहीं मान अरु तान का लेश कोई ॥ किसी भेष भरु मजहब को रेख जामें नहीं, ऐसा जानि निज रूप है आप सोई ॥ जो तुही सदा अरूप सरूप होय दरशता, नहीं दरशन हार सरूप होई ॥ ऐसे गुप्त अपार दरियाव माहीं, भू खेर के अहर नहीं जाय तोई ॥ २५ ॥

दोहा—

ममा माया रूप है, कीजे सुनिये सोय ॥
तुह सदा न्यारा रहे, दरसरूप नहिं होय ॥

(म) मार बही दिलदार मेरा, जो सार असार बतलावता है ॥ इस दृश्य असार को दूरि करके निज आप दृग बतलावता है ॥

सब जन्म अरु कर्म गुण दोष जेते, इन से रहित निज रूप लखावता है। ध्रुव ज्ञान अरु ध्यान को युक्ति सबही कहे, छूटा चाम गुप्त गांम बसावता है ॥ २६ ॥

दोहा—

यया यार लखावते, निज आतम का धाम ॥
छोड़ि चाम के राग को, करो धाम विसराम ॥

(र) रमा सब ठौर में सर्व सोई, तिस सर्व से नहीं जड़ वर्ग न्यारा ॥ वैसे दूध में घृत अरु तिलों में तेल है, जल पिंड से नहीं कछु जुदा खारा ॥ रक अरु राव फकीर मीर में, ऊँच अरु नीच में एक सारा ॥ गुप्त प्रगट में ध्रु अरु अचल में, नहिं आप से मिला कोई जुदा पारा ॥ २७ ॥

दोहा—

ररा रंग लागे नहीं। रहता सदा असंग ॥
सब विकार से रहित है, उत्पति पालन भंग ॥

(ल) लक्ष अलक्ष कोई दक्ष जाने, निज आपने माहिं नहिं पावता है ॥ स्थान अरु पान नित ध्यान धरता, नहिं सोवता जागता धावता है ॥ कोई जीव अरु ईश अज्ञान नाहीं, जब ज्ञान शमशेर हलावता है ॥ ऐसा गुप्त निज आप नहीं माप अमाप ध्रुव जाप अजाप नहिं पावता है ॥ २८ ॥

दोहा—

लला लाख किरोड की, पल में होवे राख ॥
निज आतम अज्ञान तें, करै झूट परलाप ॥

(च) कहा है तुरी तुक सही कीजै, जैसे स्वप्न के मांहि नहिं और पूजा ॥ स्वप्न के देव की सेव बहु करते हैं, मुझे मोहि अब देव और नहीं सूझा ॥ तैसे आप में पुन्य अरु पाप को कल्पिकर बना देव का दास करे सेव पूजा ॥ उस गुप्त गलियार में देव पूजा नहीं ध्रुव एक आप है कोई नाहिं दूजा ॥ २९ ॥

दोहा—

प वा वाही को पम्य है, देव करते निज आप ॥
देवदास झगड़ा चुका, तब मिटा भेद का पाप ॥

(छ) स्वप्न समान जहान सारा, नाना रंग सरूप होय भासता है ॥ कहीं चतुर सुजान होके रचे जगत् को, कहिं पाल संहार कर नासता है ॥ निज गुप्त सरूप अनूप मांहीं, ध्रुव आपको रूप प्रकासता है ३० ॥

दोहा—

यथा सकल शरीर में, करै आप परकाश ॥
ब्रह्मरूप कूटस्थ तुइ, नहीं जीव आभास ॥

(ज) खान अरु पान के बीच मांहीं, पड़ा सोवता आपको नाहिं जाने ॥ वाच्य अरु लक्ष की खबर मांहीं, तिस वाच्य के धर्म को आप माने । वाच्य अरु वाचक का धर्म तोमें नहीं, लक्ष तुरा आप क्या-ना पिछाने ॥ सो गुप्त चेतन है सार सूरों, असार जड़ दर पुरुष धर्म मान ॥ ३१ ॥

दोहा—

पषा खाली मत रहो, भरो ब्रह्म निज खेप ॥
करि भक्ती कर्म निष्काम हो, तब छूटे मल विक्षेप ॥

(स) सेर का साजकर स्याल क्यों होत है, उस काल का गाज पड़ि रहा भारी ॥ जँह स्याल का भाव तहैं काल का दाव है, मुख मारि चपेट बड़ी करै ख्वारी ॥ वल आपना हेर तुह शेर है केसरी, काल पींजरा तोडि करि मोक्ष त्यारी ॥ गुप्त आतमा ब्रह्म सरूप जानो, ध्रु जानि के काल शिर थाप भारी ॥ ३२ ॥

दोहा—

ममा साँई आप तुह, बनि रहा भूलमें जीव ॥
जब गुरु वेद वल पायके, समभ आपको सीव ॥

(ह) हेरिया आप तव ताप त्रय साफ होय, न्हाय ज्ञान के नीर अज्ञान धोया ॥ लोक अरु वेद ये मैल, माया छुटा, निज शुद्ध सरूप मन तार पोया। तिस तार से सारका सार जान्या, निज सार को पाय असार खोया ॥ गुप्त मे गुप्त अरु जगत सारा बसे, ध्रुआप में आप सुख संग सोया ॥ ३३ ॥

दोहा—

हहा हेय न ग्रहण है, नाकोइ काज अकाज ॥
लोक वेद अरु भेद नहीं, नाकोई लाज अलाज ॥

(क्ष) क्षोभ अरु लोभ अलोभ सारे, मृग नीर ज्यों धीर को भासता है ॥ मन रूप तो आपना ... भर्म

सोरठा—

कका वर्ण षत्तीस, चाल मेहरफो बैतको ॥
लिखे छन्द छत्तीस, पिखो सजन अति प्रीतियुत ॥

१६२ ग़ज़ल (हक़ीकी)

छोड सब मिलन की आसा, कहां पर मिलोगे जाई ॥ मिलन को काई नहीं दूजा, बात यह समझजे भाई ॥ टेक ॥ मिलन सब द्वैत माहीं है, वहां पर द्वैत नहीं राई ॥ हमीं नहिं कहत हैं प्यारे, बात यह वेद ने गाई ॥१॥ तुझे यह भर्म कर भासी, जो चित में है चपलताई ॥ क्रिय शक्ती नहीं जिसमे, ज्ञानशक्ती ही बतलाई ॥२ करो टुक विचार बल का जोर, न पावे ठुंठ माहीं चोर ॥ समझ तुझ से नहीं कछु और, तेरा यह भर्म दुखदाई ॥३॥ छोड़ सब भर्म का आजार, तेरा है रूप अपरपार ॥ समझले गुप्त की ये यार, तुझे ये सैन बतलाई ॥ ४ ॥

१६३ ग़ज़ल

स्वर्ग पाताल अन्तर में, यह कुछ आपहि निहारा है ॥ अर्ध औऊर्ध दश हूं दिशि, यह कुल मेरा पसारा है । टेक । मैं ही दो दोन में रहता, न मुझ से कुछ नियारा है ॥ मैं ही सब ठौर में व्यापक, नहीं कुछ वार पारा है ॥१॥ मैं ही रचता हूँ कुल ब्रह्मांड, मैं ही करता हूँ संहारा ॥ मिल्या ज्यों दूध माहीं घी, सभी वह एक सारा है । २॥ रच्या यह ख्याल मुझही को, सभी मेरे अधारा

छ्जासता है ॥ जाने मर्म को मर्म जब मर्म नहीं होय है, सब आपना आप हुलासता है ॥ गुप्त है भू अरु भू ही गुप्त है, प्रगट होय आप निवासता है ॥ १४ ॥

दोहा—

यथा व्यापा जगत में, व्यापक ब्रह्म सरूप ॥
उपमा दीजै कौनकी, जहँ नहीं रंक नहिं भूप ॥

(त्र) तीनों ही ताप को साफ कीना गुरु ज्ञान कुलैन सब बोरि प्याई ॥ वान्यो अचल निरताप फिर जाप किसका करें, समीवनी मूरि एक घोटि खाई ॥ हर हाल में मस्त हर अकाल में मस्त, हर काल में मस्त एक मस्ती छाई ॥ है गुप्त निर्बंध नहीं मोक्ष सम्बन्ध कोई भू ज्ञान अरु ध्यान की बाट आई ॥ १५ ॥

दोहा—

यथा तीनों काल महिं, नाहीं तीनों ताप ॥
तीन देह नहिं अवस्था, नहिं तीन जीव का पाप ॥

(ज्ञ) ज्ञान का ज्ञान अरु ध्यान का ध्यान है, जान जान जहान सारा ॥ जीव का जीव है सीव का सीव है, ब्रह्म का ब्रह्म वस्तु नाहिं न्यारा ॥ आपना आप है पुन्य नहिं पाप है, जाप अजाप नहीं मधुर खारा ॥ गुप्त से गुप्त प्रगट से प्रगट, भुव से भुव पलख अपारा ॥ १६ ॥

दोहा—

यथा ज्ञान सरूप तें नाहीं रूप अरूप ॥
सो तो अपना आप है, किसकी दीजै रूप ॥

सोरठा—

जिन जान्या निज रूप, पार हुये भव सिंध से ॥
व्यापक ब्रह्म सरुप, छुटि गये यम फंद से ॥

१६५ ग़ज़ल

नहीं तकदीर के आगे,'कोई तदबीर चलती है। करो चहे लाख चतुराई एक दिन मौत गिलती है॥ टेक॥ हुये बड़े सिद्ध अरु स्याने, काल वह दोनो की जाने। चोट लावे थे निशाने, मौत तिनको भी गलती है॥ १॥ वैद धन्वंतरी होई, नहीं जड़ रोग की खोई। कर्म भुगते है सब कोई, ईश नीती न हिलती है॥ २॥ हुये हैं जगत मे औतार, दुःख तिनको सहे अपार। और टारे कौन नर नारि, कर्म की बेलि फलती है॥ ३॥ जिनों को काल वशि कीना,कैद अपनो मे कर लीना। धोखा तिन को भी दे दीना, वक्त पर पड़ी गलती है। ४॥ हुये बाली बली मुक्ते, कि बल वह चौगुना रखते किये हैं काल ने नुकते, अग्नि चहुँ ओर जलती है॥ ५॥ योग को युक्ति को जाने, समाधी काल बहु ठाने, पड़े हैं काल के पाने, पकोड़ा तेल तलती है॥ ६। शीश पर पृथ्वी धरते, उत्पत्ती पाल संहरते। अन्त में वे भी सबी मरते, और की कहा पिलती है॥७॥ गुप्त आतम है अविनाशी, पड़े नहिं काल की फाँसी। काल तीनों में परकाशी, खिलाव्रट तिस से खिलती है॥८।

१६६ ग़ज़ल

लग्या किस ख्याल में खेले, तुझे क्या मस्ती छाई है। काल

है ॥ भरम में भूल मत प्यारे,सभी झूठा पसारा है ॥३॥ मैं ही हूँ सत् चित आनन्द रूप, यह कुछ मालूम भी भारा है ॥ गुप्त मम रूप में देखे, रस्सू से न सर्प न्यारा है ॥४॥

१६४ गजल

बिना निज रूप के ज्ञान नहीं आराम यारो है ॥ मननकर आप को जानो, तभी छूटे बिमारी है । टेक॥ आपको मानना करता इसी से दुःख को धरता ॥ तभी फिर जन्मता मरता, भरम का फेर भारी है ॥१। जीवकर आप को माने, पड़े फेर फंद के खान॥ छाया है अंधो को जाने,भोगता बहुत ख्वारी है॥२॥ बड़या अज्ञान का आजार, घस्या भ्रम देह का सिर भार ॥ धाम में फँसि हुआ बमार, चाह घर में बमारी है ॥३॥ लेवे सतसंगती की आर, खोजे किसी मुरशिद की घोर ॥ तभी सब दूर होवे खोट, रेख कर्मों की भारी है ॥४॥ हरी की भक्ती को धारे, मीन से रूप क्त हारे ।। पाप सब जन्म के हरे, होय सुख अपारी है । ५॥ सुन सत् गुरु के मुख स ज्ञान रात दिन करे तिसी का ध्यान ॥ तभी छूटे सभी मद मान, अविद्या ठोक डारी है ॥६॥ बजे अब ज्ञान के बाजे भ्रम अरु काम सब भाजे ॥ तोख संतोप आगाज, ज्ञान की महिमा न्यारी है ॥७॥ भारी गुरु ज्ञान की गुप्ती, पढ़ी है हाथ कर मुक्ती ॥ रही नहीं जनम की खाती, तभी होव सुखारी है ॥ ८ ॥

सोरठा—

जिन जान्या निज रूप, पार हुये भव सिंध से ॥
व्यापक ब्रह्म सरूप, छुटि गये यम फंद से ॥

१६५ ग़ज़ल

नहीं तकदीर के आगे, कोई तदबीर चलती है। करो चहे लाख चतुराई एक दिन मौत गिलती है॥ टेक॥ हुये बड़े सिद्ध अरु स्याने, काल वह दोनों को जाने। चोट लावे थे निशाने, मौत तिनको भी गलती है॥ १॥ वैद धन्वंतरी होई, नही जड़ रोग की खोई। कर्म भुगते है सब कोई, ईश नीतो न हिलती है॥ २॥ हुये हैं जगत में ओतार, दु:ख तिनको सहे अपार। और टारे कौन नर नारि, कर्म की बेलि फलती है॥ ३॥ जिनों को काल वशि कीना, कैद अपनो में कर लीना। धोखा तिन को भो दे दीना, वक्त पर पड़ी गलती है। ४॥ हुये बाली बली मुक्ते, कि बल वह चौगुना रखते किये हैं काल ने नुकते, अग्नि चहुँ ओर जलती है॥ ५॥ योग को युक्ति को जाने, समाधी काल वहु ठाने, पड़े हैं काल के पाने, पकोड़ा तेल तलती है॥ ६। शीश पर पृथ्वी धरते, उत्पत्ती पाल संहरते। अन्त मे वे भी सबी मरते, और की कहा पिलती है॥७॥ गुप्त आतम है अविनाशी, पडे नहिं काल की फाँसी। काल तीनों में परकाशी, खिलावट तिस से खिलती है॥८।

१६६ ग़ज़ल

लग्या किस ख्याल में खेले, तुझे क्या मस्ती छाई है। काल

का छुटि गया गोळा, तोप तेरे सिर पे छाई है ॥ टेक ॥ करें कस्पान्त का अभिमान, सुबह वा शाम का महिमान । तेरा तो क्या है अपमान, बड़ों पर मात आई है ॥ १ ॥ बचे नहिं रानी और राजा, सभी है काल का खाजा । बजे तिहुँलोक में बाजा, फिरी जिस की दुहाई ॥ २ ॥ लोक अरु लोकों के पाली, करत है सबहिं को खाली । संग में रहती है काली, करे सब की सफाई है ॥३॥ खेल की बाजी जिन छाई, जगत चौपर को बिछवाई दिशा है चार परवाई पासा अहर्निशि बनाई है ॥४॥ चार खानो सभी गोटा तिर्नो पर मारते चोटा । बचत नहिं छोटा अरु मोटा, चरनी सब की बनाई है ॥ ५ ॥ काल से सभी बचता है, रूप अपने में जँचता है । नहीं उसे काल का भय, भक्तिया जो बढ़ाई है ॥६॥ किया कर्मो का जिस ने चूर, छपया है आप को भरपूर । बरसता जिन के मुख पर नूर सुकृत जिसको कमाई है ॥ ७ ॥ काल परपट को खाता है, गुप्त दूंढा न पाता है, वेद सूक्ष्म बताता है, सैन गुरु को सुनाई है ॥८॥

१६७ भजन

गती है कर्म की टेढ़ी बिना भोग न भगती है । अकाल कोई काम नहीं देती, वखत पर आय लगती है ॥ टेक ॥ धर्म नीति को पहचाने, भविष्यत् काल की जाने । पकड़ि के तिनको भी ताने, सभी के पीछ लग्गी है । १ ॥ हुये नल, राम स आदि, युधिष्ठिर

धर्म के वादी। करैं क्या तिलक अरु गांधी, तिनों की क्याहि शक्ती है ॥२॥ भावी को जानते भीषम, अकल जिनकी नहीं कुछ कम। पड़ा है तिनको आके गम, सदा ज्यो व्याघ्र तकती है ॥३॥ गुप्त आत्मा रहे निरबन्ध, नहीं कोई कर्म का है फंद ॥ सदा वह रहता है आनन्द, भमं से पड़ी गलती है ॥४॥

सोरठा—

जिनको कहैं अवतार, भार उतारे जगत का ।
तिन पर भी पड़ी मार, और किसी की क्या चले ॥
बचा न तिस तें कोय, होनहार बलवान है ।
निज पद सुर्त समोय, जिस करके कारज सरे ॥

१६८ ग़ज़ल

दशहरा देखलो दिल में, नेम के नेवरते करके। शील संतोष को धारो, काम अरु क्रोध परिहर के ॥ टेक ॥ जगत से नाता सब तोडो चढो अब ज्ञान के घोड़े। निशाना नेम का जोड़ो, लगा हरि हाथ पे धरिके। १॥ सभी शुभगुन के ले हथियार, करो अब दुश्मनों पै वार। लगावो एक हरि से तार, लड़ो इस मोरचे झरिके ॥२॥ जूझते सूरमे रणमें, मरन का शोच नहीं मन में। नहीं अभिमान है तन में, हटे संग्राम से मरिके ॥३॥ शूर क्षत्री वहो जग में, चलत है वेद के मग में। आस नहीं करत है सगमें, वही दिखलाता है तिरके ॥६। छुट्या है ज्ञान का गोला,

पक्षा अज्ञान का ढोला ॥ किया दुश्मन का सिर फोका, मारया तोप भरभर के ॥५॥ गुप्त नहीं धम क्षत्री के कहे हैं गीता में नीके । कायरों को हमें फोके, भागते रणसे हरि हरिके । ६॥

१६६ गजल

मुझे जग खोज लिया सारा, ख्याउ घट माहिं पाया है । फिरा वन परवतों माहीं, पता नहीं जिसका छाया है ॥टेक॥ मिले जब सत् गुरू पूरे, अलख का भेद आया है । गिरेह को खोलकर परखा, तभी आनन्द छाया है ॥१॥ भये धनवान तब ही से, कमी मय माल पाया है ॥ दरिद्र दुःख सब नासे, कंगालो को बहाया है ॥२॥ निरखि तिस ख्याउ की छवि को, न दूजा और पाया है ॥ और सबाही ज्यो मकडी, असली घट में ठहराया है ॥३॥ जिस हम जानते थे दूर, वो पाया सबहि में भरपूर ॥ परें अब मौज अपनी में, गुप्त ने ऐसे गाया है ॥४।

१७० गजल

तजो मत ज्ञान चतुराई, खबर कुछ महल की माई ॥ वाद मत वद न गाई, झूंठ इसमें नहीं राई ॥ टेक ॥ यह नहीं यह नहीं हारी सत्य याचे परेसोई । आपना रूप है वोही, मूंड इसमें नहीं पाई॥१॥ जिसमें नहिं साध और साधन, नहीं कोई वाद औ वादन ॥ नहीं कोइ राध औ राधस, अखण्डा वृत्ति ठहराई ॥ ॥ अरूपा जब आप अविनाशी, कभी सब काउ का फांसी । जगत बराक करो हांसी,

वृत्ति जब उलटि कर लाई ॥३॥ कोटि परकाश सूरज चन्द, जहां पर आप गुप्तानन्द ॥ देखि छवि भये हैं आनन्द, जहां कोई आवे ना जाई ॥४॥

१७१ ग़ज़ल

भक्तजन जगत मे आये, धर्म संतोष धारा है। खड्ग जिन भक्ति का लीना, काम औ क्रोध मारा है ॥टेक॥ काटि दई आसा औ तृष्णा, लोभ का मूल फाड़ा है ॥ निरभय हो रहते हैं जगमे, सभी डर दूर डारा है ॥१॥ बनज है भक्ति का जिनके, और कोइ नहीं बेपारा है ॥ आस सब लोक की त्यागी, एक प्रभु का सहारा है ॥२॥ उठते बैठते यक राम, रहा नहीं और से कोई काम। मस्त रहते हैं आठो याम, सदा सुखरूप धारा है ॥३॥ लगा है एक हरि से तार, है झूठा समझते घरबार ॥ ध्रू निश्चय भया जिनका, हमस कछु नाहिं न्यारा है ॥ ४ ॥

१७२ ग़ज़ल

नहीं किसी भेषके योगी, नहीं कोई पंथ धारा है। तोड़ दिया जगत् से नाता न था पर कुछ हमारा है ॥ टेक ॥ पंथ से पंथ अलहिदा, पड़ा है भेषों में बेदा। हमी यह देखकर सौदा, पंथ अपना सिधारा है ॥१॥ टूटी सब मजब की फांसी, न बसते मथुरा औकाशी। हमी उस धाम के बासी अन्ध नाहीं उजारा है ॥२॥ न कोई वर्ण है म्हारा, हमें सब आश्रम जारा। छुटी जब ज्ञान की

मारा, यहाँ सब भेद मारा है ॥३॥ गुप्तधन पाया है जब से, इसी आनन्द है तबसे। मित्र का भाव है सबसे, दसों दिसि में समाया है॥४

१७३ गजल

धुती जिन वासना मन की वही अवधूत जग मार्ही ॥ परत हैं मौज अपनी में, विधी निषेध कछु नार्ही ॥ टेक ॥ कट्या सब मोह का फंदा, आत्मा अब आपके तांई। जगत में कोई नहीं मेरा, वृत्ति जब लीन हो जाई ॥१॥ कटी सब आस की फाँसी, लख्या जब आप अविनाशी। नहीं कोई दास अरु दासी, नहीं धन माल प्रभुताई ॥२॥ बसे निज रूप में जाई, सकल सुख दुःख सब हाई। जिन्हें शंका नहीं राई, कहीं सो आव ना जाई ॥३॥ तत्व जिनको लख्या ऐसा न रखते कौड़ी अरु पैसा। गुप्त धन पाया है ऐसा, मोक्षधन खर्चे अरु खाई ॥४॥

१७४ गजल

सोई है फकीर जग मार्ही, फिकिर जिन मूल से खोवा ॥ उलट कर सर्व से वृत्ति, आपने आपको जोवा ॥टेक॥ फे करके सदा ही पाक होवा अज्ञान-मल धोवा। नहीं कोई साह अरु सालक, सभी डर डार के सोवा ॥१॥ के करके कष्ट हर आसा उपजा निरवेद को भासा। कियो है ब्रह्म में वासा, होना सो जानि कर होवा ॥२॥ र करके रहम को पाया, काम की क्रोध सब मारा ॥ मूल सब जगत का मारा, जीव का ब्रह्म में पोवा ॥३॥

विधि निपेध नही जिनमें, विचरते मौज अपनी मे । ध्रूव पाया गुप्त तन में, मैल अज्ञान सब धोया ॥४॥

१७५ ग़ज़ल

मिलो दिलदार से प्यारे, जहाँ उलफत हो रहने मे ॥टेक॥ तजो सब जगत की यारी, करो स्वय सरूप की त्यारी । नहीं तो होयगी ख्वारी, विधोगे तीर पैने मे ॥१॥ जिनों को कहते हैं मेरा, तिनों में कोइ नहीं तेरा । होगया जंगल मे डेरा, समझ टुक अपने जेहने में ॥२॥ समझ टुक आप अपने को, तजो सब जगत सपने को । लगो यह जाप जपने को, आजा टुक मेरे कहने में ॥३॥ सजन परिवार सुत दारा, उसी वे रोज हो न्यारा ॥ वजे शिर काल नक्कारा, देख टुक मन के अयने में ॥४॥ न कीजे राज की मस्ती, कि शिर पर मौत जो हंसती । छुटे सब घोड़ा अरु हस्ती, वैठ चल काठ म्याने में ॥ ५ ॥ पलक में छूटि जा डेरा, हुक्म कोई माने न तेरा । हो जाना गुरु का चेरा, यही किस्ती तिराने में ॥६॥

१७६ ग़ज़ल

जरा टुक खोज तन मन को, तुही है आप अविनाशी ॥टेक॥ जिसे तू जानता है दूर, सोई है सकल मे भरपूर । समझ टुक वही तेरा नूर, करे है किसकी तल्लाशी ॥१॥ वसी हड चाम की नगरी, सोई जड़ जान तू सगरी । पटक दे भरम की पगड़ी, तुही है सब का परकाशी ॥२॥ तुही है राम औ कृष्णु, तुही है ब्रह्मा औ

विष्णु । सुखी वह ब्रोजवा जिस में, सुखी है एस कैलासी ।३॥ कहा दुक मानले मेरा, तजो सब दूर भ्रम तेरा । बहुरि नहीं होवगा फेरा, छुटे यमराज की फाँसी ॥ ४ ॥ जिस पू ब्रोजवा सबमें, सोई भरपूर है सबमें । मूरख क्या जगत के मग में, फिरे क्या द्वारिका काशी ॥ ५ ॥ नहीं तह मासे सूरज चन्द्र सुहा है आप गुप्त चन्द । जहाँ पर कोई नहीं दुख द्वंद, हाजा उस धाम का वासी ॥६॥

१७७ गजल

बिना तन आप तन धारी, उधर क्या है इधर देखो । धर्म सुखी है दुखी स, यहें तुम भेद को देखो ॥टेक॥ जभी दुखी के फैसावे, तभी सुखी नजर आवे । फिरे दुखी नहीं सुखी, य कौतुक का पक्ष रखो ॥१॥ जो यतन पेखवा चाले जिसे चले सो बस माले। समावे आपके माहीं, खल निज रूप को देखो ॥२॥ सर्वे-स्वार्थी है परमातम, उसी को कहते हैं आतम । शुद्ध आनन्द अविनाशी, कि अनुभव करके तुम देखो ॥३॥ गुप्त वाले से हो सुखी, बतावे सत यों सुखी ॥ धूप अनमोल अवसर को, सिगार को खोज कर देखो ॥ ४ ॥

१७८ गज़ल

उदय हुआ ज्ञान का मानु दवा अज्ञान अन्धियारा ॥ समाधी शुद्ध में लागी, भवा घट माहिं उजियारा ॥ टेक ॥ देखा निजरूप समाया, भरम का भूत जग नासा ॥ मिया शारि मन का

परकाशा, छिपगये इंद्रिगण तारे ॥१॥ छिपे शिशुमार पंचोप्राण, छुट्या सब देह का अभिमान ॥ भई है तस्करोंकी हान, काम औ क्रोध सब मारा ॥२॥ करते हैं भेद का नित गान, सोई उल्लू को निशि मे जान ॥ न होवे रात माया हान, धरा शिर भेद का भारा ॥३॥ अंधेरी रात्रो मंझार, जगावे वेद चौकीदार ॥ समझले शुभ की यह यार, सोवे फिर चौकी रखवारा ॥४॥

१७९ ग़ज़ल

दिवाली देखलो दिल मे, कि दीपक ज्ञान का वालो ॥ मिटा कर आश औ तृष्णा, काम अरु क्रोध को जालो ॥टेक॥ मैल विक्षेप सब धोवो, सफाई महल की कीजै ॥ गलती इसमें नहीं दीजे, मैल सब महल का गालो ॥१॥ करो अन्त करण दीपक, प्रीति के तेल को भरना ॥ वत्ती अव गेरो निष्कर्मा, होय मन्दिर में उजियालो ॥२॥ करुणा मैत्री मुदिता, करें मान्दर में शुभ गाना ॥ मिटे सब आना और जाना, शील सन्तोष को पालो ॥ ३ ॥ इसी काया दिवाली में, गुप्त यक गोर्धन पूजा ॥ मिटा के भाव सब दूजा, तिमिर अज्ञान को टालो ॥४॥

१८० ग़ज़ल

जगत् से तोड़ दी यारी, लग्या दिलवर में दिल जिनका ॥ कान देकर सुनों प्यारे, कहत हूँ हाल सब तिनका ॥ टेक ॥ जैसे आशिक हुये मजनू, इश्क़ लैली से लाया है ॥ तभी लैली को पाया

है, फिकिर नहीं कोन गजन का ॥१॥ इश्क मय कहव इहानी, बात सब लोक में जानी ॥ पिता की सिखन नहीं मानी, किया हठ आपने मनका ॥२॥ मुसीबत को सहा भारी, टेक नहीं आपनी टारी ॥ असुर ने खड्ग की मारी, कटा नहीं रोम यक तनका ॥३॥ मास का वचन सुन मनमें, लगी प्रबाल क तन में ॥ राज तजकर चले बन में, मजा तिसको मिला वन का ॥४॥ इश्क मंसूर ने किया, अनलहक माहीं मन दीया ॥ शीश सूली पर धर दिया, सुधर गया काम सब उनका ।५॥ फरीदा कूप में लटक्या, मांस सब कागिलों झटक्या ॥ एसी विउपार में अटक्या, काम जिसे ठया दरशन का ॥६॥ हुये इक शाह सुल्तानी, तजी थी बलख रजधानी ॥ पिया जिन प्रेम का पानी, नशा सब तज दिया धनका ॥७॥ दिल लगा धाम धन अरु बाम । चाहे फिर मुक्ति ही को धाम ॥ गुप्त सुमिरे नहीं निष्काम, बना है दास सब जनका ॥८।

१८१ गजल

फैलाया जाल माया ने, कोई समझे शिकारी है ॥ जैस बाजार के माहीं रोब बाजी पसारी है ॥ टेक ॥ कोई धन धाम में भूले, कोई बरजोर में फूले ॥ कोई मध काम में झूले, कहीं सुत भात नारी है ॥१॥ कोइ तो कर्म के साजी, कोई है भक्ति में राजी ॥ कोइ पंडित कोइ काजी करै उपदश भारी है ॥२॥ कोई तो निगम आगम में, कोई तो मदत्य त्यागन में । कोइ दिन रात जागन में, किसी की

धूनी जारी है ॥३॥ कोई तप दान को करते, कोई तो मौज में चरते ॥ कोई काशी में जा मरते, धारना ऐसी धारी है ॥४॥ कोई निर्गुण में अटके हैं, कोई सद्गुण में लटके हैं ॥ कोई दोनों से सटके हैं, तमाशा खेल जारी है ॥५॥ कथै कोई ज्ञान को दिन रात, करहिं वेदान्त की बहु बात । ध्यान करै सन्ध्या औ परभात, नैनन से नीर जारी है ॥६॥ कहूं कब तक यह झूंठा ख्याल, कोई गाते हैं दे दे ताल ॥ कोई कपड़े को रंगते लाल, कोई तो ब्रह्मचारी है ॥७॥ गुप्त पाया नहीं खोया, कभी जागा नहीं सोया । नहीं हँसता नहीं रोया, नहीं हलका न भारी है ॥८॥

१८२ होली

होली रंग महल में होती, कहा नींद भरम की सोती ॥टेक॥ या होली का खेल अजब है, देखत मनको मोहती ॥ कोई कोई खेलत सुघर सयाने, मूल अविद्या खोती ॥ चमक रही आतम जोती ॥१॥ इस होली की रंगत न्यारी, पाप जनम के धोती ॥ मूरख को पडित करै छिन में, पतरा पढना न पोथी ॥ नहीं पाती नहिं खोती ॥२॥ बारों मास वसन्त उड़त है, छ ऋतु होली होती॥ ताकी महिमा वेद करत है, कहि समझावत नेती ॥ झलक रहा आतम मोती ॥३॥ इस होली को जो नर खेलत फगुवा उसको देती ॥ गुप्त ज्ञान की होली मची है, और सब होली थोथी ॥ करत कहा नेती अरु धोती ॥४॥

१८३ होली

छवि आतम रूप अपारा, होली खेलि हुए बहु पारा ॥टेक॥ याज्ञवल्क्य जनकादिक खेले, लागा नहीं लगारा ॥ ज्यों जल कमल रहे जग माहीं, छींट लग्या नहीं गारा ॥ सभी कामादिक जारा ॥१॥ वामदेव शुकदेव खेलारी, वचन पिता का टारा ॥ धार वैराग जगत से न्यारे, लेकर ज्ञान सहारा ॥ और हुवे अनन्त हजारा ॥२॥ इस होली का यही महातम, जो खेले सो तारा ॥ ऊँच अरु नीच धनी अरु कंगाल, इसका गिनती न भार ॥ पार हुवे मव की धारा ॥३॥ शुद्ध बाग में होली मची है, नाना रंग पसारा ॥ विवेक वैराग की केसर घोरी, फूली ज्ञान फुलवारा ॥ मोह मद फूक इनारा ॥४।

१८४ होली

खेलै कृष्ण–आतमा होरी, बनिता करि रही बरजोरी ॥टेक॥ शब्दादिक अरु आशा–तृष्णा ऐसी केसर घोरी ॥ भरि पिचकारी विषयन की मारी, बुद्धि भई है भोरी ॥ ज्ञान मुख मुरको चोरी॥१ कृष्ण–आत्मा गहिकर पकड़ो, दे दे नचावे हैं छोरी ॥ काम का कजरा नैन बिच पाया, चुनरी चाह पहारी ॥ मेह की नाव नेकोरी ॥२॥ तुम ठगनी मैं बारा भोरा नित उठ मोहि ठगोरी ॥ पुरुषोत्तम–पीताम्बर चोरा, अब जानी सब चोरी ॥ मांहि सबरत बहि जोरी ॥३॥ शुद्ध गलों में पकड़ूँ तुमको क्या फिरती हो

दौरी ॥ तत्वरूप माखन को खाऊँ, मान मटकिया ढोरी ॥ तोरूं नथ दुलरी तोरी ॥४॥

१८५ होली

होली ब्रह्मादिक को राची, और सब होली काची ॥ टेक ॥ चार वेद का मण्डप रोपा, बात कही जिन सांची ॥ पुरुष प्रकृती खेलन आये,उठि परकिरती नाची ॥ पुरुष सब रचना जाची ॥१॥ महत्तत्व अरु हंकार मात्रा, सातों की ढोलक खाँची ॥ पंचभूत दस इन्द्री मन ले, तान लगाई आछी ॥ तिनों के संग में राती ॥२॥ पुरुष असंग देखन लागा, ताकी बुद्धि खाची ॥ देख तमाशा आप को भूला, मानत है कुल जाती ॥ ऐसो यह होली माची ॥३॥ बुद्धि का धर्म आपमे मानत, यों भुगते चौरासी ॥ गुप्तरूप परगट जब होवे, अन्धकार उड़िजासी ॥ भानु जैसे ऊगे पराची ॥४॥

१८६ होली

जब रंग पचमी होवे, पांचो नारी रंग में भिगोवे ॥ टेक ॥ सत संगति में रंगति लागी, तामे पकड़ि डुबोवे ॥ मन रसिया को खूब रिझावे, पाप जन्म के खोवे ॥ दाग सब दिलके धोवे ॥१॥ कर सिंगार वैराग ज्ञानका, तत् की ताल समोवे ॥ साधन सबहि बजावत बाजे, मूल आपना जोवे ॥ फेर निर्भय होइ सोवे ॥ २ ॥ 'अहं–ब्रह्म' यह भरि पिचकारी राग अखंडित होवे ॥ आप में बसिया सोई है रसिया, ऋतु वसन्त में सोहे ॥ तार निज अन्तर

पोवे ॥३॥ विधि निषेध की पुष्टि कराके, पुन्य पाप नहिं जोवे ॥ गुप्त गली में होली खेलत, होना हो सोइ होवे ॥ अद्‌ परिछिन्न विगोवे ॥४॥

१८७ होली

मन रसिया ने होली मचाई ॥ ऐसी रचना अजब रचाई ॥टेक॥ दृष्टा दर्शन दृश्य रचे जिन चेतन, सत्ता पाई ॥ देश अरु काल रची सब वस्तू, जीव रु इश बनाई ॥ अविद्या माया छाई ॥१॥ नाना विधि के कर्म बनाये, पुन्य रु पाप पसारा ॥ जिनके फल सुख दुख को कीना, स्वर्ग नर्क भुगताई ॥ ऐसी यह मोति चमाई ॥२॥ ज्ञान ध्यान अष्टांग योग अरु,साधन साध्य सिधाई ॥ त्याग वैराग देव अरु पूजा ॥ कमकी कालुष आइ फिरी है काल दुहाई ॥३॥ जो कछु रुपा क्रिया सब मनका, आतम में नहिं काही ॥ दृष्टा दृश्य कमी नहिं होवा ॥ गुप्त ज्ञान भक्ति माई ॥ बात यह वेदों ने गाई ॥४॥

१८८ होली

अब वसन्त पंचमी आई मामें खेलो रंग बढ़ाई ॥ टेक ॥ पंच भूतकी रचना रचि यह, मानस देह बनाई ॥ दास समान और नहिं देहा, देवन के मन भाई ॥क्यों नामें सुभग कमाई॥१॥ अन्तःकरन का मैल कपड़ा,याको करो सफाई ॥ नीर निरन्तर भगति मसाला साधन सिल्ल बनाई ॥ मैल सब धोय बहाई ॥२॥ सत्‌गुरु रंगिया से रंग चढ़ावो पूरो पक्के रगाई ॥ भक्ता की दृग में ज्ञान रंग

भरिया,जामे देह डुबाई ॥ चढे कुञ्ज जब रोशनाई ॥३॥ गुप्त गली में फाग मचावो, करिके निरभेताई ॥ फागुन के दिन सुख से बीते, होली अविद्या जलाई ॥ भर्म की धूलि उड़ाई ॥४॥

१८९ होली

ऋतु आई वसन्त सुहानो, जामे फाग खेलते ज्ञानी ॥ टेक ॥ जीवन मुक्ति बजावत बाजे राग गावें ब्रह्मानी ॥ वृत्ति व्याप्ती ताल लगावे नूर–ध्वजा फहरानी ॥ छुटे दुख चारों खानी ॥१॥ आप रूप के रंग में राते, लाभ रहा नहिं हानी ॥ नाचत नाच कर्म अनुसारो,फगुवा मिला निर्वानी ॥ छुटी सब खेचा तानी॥२॥ सोरसिया आनन्द मे वसिया, जिन यह, होली जानी ॥ काल नगारे के सिर मे डका, जग की धूल उड़ानी ॥ ज्ञान पिचकारी तानी ॥३॥ गुप्तरु परघट खेल करत हैं, जिनकी अकथ कहानी ॥ लोक वेदका भय नहिं मानत, मूल अविद्या भानी ॥ नहीं कोई ताहि समानी ॥४॥

१९० होली

होली जलगई अविद्या सारो ॥ राखे निज भक्त मुरारी । टेक॥ भक्तों के काज साज बहु साजे, तिन को लेत उभारी ॥ यही टेक जाके परंपरा से, नर हो वो चाहे नारी ॥ करे भव जल तें पारी ॥ १ ॥ जैसे जन प्रह्लाद को राख्या, होली भइ जल छारी ॥ हिरनाकुश अज्ञान को मारा, खम्भ दियो जिन

फारी ॥ देह नरसिंह की धारी ॥ २ ॥ अब प्रहलाद भक्ति होली रचना अगिनि पजारी । हिरनाकशिपू मूल-अज्ञान है ॥ नरसिंह ज्ञान-कटारी ॥ यदर ताको देव विदारी ॥३॥ काम क्रोध सब भय हैं पहलवा, मारो राम बल भारी ॥ गुप्तरु परपद पद लख्यो जब, एसी धारना धारी ॥ सोई है सुभट खेलारी ॥ ४ ॥

१६१ होली ।

लागी गुप्त ज्ञान की गोली, सब भगो भरम की टोली ॥ टेक ॥ सत गुरु मेरीने सब भेद बताया, बुद्धि बंदूक ठठोली ॥ भक्ति करम से मंजन कीनी, सार शब्द से खोली ॥ हुई है तब अनमोली ॥ १ ॥ 'अहं ब्रह्म' यह रंजक भरि के मन के करि तोली ॥ वृत्ति निरंतर बांधि निशाना, शब्द 'अहं' को बोलो ॥ करम को बाढ़ि गई टोली ॥ २ ॥ कामादिक निरगा सब भागे, तृष्णा हिरनी डोली ॥ ऋतु बसन्त भाइ जीवन-मुक्ती, खेलत्र भर भर झोली ॥ कर्म की उखराई रोली ॥ ३ ॥ गुप्त गली में जो नर आवे पावे वस्तु अनमोली ॥ वेद पुरान काव्य अरु कथनी, ये सब कागद पोली ॥ टूटि गई अन्तर चोली ॥ ४ ॥

१६२ होली ।

घट अन्तर होली मचाई कहा इकत बाहर आई ॥ टेक ॥ आगम मार्हि विरव खेले होली, बैठि नयन के माहो ॥ दश इंद्रिय वनिता छिये संग में भोगत भोग अघाई ॥ करै अपनी मन माई

॥ १ ॥ स्वप्न माहिं तैजस खेलै होली, कंठ देश में जाई ॥ सूक्ष्म भोग मनोमय बावा, संग लिये मन भाई ॥ ऐसी रचना रचवाई ॥ २ ॥ सुषुपति माहीं प्राज्ञ खेलै होली, पुरीतत्व में जाई ॥ अज्ञान की बृत्ति लिये संग वनिता,सुख का भोग कमाई ॥ रहा तिस-माहिं भुलाई ॥ ३ ॥ तीन देश की होली खेल कर, चौथे देश में जाई ॥ और सब होली लगी है हल की, चौथी समाधि लगाई ॥ सोई होली सुखदाई ॥ ४ ॥ चतुरथ खेलि गयो पंचम में, तुरिया-तीत कहाई ॥ मनवानी को गम्य ।नहीं जहँ, सो हमरे मन भाई ॥ मनो गूंगा गुड़ खाई ॥ ५ ॥ वाहर की होली सब तजकर, भीतर देखहु जाई ॥ गुप्त होली होय घट के अन्दर, खेलत सुघर खिलारी ॥ बात तोहि कहि समुझाई ॥ ६ ॥

१६३ होली ।

होली खेलत सुघर खिलारी, कहा खेलत मूढ़ अनारो ।।टेक। मल विक्षेप दोष नहिं जाके विषय वासना जारी ॥ नित्य अनित्य बिवेक कियो जिन, बिष सम जानी नारी ॥ चाह चिंता सब टारी ॥ १ ॥ शम दम श्रद्धा समाधान ह्वै, और उपरती धारी ॥ द्वंद धरम सब सहन कियो है, सही है तितिक्षा भारी ॥ सोइ होली का अधिकारी ॥ २ ॥ असभावना दूरि करी सब, सरवन मनन विचारी ॥ विपरीत–भावना की धूल उड़ाई, निदिध्यासन से जारी ॥ बात जिन ऐसो विचारी ॥ ३ ॥ 'तत्त्वं' पदका शोधन कीना, माया अविद्या डारो । 'असि' पद माहीं आसन मारा, लागी

समाधि सुखारी ॥ चढ़ी है मस्त खुमारी ॥ ४ ॥ जीवन मुक्त भये या जग में, विचरत इच्छा चारी ॥ लोक वेद की शंका न माने, बसिकर पाँचो नारी ॥ ऐसी निज धारना धारी ॥ ५ ॥ मोग अदृष्ट अदृष्ट भय हैं, व्यापक रूप मंझारी ॥ गुप्त रूप को प्रगट होकर, कबहुँ न होय दुखारी ॥ जिन होली खेली है सारी ॥ ६ ॥

१६४ होली ।

देखो टुक होली का अजब तमासा, जासे होय अविद्या का नाशा ॥ टेक ॥ ऐसी होली तोहि सिखाऊँ, दूरि होय सब त्रासा ॥ चंचल मनुवाँ अचल होय जावें, छूटि जाय भव पासा ॥ होय उर ज्ञान प्रकाशा ॥ १ ॥ साढ़े तीन किरोड़ आप होय, एक एक ही स्वासा ॥ तिनके अन्दर सुरत संजोवो, रोम रोम परकाशा ॥ पावे निज रूप अजमासा ॥२॥ सो को लेकर चक्कर नाभिसे, हं को लेकर आवे ॥ दोनों पदका अर्थ विचारो, जब पाका फल पावे ॥ होवे सुख रूप निवासा ॥ ३ ॥ सा पद ब्रह्म रूप करि जानों, हं पद आप पिछानो। तत्त्वमसि कर एक रूप है, भाग त्याग कर मानों ॥ समझ यह वेदों का भाषा ॥ ४ ॥ 'अहं-ब्रह्मास्मि' वायु चलाई, ज्ञान अग्नि प्रगटाई ॥ मूल सहित तन मन सब होली ठोंकि ठोंकि के जलाई ॥ हुयो फिर भर्म का नाशा ॥ ५ ॥ जो कोई होली खेलि चुका है, गुप्त गली के माहीं ॥ ज्ञान गुलाल के बरसत बरसा कर्म की कीच बहाई ॥ कटा सब काल का फांसा ॥ ६ ॥

१९५ होली

होरी खेलत खेलन हारी । तन मन से पड़गई कारी ।।टेक।। अब तो होली खेल समझकर, क्यों फिरती है मारी ।। सत गुरू शरन लेउ अब सजनी, मान मटुकिया ढोरी ।। करो अब मिलने की त्यारो ।।१।। तीन देह अरु पंच कोष की लागि रही बीमारी, सुनि गुरू ज्ञान धारि हिरदे में । क्यों फिरती मतवारी ।। आई है फगुवे की वारी ।।२।। काम क्रोध अरु विषय वासना, भाशा तृष्णा जारी ।। शील सतोष विवेक धारि कर,तजिदे चाह चमारी ।। तभी तुह होय सुखारो ।।३।। गुप्त ज्ञान की भगिया पीकर, हो जा तू मतवारी ।। लोक लाज कुल की मर्यादा, ठोक जलावो सारी ।। ज्ञान की भरि पिचकारी ।।४।।

१९६ होली

टुक होली । टुक होली खेल मिले फगुवा ।।टेक।। करोड़ जन्म का सूता हंसा, अब तो उठी करो जगुवा ।।१।। लोभ मोह के फँसा फंद में,अब तो तज इनका सगुवा ।।२।। अंतर को तज विषय वासना, भागत रोको मन कगुवा ।।३।। ज्ञान घटा जब चढ़े उमंड़ि के, ज्यों वरपा करता मघुवा ।।४।। तीन ताप को तपत मिटावो, शीतल होवे सब जगुवा ।।५।। कारज सिद्ध होय सब जिनके गुप्त ज्ञान में मन लगुवा ।।६ ।

१६७ होली

काया ब्रज में। काया ब्रज में जीव कन्हाई है ॥टेक॥ नौ गोपी दस इन्द्रिय संगले,हरि होली की धूम मचाई है ॥१॥ यमुना के तीरे धेनु चरावे, मनमोहन बंशी बजाई है ॥२॥ मन-मथुरा त्रिकुटी द्वार मझारी, त्रिकुटी वन बनिता बनाई है ॥३॥ गम की गेंद ज्ञान का डंडा, मन यमुना पै खेल मचाई है ॥४॥ नागकालिया काल पछाड़ा जाकी काली नाथि रोवाई है। ५॥ काम-कंस अरु पाप-पूतना, काल्यमन मार भगाइ है ॥६॥ दानव देत्य आसुरी संपति, खोदि खोदि के बहाई है । ७ ॥ गुप्त-ज्ञान दैवी-सम्पत्ती, तिन की फौज चढ़ाई है ॥८॥

१६८ होली

होली खलो ! होली खलो न करि निरभय ताइ। टेक॥ छत्र ब्रज में हिल मिलि खलो,दूरि करो मन की काई ॥१॥ ना गुरु जनम्या ना कभि मूया, नहिं तेरे बापुत माई ॥२॥ भेद भर्म को त्याग सयाने, मति मैलि भवि मे गाई ॥३॥ सुख की गैबी आया गैबते, यहाँ पर धूम मचाई ॥४॥ प्रकटि मिलो निज रूप गैब में, मली बर गुरु का पाइ ॥५॥ गुरू बर की समझ रमज को, कहते गुमको समझाइ ॥ ६ ॥ दा निजानन्द मद्य में विचरो द्वैत दुकान सभी ढाइ॥७॥ गुप्त भेद मनगुरू स पाय, परस कमल पर बलिजाई ।८॥

१९९ कुण्डलिया

निज स्वरूप अज्ञानते, दीखत है बहु भेद। स्वरूप ज्ञान के होतही, मिटि जावे सब खेद ॥ मिटि जावे सब खेद, वेद यों नितही गावे। मृगतृष्णा जग नीर, सुनाकर भेद मिटावे। लख निज गुप्त स्वरूप कूप जग गिरो न प्यारे। अवसर चूके मूढ़, फिरैं विषयन के मारे ॥

२०० कुण्डलिया

भेद जो पंच प्रकार का, ताको करूँ बखान। जीव ईश का भेद यक, ईश जगत को जान ॥ ईश जगत को जान। तीसरा जीव जीवन का। चतुरथ भेद पिछान, जीव अरु जड़ है तिनका ॥ पंचम भेद जड जड़न को, यही भेद आकार। ध्रुव सब छूटे भेद जब, तब होय भेद से पार ॥

२०१ कुण्डलिया

बिना भेद जाने बिना, छुठै न भेद को पन्थ ॥ श्रुति सिद्धान्त यह कहत हैं, और कहें मुनि सन्त ॥ और कहें मुनि सन्त, भेद को अन्त जो कीजै ॥ भेद पाप को मूल, ताको ना उर में दीजै ॥ गुप्त रूप जबहीं लखे, छुटे भेद की बात। भेद जो पाँच प्रकार का, तापर मारे लात ॥

२०२ कुण्डलिया

अनादि वस्तु को कहत हैं तिनको सुन अब भेद। ब्रह्म ईश जीव अरु माया, सम्बन्ध भेद कहें वेद। सम्बन्ध भेद कहें वेद,

तिन में काहु भेद बताया। ब्रह्म है अनन्त अनादि, पांच से शान्त्रहि गाया ॥ कह गोवधन विचार, अनादि वस्तु गाइ। गुप्त बात माहं मान, कुण्डलिया देखो माहं ॥

२०३ कुण्डलिया

भूल्यो जब निज आपको तबही भयो कंगाल। अपनी सुध आवे नहीं, घर में है सब माल ॥ घर में है सब माल, ब्याल सूझे का सेझो। गुप्त रूप को पाय, पलंग पर सुख से सेझो ॥ ध्रुव निश्चय यह ज्ञान, छहनपति शाह है वाही। छीनो आप विचार, वस्तु है ब्योंकी ब्योंही।

२०४ कुण्डलिया

छोड छलावो पलंग पर, करके सूधे पांव। आसन कीजे फर की फेर न ऐसा दाव ॥ फेर न ऐसा दाव, नाव में चढ़ कर बैठो। होजा परलेपार गिरेह से बमके बाटो ॥ जब पामे गुप्तानन्द त्यो कीजे विश्राम। ध्रु निश्चय तब भयो सोवत बादर धान ॥

२०५ कुण्डलिया

जैसे हम सोये पंलग पर, ऐसा सोवो सब भाय। अभा गर्भीला ज्ञान का होना होय सो होय ॥ होनी होय सो होय, मोह प्यारे नहिं माया। निज आपन अपना रूप, नहीं खोया नहिं पाया। गुप्त गओ में आय के, निरभय भये आजाद। ध्रु निश्चयकर देखते कोइक विरला साध ॥

२०६ कुण्डलिया

चिदाकाश निज रूप में, नहीं काल नहिं देश ॥ पांच तत्व गुण तीन का, जामें नहीं लेश ॥ जामें नाहीं लेश, एक निरंजन राया ॥ जामें नहिंपंच कलेश, मोह व्यापे नहिं माया ॥ गुप्तरूप को पायकर, जामे लाभ न हान ॥ चिदाकाश निज रूप लखि, सोते चद्दर तान ॥

२०७ कुण्डलिया

मात तात सुत भ्रात सब, रहते कैसा साथ ॥ मेला जगत सराय में, सब उठि जात प्रभात ॥ सब उठि जात प्रभात, जात कुछ देर न लावे ॥ चहै लाखों करो उपाय, फेर ढूँढे नहिं पावे ॥ जब भूल्यो गुप्त स्वरूप, पड़ी ममता की फांसी ॥ क्या रोवे मत्था फूट, तुही चेतन अविनाशी ॥

२०८ कुण्डलिया

अपने अपने कर्म का, भोगन आये भोग ॥ पूर्वले किसी कर्म से, आन मिला संयोग ॥ आन मिला संयोग, सोच फिर किसका कीजै ॥ स्वप्नो सो जग जान, नाम यस हरि का लीजै ॥ जब पाये गुप्त स्वरूप, अविद्या सबही छीजै ॥ सब मिथ्या संसार, शोक फिर किसका कीजै ॥

२०९ कुण्डलिया

लगे रहो हरि नाम से छोडो जग की आस ॥ खबर नहीं है घड़ी की, निकल जायगे स्वास ॥ निकल जायंगे स्वास, काल

न सब कोइ खाया ॥ राजा रंक फकीर, काल के हाथ बिकाया ॥ परारब्ध के भोग में, होना नहीं उदास ॥ गुप्तरूप पर माहिं क्रम, सब तजो जगत की आस ॥

२१० कुण्डलिया

ना कछु हुआ न है कछु, ना कछु आगे होय ॥ मृगतृष्णा के नीर में, क्यों बहाजात बिन तोय ॥ क्यों बहाजात बिन तोय, मोह का छोड़ अखाड़ा ॥ सुषुप्ति अवस्था माहिं जगत का पोल निकाला ॥ गुप्त गली में बैठि के, कीजै सदा विचार ॥ तू चेतन भरपूर है, झूँठा जगत असार ॥

२११ कुण्डलिया

भोगन में सुख है नहीं, सब तजो जगत के भोग ॥ भोग छोक का रूप है, यों कहें सयाने लोग ॥ यों कहें सयाने लोग, योगवा आप निहारो ॥ कर्म उपासन ज्ञान ,माहिं चित अपना धारो ॥ गुप्त रूप को सो लखे, जो चाले इस पंथ ॥ श्रुति सिद्धान्त यह कहत हैं, और कहें सद् ग्रंथ ॥

२१२ कुण्डलिया

कोटि जन्म भरमत फिरो, कछु न पायो सार ॥ मनुष देह अब के मिली, करके देख विचार । करके देख विचार यार क्या भया दिवाना ॥ सिर पै बैरी काल हाथ में ले रहा बाना ॥ बच्यो न यासों कोय, काल ने सब कोइ खायो ॥ जिन आत्मा गुप्त सरूप काल नेरे नहिं आयो ॥

२१३ कुण्डलिया

जैनी सो नर जानिये, जो जीवमार के खाय ॥ द्वैत भाव जाके नहीं, रही एकता छाय ॥ रही एकता छाय, दिगम्बर रहे उदासा ॥ स्वरूप लियो चीन्ह, मिलन की मिटि गई आसा ॥ जब जान्यो गुप्तानन्द, कर्म का संगल टूटया ॥ ढहगई मजहब दुकान, भरम का भांडा फूटया ॥

२१४ कुण्डलिया

गुप्तानन्द आनन्द में, सदा सर्बदा काल ॥ हानी लाभ नाहीं रही, पड़े न यम की जाल ॥ पड़े न यम की जाल, ख्याल कोइ रहा न करना॥ अब के ऐसे मरे बहुरि होवे नहिं मरना गुप्तानन्द को पाय, रहा नहिं करना बाकी ॥ सब झूँठा परपंच, सत्य तो आपै आपी ।

२१५ कुण्डलिया

कोइ कछु कहे कोइ कछु कहे, ना कीजै शोक न हर्ष ॥ जैसी जाकी बुद्धि है, तैसो ताकी परख ॥ तैसी ताकी परख, बहुत विधि कहे समार ॥ जोहरी परखे लाल, चाम को गहे चमार ॥ गुप्तानन्द को पाय, मस्त रहे आठों याम ॥ कुत्ती बको संसार, नहीं काहू से काम ॥

२१६ कुण्डलिया

कालत्रय उपजे नहीं, कहा भयो संसार ॥ व्यास वशिष्ट मुनि कहत हैं, तुही सदा यक तार ॥ तुही सदा यक तार, अपन में

आप भुलायो ।। स्वपन को परपंच, जागिकर कहूं न पायो ।। तूं आपै गुप्तानन्द, सब मूलन का मूल ।। नभ में भयो न सुमन, न जायो बन्ध्या पूत ।।

२१७ कुण्डलिया

होवा तो होता कहा, बिना हुये यह कौन ।। बिना हुये के कारणे, होता फिरता दीन ।। होता फिरता दीन बात यह सच्चो साखी ।। तापर एक दृष्टान्त सुनो चोरों का साखी ।। जब जाने गुप्तानन्द मिटे यह सबही शूल ।। निश्चय होव आप, रहे नहिं रंचक मूल ।।

२१८ कुण्डलिया

मूल होत है भरम से भरम मूल अज्ञान ।। अज्ञान तभी लग जानिये, जबलग होत न ज्ञान ।। जब लग होत न ज्ञान, न तब लग होवत दूर ।। निशा रहे फिर नाहिं, परगटे जबही सूर ।। जब जान्यो गुप्तानन्द वस्तु ज्योंकी त्यों भासी ।। संशय और विपरीत, भावना सबही नाशी ।।

२१९ लावनी (बिना दोहे की कल्पवृक्ष)

हम सुख मस्ती में मस्त, मौज में रहते ।। जो हमें कहें अप-वचन उसी के सहते ।। टेक ।। हम अपने आप में मगन रहा करते हैं ।। जाते दिल को हम चूर किया करते हैं ।। हम आपो आपना दरस किया करते हैं, मर मर के ज्ञान का प्याला पिया

करते हैं ।। इस जगत जाल को देखि नहीं हम बहते ।। १ ।। हम अपने आपका जाप किया करते हैं ।। इस तनके अंदर माफ किया करते हैं ।। पंचकोष वपुतीनको साफ किया करते हैं ।। अपने आतम में आप जिया करते हैं ।। हम जीव भाव को छोड़ि ब्रह्म अग्नि में रहते ।। २ ।। तोड़ा माया का जाल ख्याल हम देखा । कुछ बाकी रख्या नाहि पूरा किया लेखा । अब आगे को बनज नहीं हम करते ।. जो करते हैं बनज वही नर मरते ।। हम काहू से कुटिल वचन नहि कहते ।। ३ ।। हम पायो गुप्त स्वरूप भूप के भूपा ।। नहि पड़े काल के जाल मार कहे रूका ।। ऐसा निश्चय भया धुरू गुरु हमने पाया ।। जिनकी कृपा से भये निरंजन राया ।। जो नर करते सत सग, सैन वह लहते ।। ४ ।।

२२० लावनी ।

हम ज्ञान सुधा का पिया पियाला प्यारे । माया नागिन के जहर मरै नहिं मारे ।। टेक ।। सतगुरु को मंतर दिया जहर सब झाड़ा । माया नागिन का जीत लिया सब खाड़ा ।। माया के सुत हैं पाँच बड़े बलकारी ।। अहर्निशि आठों याम मारें किलकारी । जिन वडे बड़े पकड़े वीर कूप भव डारे ।।१।। अहं ब्रह्मास्मि मत्र गुरू ने दीना ।। माया नागिन का जहर दूर कर दीना ।। माया का उतरा जहर कहर सब नाशे ।। जब कट गये दीरघ रोग ज्ञान परकाशे ।। परघट हुवा पूरण ज्ञान शत्रु सब जारे ।।२।। छूटा

माया का पाप ताप करें किसका ॥ हम निरभय होकर रहें शोक नहीं ससका ॥ हम व्यापक महा-अखंड नहीं जहं माया ॥ जहां नहीं कर्म नहिं धर्म न जन्मी आया ॥ हम चेतन शुद्ध प्रकाश कास नहिं जारे ॥३॥ सतगुरु के परसाद साधकी संगत ॥ सत संगति की ऐसी चढ़ी लगो है रंगत ॥ हम पायो गुप्तानन्द मर्म सब भारो ॥ ध्रुव निश्चय भयो अगाध ज्ञान परकारो ॥ अजर अमर अब भये मरें नहिं मारे ॥४॥

२२१ लावनी (चौमासा)

बरसन लगे दिनरात ज्ञान के बदरा ॥ गुरु पै पायो सोहाग त्याग कियो सगरा ॥ टेक ॥ चारों साधन पक चैत्र मास हम जामो । सब प्रमकी काली घटा भवन पहिचानो । अब पड़न लगी बूंद मनन सोह कहिये । जब बरसन लागा मेंह निदिध्यासन कहिये । जब चली प्रेम की ओर शुद्ध उड़े बुगला ॥१॥ स्वाति बूंद चातक को लगत है प्यारी ॥ तिस चातक के सादृश्य आमो अधिकारी ॥ पथिक रहे हैं बैठ बरखा ऋतु आई । जिमि मन इन्द्री रहे थाकि के सम दम पाई । अब छुटि गई मन की दौड़ जाय कहं पगला ॥२॥ बरखा की रुट्ठी घोर बोलत मोरा ॥ अहं ब्रह्मास्मि शब्द घोर में जोरा ॥ घन माहिं उठा बिजली का चमकारा ॥ अब पंच कोष बपु तीन से कीन्हा न्यारा । जो आशिक है मजबूत चढ़े चौमजला ॥३॥ सब नदियाँ चाली चमंड सरंड को पार ।

जिमि उठे वृत्ति परवाह ब्रह्म में जाई ॥ जव गुप्त औषधी प्रगट भई है प्यारे । काम जवासा क्रोध आक सब मारे ॥ इस चाम्र-भास की रमज समझे क्या कँगला ॥४॥

२२२ लावनी

नहिं मांगें किसी से दाम न रखते रंडी ॥ तिस पर भी लोग यों कहें बड़े पाखंडी ॥ टेक ॥ तीन लोक के भोग तृण सम त्यागे, जिस पर भी हमें यों कहें फिरें ये भागे ॥ ऊपर से बनाया स्वाग कहें हम त्यागी ॥ यह रखते मोहर नोट बड़े हैं रागी ॥ गेरू का लगाते रग बने हैं दंडी ॥१॥ जो कोई कुछ कहे उसी की सहते ॥ अपने आपके माहिं गर्क हम रहते ॥ वहती दुनियां को देखि नहीं हम वहते ॥ कहती दुनिया को देखि नहीं कुछ कहते । हम देखी झाड़ि पिछोड़ि यह दुनियाँ लंडी ॥२॥ हम दिलवर का दीदार किया करते हैं ॥ मरने की गैल हम मरा नहीं करते हैं ॥ तपती दुनिया को देखि टस्या करते हैं ॥ जलते की गैल हम जला नहीं करते हैं ॥ हम अपने आप की सदा फेरते झंडी ॥३॥ हम करते गुप्त विचार कहे बड़े ज्ञानी । सब हसते हमको देखि वड़े धक ध्यानी । को जाने महरमकार हमारी वाता । हम नहिं रखते संसार से कुछ भी नाता । हम चलते सीधी गैल कहें आफंडी ॥४॥

२२३ लावनी

हमें गुप्त रूप का देखा अजब तमाशा । जैसा कुछ फुरना होय वैसा उसे भासा । टेक । चेतन के आसरे कल्पि किसी ने

माया ॥ अनादि एक पुनि दाँव तिसे बतलाया ॥ नहिं कहिये सत्य असत्य विलक्षण गाई ॥ चेतन से अनादि सबंध कहके समझाई ॥ जो चेतन रहा समान करे नहिं नासा ॥ १ ॥ माया में पड़ा आभास और अधिष्ठाता ॥ कहइ तीनों मिलि ईश्वर का रूप बतलाता ॥ मलिन सत्व आभास और अधिष्ठाता ॥ कोइ तीनों मिलिके जीव रूप दिखलाता ॥ तिन में कहें एक स्वतंत्र एक गल फांसा ॥ २ ॥ कोइ कहें बिंब प्रतिबिंब एकही रूपा ॥ उपाधी के भेद भिन्न सहरूपा ॥ प्रतिबिंब बाद में भेद और भी माना ॥ पर बिंब रूपही प्रतिबिंबहु को गाना ॥ माया और प्रतिबिंब का उलटा रासा ॥ ३ ॥ कोइ माया चेतन मिले ईश कहलावें ॥ अज्ञान अरु चेतन मिले जीव को गावें ॥ किसीने प्रकृती पुरुष तत्व को खोधा ॥ कोइ सात पदारथ मान रू पद सोधा । कोइ कहें कर्म से मोक्ष मूँठ नहिं भासा ॥ ४ ॥ किसी ने सर्व दोनों पद को छाना ॥ माया रु अविद्या सोहि उसको जाना ॥ लक्षणावृत्ति कर देख 'तत्व मसि' माही । पद भाग त्याग की सैन गुरू समुझाई ॥ कोइ समुझे चतुर सुजान वेद का आशा ॥ ५ ॥ (२गजल दूसरी) वेद गुरू कहते यही पुकार ॥ झूट हम झूठा सब संसार ॥ गुप्त का समझ देख हुक पार, कल्पना का सभी विस्तार ॥ सभी झूठा जानो झगड़ा ॥ आप में कभी न कछु बिगड़ा ॥ कल्पना झूठीवें मूठी, गप्ता यह गुप्त ज्ञान मूरी ॥ शुद्ध चेतन शुद्ध सरूप स्वयं परकाशा ॥ ६ ॥

२२४ लावनी

हमें गुप्त बाग की देखी अजब हरियाली ।। खिले तरह तरह के फूल चमकि रही लाली ।। टेक ।। कोइ काला हरा कोइ रक्त स्वेत कोइ पीला ।। इन पंच फूल से रची बाग की लीला ।। माया का ऊचा कोट ओट है जिनकी ।। जहाँ दोइ वक्त के माहिं चौकि रहेमन की ।। माया में पड़ा आभास सोइ है माली ।। १ ।। मालिन अरु माली मिले करी जब त्यारी ।। यह तखते रच दिये तीन चौदह रच क्यारी ।। मालिन ने मचाये शोर जोर दिखलाये ।। यक क्षणमात्र के माहिं पेड सब लाये ।। चारो बुरजों पर चार रहे रखवाली ।। २ ।। चार किसिम के पेड़ रचे तिस माहीं ।। बीजन के अनुसार खिली फुलवाई ।। किसी में निकली कली कोई खिलि जावे ।। कोइ नीचे गिरते टूटे कोई मुरझावे ।। फूलों पै लगाते चोट काल अरु काली ।। ३ ।। छ' ऋतु बारह मास चक्र यक फिरता ।। ये रात दिना दो दीप बाग में जलता ।। माली ने राखे तीन काम के करता । कोइ उतपति पालन करै कोइ सहरता ।। जहँ पक्षी करे कुलाहल वजाते ताली ।। ४ ।। इस बाग माहि त्रय कूप छुटे जलधारा ।। विच विच मे फुहारे छुटें बाग पिवे सारा ।। कोइ पौधे उपजे नये पुराने जलते ।। कोइ कल पाय के वेभी अगिन में वलते ।। ऐसी रचना का ख्याल देखता ख्याली ।। ५ ।। देखन जाननवाले का करो विचारा ।। सो गुप्त आपना रूप सार का

सारा। माली अरु सब बाग नहीं कछु न्यारा ॥ जैसे सपने के माहिं
साक्षी आधारा ॥ गुरु चरन शुद्ध सरूप होय भ्रम आसी ॥ ६ ॥

२२५ लावनी (सत्सगकल्पवृक्ष)

है कल्पवृक्ष सत्सग जगत के माहीं ॥ महिमा नहिं सहस
शेष सके कछु गाई ॥ टेक ॥ है दल पत्र शान्ति जिस की डाली ॥
अरु ज्ञान पुष्प नित हरे स सब हरियाली ॥ खुशबू है प्रगट सब
जगह न कोइ खाली ॥ जो देखा चाहे सेवे मन कर
माली ॥ स्वधर्म भार भरा स पहुंचे भाई ॥ १ ॥ जिन पाया
फल पायगे पायेगे जितने । उपाय इस से और क्या
नहिं जिसमें ॥ सतसंगति कर कल्पवृक्ष का सेवो ॥ मानुष तन को
भव वृथा जगत में खोवो ॥ यह पन्थ संत से मिले जो होय
सहाई ॥२॥ जो प्रेम नेमकर सत्सगति को सेवे ॥ सब दुःख नाश
हो प्रगट अविद्या खोवे ॥ धीर भाव पठि श्याम मन को ज्ञान
निपूर्ण भक्ति मोती को ठीक पहिचाने ॥ शील सत्य सन्तोष सब
आमाई ॥ ॥ जिन कल्पवृक्ष का लिया सहारा जग में । वह सुख
हो रहें मौज न आवे भग में ॥ जल गुप्त रूप है सब घटघट घट
घट में ॥ जो देखा चाहे बसे इसी तन मठ में ॥ भूप पद अक्षय
अमोल न आवे सहाई ॥ ४ ॥

२२६ लावनी (मदिरा)

हम आप रूप की मद का पिया पियाला ॥ जो मूठी मद

को पिवे तिन का मुख काला ॥ टेक ॥ हमे सत् गुरु मिले कलाल दई भर प्याली ॥ अन्तर के खुल गये चश्म छाय रही लाली ॥ हम पिया प्रेम के साथ अमल जब छाया ॥ सब मिटे भर्म और कर्म रही नहिं माया ॥ हम करें न कोई जाप रटें नहिं माला ॥१॥ जो गौड़ी माध्वी और पेष्टी पीना ॥ तिन का है वृथा यार जगत् मे जीना ॥ कोइ भर के बोतल पिवे पिवे कोइ अद्धा ॥ फिर किरिया करते नीच होय मुख भद्दा ॥ हो गया कलेजा भस्म नयन में जाला ॥ २ ॥ जब जागे परबल काम खोजता नारी ॥ चाहे मिलो वेश्या नीच चहे महतारी । भोगे नहिं गिनता दोष गई मति मारी ॥ इस नीच अमल ने करी जगत की ख्वारी ॥ आपस मे बकते गाल ससुर औ साला ॥३॥ ऐसा नहिं कीजे कर्म भरम सब त्यागो ॥ अब मोह निशा की नींद त्याग कर जागो ॥ तुम गुप्तरूप का भरकर पियो पियाला ॥ जिस करके छूटे जनम मरन का नाला ॥ क्या दुनिया के रँग देख हुवा मतवाला ॥ ४ ॥

२२७ लावनी (मांस)

जो नर खाते हैं मास सोई 'कस्साई ॥ हम नहिं कहते यह बात शास्त्रने गाई । टेक । सब कहें खुदा को रूह गऊ अरु मुरगे ॥ बकरा भैंसा और भेड़ किये क्यों मुरदे ॥ नेत्र से नेत्र मिले मिले तिल्ली से तिल्ली ॥ जब मार रूह को रूह बड़ी फरजुल्ली ॥ करै खुदा से बैर समुझै नहिं रुई ॥१॥ दिन भर तो रोजा करे पढ़े कुराना ॥

फिर मारे रात को रह कराहि हलवाना ॥ जिसकी तुम पढ़े न्याव पाँच बेर दिन में, सो सब स्वप्न में रहे साथि के मन में ॥ आने नहिं न्याय इन्साफ हुये अन्याई ।२॥ काटि खाना और का मांस ग्रास नहिं तुमको ॥ फिर तेरा भी गला कटै होय पद तुमको ॥ निकसगी जहाँ किताब बात नहिं भावे । मत खाय और का मांस फेर पछितावे ॥ रसना के वश होगया मीन की न्याई ॥ ३ ॥ ब्राह्मण का पाया जन्म कुलजी ख्याती ॥ फिर खाते मांस शराब बने हैं पापी । जब ऊँचे वरण को पाय काम यह करते ॥ नीचों के शिर-दोष कहे को धरते ॥ खाते बने पंडित लोग राखें गुप्ताइ ॥ ४ ॥

२२८ लावनी (वेश्या)

काम निशा से जाग पड़ा मत सोवे ॥ मत कर वेश्या का संग रंग क्यों खोवे ॥ टेक ॥ वेश्या को विषधर् जान करे मत् संग ॥ जिस वेश्या के संग होय धर्म का भंगा ॥ चाहे कैसा ही होय धन्य कैसा हो चंगा । सब तन धन को हरि लेत बनावे भंगा ॥ हम कहते हैं समझाय गणिका मत जोव ॥ १ ॥ जप तप संयम अरु दान सभी भखि जाव ॥ जैसे फिर ढूँढ़ा धूप सहा रहिजाय ॥ कोइ साथत ना पक्ष फूट हाय यह हानी । हम सब मरकन की खानी वेश्या जानी ॥ मन वश्या लाग मारि मजिमा मत पोवे । २॥ वश्या स कबहूँ मुक्ति करो मत यारो ॥ यह मकड़ा लेय फसाय कर

वड़ी ख्वारी । करे धन अरु वलका अंत फेर धमकावे ॥ तुझे सौ वेर कही गँवार यहां क्यों आवे ॥ सब खोय लोक परलोक मूरखा रोवे ॥३॥ ऐसे नर तनको पाय अकारथ खोवे ॥ नहिं सुने गुप्त की बात अन्त मे रोवे ॥ जो कहे धर्म की वात करे थे हाँसी ॥ धोखे में पड़ि गई आय काल की फाँसी ॥ जब अन्त समय के मांहि कोई नहि होवे ॥४॥

२२६ लावनी (द्यूत)

सट्टे का चला रोजगार गई साहूकारी ॥ यह खाय हरामी माल गई मति मारी ॥टेक॥ नहिं करें और रोजगार कार यह ठानी ॥ चहे कुछ होवे लाभ चहें होय हानी ॥ जो कुछ कीना था माल चढ़ो ने कट्टा ॥ तिस से अब खेलन लगे लिलामी सट्टा ॥ नहिं आवे आँक-लीलाम होय जब ख्वारी ॥१॥ सट्टे की जाय दुकान रुपैया लावे ॥ खड़े देख रहे हैं वाट आँक कब आवे ॥ जैसे वरखा ऋतु पाय जले जवासा ॥ ऐसे जलते साहूकार लोभ की आसा ॥ जो आजावे कभि माल चढ़े बड़ी त्यारी ॥२॥ जब आवत नाहि आँक खाक में मिलते ॥ तब रोवत मत्था कूट हाथ दोउ मलते ॥ सब लुटि गया घर का माल वात सब विगड़ी ॥ टूटा जूता है पैर, फटी सिर पगड़ी ॥ तब चोरी करने लगा लाज खोई सारी ॥३॥ फिर लेवे मूँड़ मुड़ाय वने हैं साधू ॥ लोगों को वतावे आँक करे वहि जादू ॥ नहिं गुप्त वात को खोजत मूढ़

बनारी ॥ कोइ सन्यासी बनि जाय कोई ब्रह्मचारी ॥ लोगों से ठगीकर माल करे फिर जारी ॥४॥

२३० लावनी (नारी)

परनारी से प्रीति मुक्ति नहिं करती ॥ परनारी ऐसी जान पावक को धरनी ॥टेक। अपना रखि खाली खेत और का बोवे ॥ कछु फल नहिं प्राप्त होय मूढ़ फिर रोवे ॥ परकी को सेना त्याग सेवे परनारी ॥ तब घर की करनी जाय और तें यारी ॥ जब घर में होय कलह हमें नहिं जरमी ॥१॥ परनारी पैनी छुरी अंग सब काटे ॥ जैसे कोई डाकिन खून माँस को चाटे ॥ सब तन धन को हरिलेय करे तुमे खाली ॥ सब मदा पथ जाय बदन रहे नहिं लाली । मर का निश्चयकर जाय कहे किसे मरमी ॥१॥ नारि सवारि है बुरी वेश्या परकी, यह तीसी कहिये नरक सिरोमी घरकी। मक एक विषय के संग पावे नाशा ॥ यह जाना सबी बात झूंठ नहिं मासा ॥ परत्रिया से करे गमन तिनकी दशा बरनी ॥३॥ नहिं देखें गुप्त सरूप विषय में भूले । फिर अन्त समय के माहिं खाट में झूले ॥ जब चले कंठ में माया बढ़ा घरौना ॥ नत्तर में झूठा मीर हिलावे माथा ॥ अब कीजै कौन विचार पड़ा बैतरनी ।४

२३१ लावनी (हिंसा)

मत करे जीव की घात बात सुन प्यारे ॥ सब परमेश्वर की रह नहीं कुछ न्यारे । टेक। जैसा दुख तुमको होय उसे भी होवे । कुछ मन में करो विचार पड़ा मत सोवे ॥ बिन कारण ही व दुःख

और को मारी ॥ अपने को चहे आराम गई मति मारी ॥ जिस करे कुटुम्ब हित पाप होहिं सब न्यारे ॥१॥ हिंसा है तीन प्रकार कहों समुझाई ॥ कायिक है वाचिक मानस है वेदने गाई । दूजे को देवे दु:ख सोई कसाई ॥ दूजे को देना सुख सोई धरमाई ॥ सुख से सुख तुझको होय दु ख से दुख भारे ॥२॥ जैसा कुछ देना दान वैसा मिल जावे ॥ जब वेली वोवे कटू दाख कैसे खावे ॥ जो सुख चाहे जीव तजो अब हिंसा ॥ करना चहिये वही काम वेद पर संसा ॥ जिस करके होय आराम दुख छूटें सारे ॥३॥ तुम छोड़ो कर्म निषेध, विधि को करना ॥ फिर तिन में भी सहकाम देत हैं मरना ॥ जासे पावे गुप्त स्वरूप करो निष्कर्मा ॥ सब छुटें जनम के पाप होय नहिं मरना ॥ अब कीजै ऐसा काम काल नहिं खारे ॥४॥

२३२ लावनी (चोरी)

जो पर घर चोरी करत मरत हैं तेजन ॥ आगे पड़े यम की मार, हरथा क्यों पर धन ॥टेक॥ कोमल पर पकड़ा जाय, मार लगे गाढा । जैसे कोई खब्ड़ लोग, काटते पाडा ॥ फिर पकड़ लेत सरकार, शोच करे मन में ॥ सब चोरी को ले काढ़ि, एकही दिन में ॥ जब लगे दुतरफी मार, विगड जाय सब तन ॥१॥ जो हरे पराया माल, हाल यह जिनका ॥ कभी नाशत नाहीं शोक, तिनों के मन का ॥ चोरी के सग में रहे, झूँठ दिन राती ॥ जैसे दीपक जब जले, तेल अरु वाती ॥ सब देखें ऐसे हाल, डरे नाहीं

मन । २॥ चोरी जूवे का काम बुरा है प्यारे । जो करत ऐसा काम फिरत हैं मारे ॥ यमों पिसाइ परलोक लोक में निंदा ॥ जो करते ऐसा काम पड़े गल फंदा । यसी होवें दुरगती मिले नहीं मग्न ॥३। छोड़ो चोरी की बात, हाथ क्या आवे । फिर अन्त समय के माहिं बहुत पछितावे ॥ कोजे नहिं ऐसा काम मनुष तन पाके ॥ जब गुप्त आपना रूप कहूं समझाके । मत फिरे वस्तु की तरह, अविद्या मन बन॥॥४॥

दोहा—

धन्यवाद उस पुरुष को, जाको व्यसन न एक ॥
सो उत्तम सब नरन तें, वाकेहि विमल विवेक ॥
एक एक ने मारियां, बड़े बड़े उत्तम भूप ॥
जामें सातो व्यसन हैं, क्यों न पड़े भव कूप ॥
मानुष तनको पाय कर, किया नहीं शुभ काम ॥
तिसतें अच्छा जानिये, ढोर पशु का चाम ॥

२३३ लावनी

देवन की पूजा करो भाइ दीवाली । जब सब देवन का देव आत्मा वाली ॥ ठेक ॥ यह काया देवल जान आतमा देवा ॥ तिसकी अब सेवा करो बनाई मेवा ॥ करो दीक्षा अज्ञानान पहिर सब लोका ॥ प्रेम के पातर माँज रखे नहिं मैला ॥ आशा तृष्णा का त्याग बनावो थाली ॥१॥ जप तप तीरथ और दान यंटा बजवावो । निष्काम-कर्म की पूरा प्रेम स लावो ॥ तन मन धन

करो सिंगार लगा सिंहासन ॥ तिनके ऊपर लग रहा देव का आसन ॥ उड़ते शुभ कर्म गुलाल चमकि रहि लाली ॥ २ ॥ चित के चन्दन को चरच प्रीति की पाती। दिल से दीपक को वारि धरो दिन राती ॥ करनी का क्रीट बनाय मुकुट मन कीजे ॥ फिर च्रढ़ें प्रेम के फूल देव जब रीझे ॥ ऐसा परिपूरण देव नाहिं कछु खाली ॥३॥ ऐसा नहिं पावे वक्त गुप्त तुझे कहता। जो ऐसी पूजा करे जग में नहिं बहता ॥ कभो काशी सेवे जाय कभी सेवे मथुरा ॥ सेवे नहिं चेतनदेव पूजे क्या पथरा ॥ क्या पूजत फिरे गँवार भैरों अरु काली ॥४॥

२३४ लावनी

भरमें क्यों बिना विचार दूसरे मन्दिर। इस तन के अन्दर देख मूरती सुन्दर ॥टेक॥ जिसके नाहीं रंग रूप उपक्या कहिये ॥ तिसके दरशन को पाय परम पद लहिये ॥ नहिं समुझत मूढ़ गंवार फिरत है मारा ॥ देखा चाहत है मूढ़ आपसे न्यारा। खाता डोलत परसाद होगया बंदर ॥१॥ नहिं कारण सूक्षम स्थूल मूल है सब का ॥ धरनी जल पावक पवन समझले नभका ॥ हम कहें तोहि समझाय देव है ऐसा। जाकी सेवा होय निष्काम चढ़े नहिं पैसा ॥ इस घटके भीतर देख चमकि रहा चन्दर ॥२॥ करले तिसका दीदार पार हो भव से।। क्या देखे झूठे देव तिरे नहिं तिनसे। पूजत है झूंठे बुत्त गई मति मारी ॥ चेतन व्है जड़ से कहै रक्षा कर

म्हारी ॥ कछु करता नहीं विचार आपने अन्दर ॥३॥ चेतन का रू
है आप सम अरु आने ॥ कछु देख न पूछे बात नहीं पहिचान ॥
शास्त्र न कहता है इक एक पुरुषारथ ॥ दूजा नहिं कोई इन को
पदारथ ॥ बड़े आते हैं नर मूढ़ अगम समुन्दर ॥४॥

२३५ लावनी

करते हैं बहुत अपार विचार न करते ॥ तिस अहंकार के
माहिं डूबकर मरते ॥ टेक ॥ यह काया सदा मलीन शुद्ध नहिं
होवे । जिसकी शुद्धि के अर्थ–काठ का सोवे ॥ यह बँधी मूत्र की
गांठ जिस बड़ा पोवे ॥ कितनेई चन्दन लेप शुद्ध नहिं होवे ॥ जब
तक इस में हंकार तभी तक मरते ॥१॥ जाके नव द्वारन के
माहिं नर्क नित झरता ॥ स्थान बीज का अष्ट शुद्ध किसे करता ॥
इस तन की शुद्धी आगि भस्म को खोवे ॥ कितनई मज्जन करे
शुद्ध नहिं होवे ॥ कोई नर मूरख मान काम यह करते ॥२॥
बड़े आवे वेश पुलेख बने हैं सुन्दर ॥ भीतर से कोमल नाहिं बाम
का मन्दर ॥ ऐसे हो सब नर नारि मूठि गये तन में ॥ कछु
करते नहीं विचार आपने मन में ॥ निज आतम चेतन शुद्ध खोज
नहिं करते ॥३॥ सो सदा आपना रूप शुद्ध का शुद्धा । आत्म
स्वयम सुषुप्ति सदा परशुद्धा ॥ सत्संग को पाय भेद कछु जाने ।
तब शुद्धातम सब मलीन शुद्ध पहिचाने ॥ ये शुद्ध रूप परकाश
कर्म सब जरते ॥४॥

२३६ लावनी

कहने को सभी ने कहा न रखा बाकी ॥ बिन जबाँ कहे क्या आप आपना साखा ॥ टेक ॥ जो घर रखे सो अपने घर को पावे ॥ जो घर खोवे वह घर घर धक्के खावे ॥ कहिं पुन्य करे तो पाप तुरत बनि जावे ॥ कहिं पाप किये ते स्वर्ग वास मे जावे ॥ जो करे जीव को घात वह देखे झांकी ॥ १ ॥ जो लोभ करे तो क्षोभ तुरत मिटि जावे ॥ दया तजे से दिल का दरद हट जावे ॥ योग तजे वह योग के माहिं समावे ॥ ज्ञान तजे ते विद्या-वान कहावे ॥ तन जला भस्म मलने से होवे खाखा ॥२॥ जो परको पीड़ा करे सो होवे पूरा ॥ जो विषय गहे वोह इद्रियजीत है सूरा ॥ जो भोग करे वह जन्म रोग को धोवे ॥ तृष्णा करने से तीनों ताप को खावे ॥ वेद शास्त्र का चूरण बनाकर फाँकी ॥३॥ त्याग किये से रागी बन बैठे हैं ॥ ऊपर जाने से आप गिरे बैठे हैं ॥ यह गुप्त ज्ञान समझे सो बेखटके हैं ॥ बिन समझे नर चौरासी में भटके हैं ॥ ध्रुव त्याग ग्रहण की सभी वासना नाकी ॥४॥

२३७ लावनी

बिन यतन रतन यक बन में भोगता भोगी ॥ सुन कथन सजन तज वतन होगये योगी ॥ टेक ॥ बिन पृथ्वी परवत है यक ऊँचा भारी ॥ पगू गिरवर पर चढ़ा गई मति मारी ॥ बिन नेत्र देख वे दिल से खुशी हुई भारी ॥ कर बिन से ग्रहण कर करे

म्हारी ॥ कछु करता नहीं विचार आपने अन्दर ॥३॥ देवन का देव है आप देख भर जाने ॥ कछु देव न पूछे बात नहीं पहिचाने ॥ शास्त्र न कहा है एक एक पुरुषारथ ॥ दूजा नाहिं कोई देव कहे परमारथ ॥ बहे जाते हैं नर मूढ़ अगम समुन्दर ॥४॥

२३५ लावनी

करते हैं बहुत अचार विचार न करते ॥ तिस अहंकार के मांहि डूबकर मरते ॥ टेक ॥ यह काया सदा मलीन शुद्ध नहीं होवे । जिसकी शुद्धि के अर्थ—काठ का खोवे ॥ यह मैली मूत की गांठ जिस बड़ा भावे ॥ किसनाई चम्मन लेप शुद्ध नहिं होवे ॥ जब तक इस में हंकार तभी तक मरते ॥१॥ जाके नव द्वारन के मांहि नर्क नित झरता ॥ स्थान बीज सो भ्रष्ट शुद्ध किसे करता ॥ इस तन को शुद्धी लागि जन्म को खोवे ॥ किसनाई मजन क्यों शुद्ध नहिं होवे ॥ सोई नर मूरख आम काम यह करते ॥२॥ बड़े आले सेज फुलेल बने हैं सुन्दर ॥ भीतर से खोजत नाहिं याम का मन्दर ॥ ऐसे ही सब नर मारि भूलि गये तन में ॥ कछु करते नहीं विचार आपने मन में ॥ नित आतम चेतन शुद्ध खोज नाहिं करते ॥३॥ सो सदा आपना रूप शुद्ध का शुद्धा । जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति सदा परबुद्धा ॥ सत्संग को पाय भेद कछु जाने । जब शुद्धजाय सब मलीन शुद्ध पहिचाने ॥ वहै शुद्ध रूप परकाश कर्म सब जरते ॥४॥

॥२॥ बुद्धी विन करैं विचार पंडिता कहिये। बुद्धी से करैं विचार मूरखा लहिये ॥ विनु पर से पक्षी उड़े पर से गिर जावे। विनु चोंच चुगे को चुगे फेर मरजावे ॥ यक गगन माहिं नित ठोंकत डोलत मेखा ॥३॥ कोई समझे मूढ गंवार चतुर क्या जाने। परघट को कहते गुप्त नहीं पहिचाने ॥ सो सदा एक है जिसे ध्रू कहे चलता। सो कहिये शीतल रूप देखैं तिसे जलता ॥ सो धरे वहुत से रूप एक का एका ॥२॥

२३६ लावनी

मैं आशिक़ हूँ अलमस्त दीद तेरे पै। दे दरश कृपा कर निगेह हाल मेरे पै ॥ टेक ॥ आलिमों में सुनी तारीफ़ जिया घबराया। उस दिन से मेरा होश हवाश भुलाया ॥ धन माल लुटा इस जग से ख्याल उठाया। कर ख़राब अपना हाल तेरा कहलाया ॥
शैर—इश्क में बीमार तेरी शान पर कुरबान हूँ।
मुहब्बत जिगर में बसिगई, यह हाल मैं किस से कहूँ ॥
तुझ से जुदाई का यह सदमा, आप खुद दिल में सहूँ।
सीड़ी पागल सब कहे, मैं ध्यान तेरे में रहूँ ॥
अब आसन मैंने किया तेरे चेहरे पै ॥१॥ जब अहा अहा कर मरने लगा यक दम से ॥ तब दिल में रोशन हुदा चांद पूनम से। दिलबर से दिल मिल गया वो आप सनम से। माशूक ने हंसकर कहा न रख दिल गम से ॥

नृत्य पतारी ॥ बिन मर्म शर्म तजि दई सो मानो रोगी ॥१॥ बिन पती सखा न तन पितु पुत्तर आया ॥ जा पदे पुत्र न सभी कुटुम्ब को खाया ॥ बिन अङ्ग संग बो पियासे जाके करता ॥ बिन बदन पिया सुख चूम अंक में धरता ॥ ऐसी अचरज की बात हुई अरु हागी ॥ २ ॥ बिन नीर समुद्र बीच कुर्वां पनिघट का । हिल मिल के सखी जल भरें न डूबे मटका ॥ यक पथिक मुसाफिर आन कुवे पर अटका ॥ बो जल माँगे बो कर सैन घूँघट का ॥ जब भरा वारो तो पथिक नार भय सोगी ॥३॥ यह गुरु ज्ञान बिन श्रवण से जो सुनि लेवे । बिन बुद्धि स समझ रमझ में रहवे ॥ यह बचन कहे विपरीत मजा गुरु दवे । पलटे को सुलटा कीन्ह और क्या कहिये ॥ भू जनम मरन को सभी अविद्या भोगी ॥४॥

२३८ लावनी

बिना मूल यक फूल गगन बिनु देखा । तिस गुल में गुल खिल रहे गिनति नहिं लेखा ॥टेक॥ यक बिन अचरज की बात कहो बिनु बानी । कोइ मूरख लेवे समझ समझ नहिं ज्ञानी ॥ अमृत का पना व्लाप अगिन म फूंका । यक खाता है दिन रात मरे नित भूखा ॥ पारे सूक्ष्म स्थूल रूप नहिं रेखा ॥१॥ परमे म बिन दरियाव पड़ा यक बहता । बिन पानी का दुवाव तिसमें नित रहता ॥ दीपक अग्नी न फूंक दिया जग सारा । बिन ईंधन सबमें जला सभी तिस्तारा ॥ बिन मन्त्र यह रपाव सभी हम पत्रा

॥२॥ बुद्धी बिन करै विचार पंडिता कहिये। बुद्धी से करै विचार मूरखा लहिये ॥ बिनु पर से पक्षी उड़े पर से गिर जावे। बिनु चोंच चुगे को चुगे फेर मरजावे ॥ यक गगन माहिं नित ठोंकत डोलत मेखा ॥३॥ कोई समझे मूढ गंवार चतुर क्या जाने। परघट को कहते गुम नहीं पहिचाने ॥ सो सदा एक है जिसे ध्रू कहे चलता। सो कहिये शीतल रूप देखैं तिसे जलता ॥ सो धरे बहुत से रूप एक का एका ॥२॥

२३६ लावनी

मैं आशिक़ हूँ अलमस्त दीद तेरे पै। दे दरश कृपा कर निगेह हाल मेरे पै ॥ टेक ॥ आलिमों में सुनी तारीफ़ 'जिया घबराया। उस दिन से मेरा होश हवाश भुलाया ॥ धन माल लुटा इस जग से ख्याल उठाया। कर खराब अपना हाल तेरा कहलाया ॥
शैर–इश्क में बीमार तेरी शान पर कुरबान हूँ।

मुहब्बत जिगर में बसिगई, यह हाल मैं किस से कहूँ ॥
तुझ से जुदाई का यह सदमा, आप खुद दिल में सहूँ।
सौड़ी पागल सब कहें, मैं ध्यान तेरे मे रहूँ ॥

अब आसन मैंने किया तेरे चेहरे पै ॥१॥ जब अहा अहा कर मरने लगा यक दम से ॥ तब दिल में रोशन हुवा चांद पूनम से। दिलवर से दिल मिल गया वो आप सनम से। माशूक ने हंसकर कहा न रख दिल गम से ॥

शेर-माशूक मेरा मुझको-मिला, दिल में वही दिलदार है।
मिलता है मुझको प्रेम से देता दरश हरबार है॥
तबियत से वह जाता नहीं, करता वो मुझ से प्यार है।
सूरत वो मन में बस रही, माशूक मेरा दिलदार है॥
जैसे काला नाग मस्त लहरे पै॥२। माशूक ये मेरा जिसकी निगाह आजावे॥ बस निगाह से सारा जगत प्रकाश होजावे। वो फेरे निगह तो सब रोशन होजावे॥ पल पल में प्यारा अलख लेख दिखलावे॥—
शेर-जिसकी चमक को पायकर यह चमकता संसार है।
सब रोशनी रोशन है उससे, यों कहत मस्त पुकार है॥
उसकी रोशनी पाय के, फिरते सभी मर मार है।
सब के शामिल मिल रहा, सब से जुदा यक तार है॥
वो मुझ में है मैं हूं उसके चेहरे पै॥३॥ दुनियां से खोकर हाथ सनम को पाया॥ वो मिला मुझे महबूब रंग बिसराया॥ इस विरह में बोला विश्वंभर करमाया॥ यह नाम रूप सब ही है उसकी माया॥—
शेर-सर्व में सर्वज्ञ है, वो सर्व में भरपूर है।
ज्ञान दृष्टी से मिले, अज्ञान से वो दूर है॥
आशिक होके हटना नहीं, मिलना वस जरूर है।
सत्य आनंदकंद मेरा गुप्त असली नूर है॥
झूम रहा है हर वक्त तरे सहारे पै॥४॥

२४० लावनी (रंगत लंगड़ी)

इश्क आशिक पूरे करते,घर को कर बरबाद कदम माशूक की तरफ़ धरते ।। टेक ।। लौ माशूक से लगी रहती, चश्म से जलधारा बहती । इन्द्रिय नहिं और विषय गहती, तबियत माशूक को चहती

दोहा–दुनियाँ से हो तर्क, गर्क यक माशूक के माहीं ।
दम पै दम यह निकला जाता, सूझत कछु नाहीं ।।

सनम क्यों अलग २ हटते ।।१।। इश्क का जोश हुआ भरपूर, दीखन लगा सनम का नूर ।। जिसपै गिरा हूँ होकर चूर, उसी का रहता मुझे गरूर ।—

दोहा–मुझको मुसीबत देते हो, क्यों हँसते हो मुख फेर ।।
गले लगाकर मिलो आप अब, क्यों करते हो देर ।

हुये दिन बहुत अलग रहते ।।२।। दयाकर दिया दरश मुझको, कहूँ मैं क्या क्या अब तुझको ।। समझ आती है समझे को, पहुँचा अब तेरे दरजे को ।।—

दोहा–जब से माशूक मिला, शोच अब रहा न मिलने का ।
दोनों की तबियत एक हुई, नहि जिगर है हिलने का ।।

फेर अब उलटे नहिं फिरते ।।३।। आशिक माशूक एक ही जान । जैसे घी चिकनाई ले मान ।। इश्क यह हक्कानी पहिचान । सीखले गुप्त गुरू से ज्ञान ।।—

दोहा–गोवर्धन घनश्याम कृष्ण की, दिल से रखियो याद ।
जन्म धरेका सार यही है जगको कर बरबाद ।।

धुरूकर इश्क बिना सिरते ।।

२४१ लावनी

सिकारी हम हैं पूरे यार ।। जिस तन के बन में चंचल मिरगा केव्ल वही शिकार ।टेक। चरै जाई मिरगन की टोली ।। मारते बिन दारू गोली ।। मिरघी दस एक मिरगा काला ।। कि जिसके सिर पर दो भाला ।।—

दोहा–धरनी बिनु मिरघा चरे, बिन जामी खेती खाय ।
सूरदास को मारसे, नेत्र स दोखे नाय ।।
खाते नहिं चारा प्यार। जगत सब जिनको किया ख्वार ।।१।।
मिरघा के नहीं बदन नहिं गात ।। खाने को खाता है दिन रात ।।
गिने नहिं संध्या अरु परभात । पैर बिन मारे सब के लात ।।
दोहा–बिनु अचरज की बात यह, करके देखो ख्याल ।
सोई पूरा पारघी, जिन गेरा मिरघ पर जाल ।।
बिन कर पकड़े दो सींग, पटकि बिनु धरनी दिया पछार ।।२।।
बिना कर पकड़ो हमें कमान खेंचि मिरघा के मारा बान ।
लगा बिन धरका जिसके तीर ।। मिटी मिरघा की सगरी पीर ।।
दोहा–दुखी भया मिरघा चरे, ना कहिं राग न दोष ।
मारे ते सो अमर भया है, करिके देखो होस ।।
अजर अमर अब भया तिसे नहीं सकता कोई मार ।।३।। गम्य का ऐसा हो परमाव, चले नहिं जिस पर कोई दाव ।। कही मृग मारन की युक्ती, इसी स पावत है मुक्ती ।।—

दोहा–बेदरदी व्हे मिरघा मारे, जब होवे आनन्द ।
जो कोइ रक्षा करे जीव की,सो पडे काल के फंद ॥
इस विधि सुधरे सब काज, आज हम कहते यही पुकार ॥४॥

२४२ लावनी

मान कही तजिदे भरम विकार । इस नरके तन को पाय कीजिये, इस से कछू विचार ॥टेक॥ कि यह तन ऐसा है नीका ॥ देव ब्रह्मादिक का टीका ॥ यही उद्धारन है जीका ॥ भक्ति बिनु क्यों रखता फीका ॥—

शैर–यह मानुष तन तोको मिला, कुछ करके देख विचार जी ।
यक पलक माहीं नाश हो, पछतायगा फिर यार जी ॥
दिल अन्दर करो विचार, फेर तुझे मिले न दूजी बार ॥१॥
करो अब अब इसमे कछू विचार, कौन मैं को यह सब संसार ॥
किसके यह रहता है आधार ॥ यही है सब सारन का सार ॥—
शैर–माला में मनका रहे, सब सूत्र के आधार जी ॥
सूत्र तिनमें एक है, सब मनिकों का व्यभिचार जी
ऐसेई जाग्रत् अरु सुषुपती, आतम के आधार ॥२॥ सोई है व्यापक ब्रह्म स्वरूप, फेर नहीं पड़ते हैं भव कूप ॥—
शैर–अगर जोतू चाहै एकताई, तो जुदाई तोड़दे ॥
यक आब दिलमें समझ के, सब बुद बुदाई छोड़दे ॥
अब पंच–कोप अरु तीन–देह का, पटको शिर तें भार ॥३॥ रोग

की औषधि बतलाई, सेवन पथ से कीजे भाई ॥ दूर हो मनकी सब काई, बात यह वेदों ने गाई ॥—

शेर-यह बक्त बीता जात है, कर लीजिये इस काज को ।
अब गुप्तसागर मार गोता, छोड़ जगकी लाज को ॥
इस तन का तज हंकार, धपरि के मत ना बन चमार ॥४॥

२४३ लावनी

पड़ा क्या गफलत में सोवे ॥ काया का काचा कोट काल की पड़े चोट रोवे ।टेक। काल का जग में माचा शोर, किसी का चले न उस पर जोर ॥ गिने नहिं साहूकार अरु चोर, आपना पर का लिहाजा और—

शेर-इस काल ने खाली किये, सब लोक अरु लोकापती ।
निर्भय होकर मारता, बचता नहीं योगी यती ॥
कछु पाकि रहा मुख माहिं, कछुक तो रांधे कछु पोवे ॥१॥ तजे जो अधिभौतिक हंकार काल की पड़े न उस पर मार ॥ मोई है सब कालन का काल, काल का पड़े न उस पर जाल ॥—

शेर-भाषि से वह जलता नहीं, जल नहिं सकता गलत वे ।
हवा से सूखत नहीं, क्या करे तिसका काल वे ॥
कर दलो दिल में ख्याल अन्न का क्यों बिरथा खोवे ॥ २ ॥ कीजिये सत संगति की ओट दूर होवे सब तरे खोट । पहिर ज्ञान कवच का कोट यहां पर पसे न यम की चोट—

शेर-चारों कहें पुकार के, ज्ञान विनु मुक्ती नहीं ।
तू समझ अपने जहन में यह बात हम तोसों कही ॥
मन तागा कर बारीक, ब्रह्म में क्यों ना अब पोवे ॥३॥ ज्ञान के सुन लीजे साधन, विवेक वैराग होय सम्पन्न ॥ विषय तें रोके इन्द्रिय मन, यही है सब पुन्यन का पुन ॥—
शेर-जब साफ़ अन्त कारण हो, नहिं रहे मल विक्षेप को ।
साधन कहे यह ज्ञान के, फिर पावे तिस से मोक्ष को ॥
यह पाया तुझ को वक्त, गुप्त को पाय मैल धोवे ॥ ४ ॥

२४४ लावनी

नीर बिनु चले कूप दिन रात, बिनु बैल चर्स बिनु लाव नहीं कोई, हाकनवाला साथ ॥टेक॥ कुवे पर पनघट लागे चार, नीर भरने को चली है नार। मार्ग में पड़ते विघन अपार, कूप पै पहुँचे कोई पनिहार ॥—
शेर-जिस मारग में विषयर सर्प है, दन्त विनु सब को डसे ।
जहर सब तन में चढ़े, प्राण काया से नसे ॥
बिनु जल नहिं जावे प्यास, पास कुवे के कैसे जात ॥१॥ मिले कोई बाजीगर सूरा, सर्प का मन्त्र दे पूरा ॥ करै जब उस मन्तर का जाप, फेर नहिं चढ़ता विष का ताप ॥—
शेर-यह मन्त्र जिस के पास है, फिर सर्प का कुछ डर नहीं ।
उसको कछू संशा नहीं, वह कूप पर पहुँचे सही ॥

दूजा नहिं सकता आय, समझ हम कहते सच्ची बात ॥२॥
कोइ नर आये नीर के पास, देखकर मिट जावे सब प्यास ॥ जिसे
स होवे जीव का नास, मूठ जाने मुखो पिपासा—
शेर—ऐसा जो अद्भुत नीर है पीवे सोई मरमात है ॥
जिसने न पीया नीर यह, सो जग में गोता खात है ॥
कोइ मूरख समझ रमज बचन बानी स कहो नहिं ख्वाब ॥३॥
कूप है बिना धरणी आकाश, जहां पर कोई नहिं स्वाद ॥
सदा रहता है गुप्त मकाश, जगत से होकर देखा उदास ॥—
शेर—कूप अपने पास है, सतगुरु बिना समझ नहीं ॥
सब कहते सन्त पुकार के, यह बात बेदों मे कही ॥
अब करो वतन का यतन, नीर यों बही अमर सब जात ॥ ४ ॥

२४५ कवित्त (अलौकिक)

पायो नरतन यार यामें कीजिये विचार कछु सार औ असार कहा देखिये बिचार के ॥ वृथा मत खोवे मूढ़ अन्त माहिं रोवे कैसे, भ्रम माहिं सोवे तुझे कहत पुकार के ॥ बार बार तोसों कही आयु जात सब बही, मानिजीजे मेरी कही टुक बात को निहार के ॥ तब पावेगा गुप्त तब होवेगा मुक्त, मूंठा जानिये जगत चित दीसे यही धार के ॥

२४६ कवित्त

काम विकराल यो तो करत है बुरो हाल, काहू से न करे

टाल सोचिये विचार के ॥ गज चींटी पर्यन्त करे सबहू को अन्त, ऐसे कहे सब सन्त काल गेरत है मार के ॥ यह काल भलो पायो नरतन यामे आयो, तज मोह और माया वैराग धार लीजिये ॥ जबलों नाहीं निरवेद तब लों पावत है खेद, यों पुकार कहे वेद गुप्तरूप जान लीजिये ॥

२४७ कवित्त

कछू कीजिये विचार नरतन को यह सार, आप रूप को संभारकर अमिय रस पीजिये ॥ तत्वमशि को विचार देख सार वा असार, सार को विचार वा असार दूर कोजिये ॥ पावे वस्तू अनूप ताकी दीजिये न रूप कोई, आपनो स्वरूप सोई और ना पतीजिये ॥ द्वैत मन धरे सो तो गर्भ माहिं जरे, द्वैत दूर करे सो तो परमपद पाइये ॥

२४८ कवित्त

जामें हाड और चाम ऐसो वस्यो है यह गांम, करना जो काम सो तो याही माहिं कोजिये ॥ सुत दारा परिवार सब जानिये असार, तोसों कही वार वार छिन एकही में छीजिये ॥ कीजे काम कोउ ऐसा जामें लागत न पैसा, छोड़ दीजे ऐसा वैसा एक ईश चित्त दीजिये ॥ कहे गुप्त जो पुकार-ऐसा निश्चय धुरू धार, एक वा हजार वार यही सुन लीजिये ॥

२४९ कवित्त

पाव से चलत वस्तु कर से गहत, मुख से कहत शब्द श्रवण

दूजा नहिं सकता आय, समझ हम कहते सच्ची बात ॥२॥
काइ नर आवे नार के पास, दरशकर मिट जावे सब प्यास ॥ पिवे
स होवे जीव का नाश, मूढ़ जाने युखो विश्वास—
शेर-ऐसा जो अद्भुत नीर है, पीवे साई मरजात है ॥
जिसने न पीया नीर वह, सो जग में गोता खात है ॥
कोइ मूरख समझ रमज बचन वानी स कहो नहिं जात ॥३॥
कूप है बिना धरणी आकाश, जहाँ पर कोई नहिं स्थाप ॥
सदा रहता है गुप्त प्रकाश, जगत से होकर देखा उदास ॥—
शेर-कूप अपने पास है, सतगुरु बिना समझे नहीं ॥
सब कहते सन्त पुकार के, यह बात वेदों में कही ॥
अब करो यतन का यतन, नीर यों बही उमर सब जात ॥ ४ ॥

२४५ कवित्त (अलौकिक)

पायो नरतन यार यामें कीजिये विचार कछू सार औ असार कहा देखिये विचार के ॥ वृथा मत खोवे मूढ़ अन्त माहिं रोवे कैसे भ्रम माहिं सोवे तुझे कहत पुकार के ॥ बार बार तोसों कहो आयु जात सब बही मानिलीजे मेरी कही टुक बात को निहार के ॥ जब पावेगा गुप्त तब होवेगा मुक्त, मूढ़ जानिये जगत चित दीजे यही धार के ॥

२४६ कवित्त

काल विकराल जो तो करत है बुरे हाल, काहू से न करे

२५२ कवित्त

चित्र यह विचित्र चित्र–मैन सैन संग लिये, तानके सुमन-बान जन उर मारे है ॥ मतीमान जो महान मति ताकी करैहान, मूरख अज्ञान को वखान कौन करै है ॥ ललना को लोभ देय तन धन हरिलेय, मनको संताप आप पाप माहिं डारे है ॥ ऐसो है अनंग अंग विन संग जाय करै, मारके सुचेत मार मरेहुये मारे है ॥ गुप्त शिवको सरूप महिमा जाकी है अनूप, मार मारे चूप शिव भक्त ना निहारे है ॥ ध्रुवशिवरूप जान तासे होवे काम हान शिवके स्वरूप विन सवको पछारे है ॥

२५३ कवित्त

देखिये सुजन जन देखने के योग्य आप, आपको निहार जाप देवका मिटाइये ॥ जाग्रत सुपन सुषोपति क्षीन मन, तिनको जो साक्षी सो तो तुरिया कहाइये ॥ ऐसा तुरिया स्वरूप तुहीं तुझ विन और नहीं, वेद महावाक्य सही संत अनुभव से गाइये ॥ गुप्त रूप को पिछान कीजे माया मल हान, ध्रुव लक्ष जानि कहां जाइये न आइये ॥

२५४ सवैया

रूप अरूप सरूप हो भासत, देखिये चित्र विचित्र वने हैं ॥ पुत्र कलत्र मित्र आदि वहु, आख से देखत शास्त्र सुने हैं ॥ देह से आदि क्रिया जितनी, उतनी सवही पल माहिं हने हैं ॥ बांझ को

मुक्त है ॥ रूप नयन से छ्नत रस रसना परसत, त्वचा शीत को सहत मन राग को धरत है ॥ देह को संघात रूप देह स करत आप, देही तो असंग रंग और ना लहत है ॥ दृश्य तो असत्य आपही को जाने सत, विचार यों करत जग-रूप ना परत है ॥ भास जो तजत गुप्त रूप को मिलत, होके निजानन्द रूप चितु चिगरत है ॥ वेद यों भनत स्वरूप माहिं होय गत, गुरु कृपा पाय गुप आपही रहत है ॥

२५० कवित्त

मान महिमान रूप आपनो पिछान, दृश्य नाशवान जान हट कैसो भेख है ॥ कर्मही के योग आप बनो है संयोग कर्म के वियोग योग त्याग लेत गया है ॥ यातें तूलो निष्कर्म रूप देह धर्म, सब कर्म पाय के करत नाहिं देख है ॥ ऐसो तत्व ज्ञान गुप्त जामें नाहीं भय शुक, गुरु निश्चय युक्त जहां बंध ना परेखा है ॥

२५१ कवित्त

ज्ञान सागर में न्हायो माया मलको बहायो, ऐसा रत्न नहीं पायो यह बात सुन लीजिये ॥ ऐसे जल माहीं न्हावे जब शांति चित्त आवे, तब और ना सुहावे कछु आपने में रीझिये ॥ आत्मा आपने को आप जब मिट तीनों ताप, तबै कौनहू का आप करो काज कौन कीजिये ॥ करमा भनो सब दूर गुप्त रूप है भरपूर, सोई आपना है मूर समझ यह लीजिये ॥

पुन्य अरु पाप करि ॥ सुख दुख भोगता, जन्मूं अरु मरूंहूं जीव अज्ञानी ॥ होश कर देख तू आपने आपको, तू कछु औरते और जानी ॥ शेरतूं केहरी भेड़ क्यों होरहा, आपनी सुधतें नाहिं आनी ॥ आपको भूल कर दुख भुगते सदा, रोवता फिरैगा चारि खानी ॥ नाकछु हुया ना है कछु होगया दीखे सुने सो भर्म मरु थल पानी ॥ जीव अरु ब्रह्म का भेद कहुँ है नहीं, सिंधू के माहिं जव बूंद सानी ॥ कहे गुप्त आनन्द सत चित आनन्द तू, गुरु औ वेद से हम यह जानी ॥

२५९ झूला

यह पाया मनुष शरीर, मास यह सावन का आया ॥ टेक ॥ दया धरम का रस्सा करिके झूला घलवाया ॥ प्रेम पटरिया रखि के जिस पर झूलन को आया ॥१॥ पांच सहेली संग में लेकर मंगल को गाया, मनुवा मगन भया डोलत है जव आप रूप पाया ॥२॥ ब्रह्म राग को गाने लाग्या, आनन्द झड़ लाया ॥ सब भरम करम मिटि गये, जहाँ पर रही नहीं माया ॥३॥ ब्रह्मानन्द को प्राप्त होकर गुप्त रूप पाया, ध्रू अब मरना दूरि हुआ नहिं फेर जन्म पाया ॥४॥

२६० झूला

झूलत है सन्त सुजान, देखि झूले की अजब बहार ॥ टेक ॥ ऐसा झूला सत झूलि कर होगये पल्ले पार ॥ भवसागर की

पूत अकाश को पुष्प इनी समही यह वेदमन हैं ॥ चित्त चितरे रच्यो यह कौतुक, स्वप्न समान यह चित्त जने हैं ॥ गुप्त है सार असारं सभी, धुवहर आदि के ज्ञानगुप्त हैं ॥

२५५ सवैया

संत शिरोमणि जे जगमें जिन पूरण ब्रह्महि आप पिछानो ॥ हूं परिपूरण एक सदा, द्वैत अद्वैत नहीं कछु नाना ॥ ईश्वर जीवमें भेद नहीं कछु भेद उपाधिहि कृत्त बखान्यो ॥ उपाधि उपाधी के धर्म सभी, गुप्त गुप्त सरूप में नाहिं समाना ॥

२५६ सवैया

तन के बन में तृष्णा हिरनी, जेहि मारन हरिजन चित्त छुमायो ॥ गमकी बंदूक भरी घट में, शीलके बैन पलीत लगायो ॥ ज्ञानकी गोली लगी तनमाहि मरी मिरगी मनमें हरखायो ॥ करनी की करद से खाल उतारी वैष्णव होत कसाब के जायो ॥

२५७ सवैया

काम-कबूतर तामस-तीतर ज्ञान के बाज ने मारि गिरायो ॥ पंच परपंच के दूरि किये, मोहके मस्तिष्क निकारि बहायो ॥ संजम कूट विचार मसाला, साधुकी संगति सीक लगायो ॥ ध्यान हुतासन सेंकि खायरे, वैष्णव होत कसाब के जायो ॥

२५८ झूलना

मरम की भैंस पी बावरा होरहा, बकता है औरती और बानी,

पुन्य अरु पाप करि ॥ सुख दुख भोगता, जन्मूं अरु मरन्हू जीव अज्ञानी ॥ होश कर देख तू आपने आपको, तू कछु औरते और जानी ॥ शेरतूं केहरी भेड़ क्यों होरहा, आपनी सुधतैं नाहिं आनी ॥ आपको भूल कर दुख भुगते सदा, रोवता फिरैगा चारि खानी ॥ नाकछु हुया ना है कछु होगया, दीखे सुने सो भर्म मरु थल पानी ॥ जीव अरु ब्रह्म का भेद कहुँ है नहीं, सिधू के माहिं जब बूंद सानी ॥ कहे गुप्त आनन्द सत चित आनन्द तू, गुरु औ वेद से हम यह जानी ॥

२५६ झूला

यह पाया मनुष शरीर, मास यह सावन का आया ॥ टेक ॥ या धरम का रस्सा करिके झूला घलवाया ॥ प्रेम पटरिया रखि ै जिस पर झूलन को आया ॥१॥ पांच सहेली संग में लेकर ंगल को गाया, मनुवा मगन भया डोलत है जब आप रूप ाया ॥२॥ ब्रह्म राग को गाने लाग्या, आनन्द झड़ लाया ॥ सब भरम करम मिटि गये, जहाँ पर रही नहीं माया ॥३॥ ब्रह्मा-नन्द को प्राप्त होकर गुप्त रूप पाया, ध्रू अब मरना दूरि हुआ नहिं फेर जन्म पाया ॥४॥

२६० झूला

झूलत है सन्त सुजान, देखि झूले की अजब बहार ॥ टेक ॥ ऐसा झूला संत झूलि कर होगये पल्ले पार ॥ भवसागर की

मवियाँ गहेरीं, वह गये मूढ़ गँवार ॥ १ ॥ गगन मंडल में मू भाला, पवन चले यक तार ॥ इड़ा पिंगला सुषुमनाद्वारा, चढ़ ग दसवें द्वार ॥२॥ निर्भय होकर रहे जहाँ पर पड़े न काल की मा अजपा वाजी छमी गगन में टूटत नाहीं तार ॥३॥ गुम गुप बाज बाजे महानन्द झंकार ॥ ढोलक झाँझ बजे हरमुनियाँ मन धुरू सितार ॥४॥

२६१ झूला

ना जानों कल क्या होय, माज कर लीजे थारो काम ॥टेक नर-नारायणी देह मिली है, सब शोभा का साज ॥ इसमें क गफलत नहिं करनी मू । सभी समाज ॥१॥ काल सभी के सि पर खेल, क्या रइयत क्या राज ॥ पल में लोकों पकड़ ले जाय ज्यों तीतर को बाज ॥२॥ सत संगति नौका में बैठो छोड़ ज की लाज ॥ वेद टेर कर कहता लोको, सब प्रमाण सिरताज॥३ गुम रूप को जल्दी पावे मिटै विषय की खाज ॥ महान मगन भय मनमें, भुव निश्चय भयो आज ॥४।

२६२ झूला

कहूँ तोहि समुझाय, चला दुक झूल का आनंद ।टेक। इ झूल पर आ नर झूलन, कटि जाय यम के फन्द ॥ आशा तृष्ण राग द्वेष जहाँ कोइ नहीं दुख द्वंद ॥१॥ जिन झूले पर मों लाया, पार भयभवसिंध ॥ जानत हैं कोई जानन हारे, क्या ज

मति मंद ॥२॥ झूला झूलत मिला पियारा, आनन्दन का कंद ॥ सभी जगह मे व्यापक ऐसे, जैसे गुलों में गंध ॥३॥ ब्रह्मानन्द भरा है सब में सोई गुप्तानन्द ॥ ध्रुव यह बात समझ के विचरत, ज्यों पूनम का चन्द ॥४॥

२६३ झूला

जगमें सोई बड़ भाग, सुजन जन झूलि रहे झूला ॥ टेक ॥ सुख दुख सभी एक सम जाने, ना कोइ प्रतिकूला ॥ सब कर्म भये जल छार, जल्या जब ज्ञान अगिन चूला ॥१॥ हुआ ज्ञान अगिन परकाश, अविद्या नाश-गई मूला ॥ हम रहते है वे खौफ कहा अब कर सकती तूला ॥२॥ सुख के सागर गोता मारा मिटि गई सब सूला । जब उघड़े ज्ञान कपाट, मोक्ष का दरवाजा खूला ॥३॥ उड़ो गुप्त खुसबोय, फूल यक ब्रह्मानन्द फूला ॥ ध्रुव निश्चय भयो अगाध नहीं कुछ जान्या नहिं भूला । ४॥

२६४ झूला

रहो सुरत हिंडोले झूल, मूल में भूल नहीं पाई ॥टेक। धुन सुन मनवा मगन भया है, सुरता मुसकाई ॥ एक अखंडित ब्रह्म सुन्या जब, आप रूप पाई ॥१॥ द्वैत अद्वैत भूल गई सब ही, जहा कोइ जीव नहीं माई ॥ ज्यों लोन पुतरिया जाय समुद्र में उलट नहीं आई ॥ २ ॥ शुद्ध रूप को जिसने पाया, मिटि गई सब काई ॥ कहन सुनन में कछु नहिं आवे, बात यह समझन की

भाई ॥ ब्रह्मानन्द में मगन भई जब, आनन्द अधिकाई ॥ गु
पाया है गुप्त जहाँ पर भेद नहीं राई ॥४॥

२६५ मूला (रसिया)

आयो सावन य मन भावन चालो गुप्तेश्वर दरबार ।टेक
चित्त का चंदन प्रेम की पाती, सुरत पुष्प ले कर ॥ आगर क
दया और माखन, छुटत दूध की धार ॥ १ ॥ संयम का
धाऊ लिया है ज्ञान दोपलियो बार ॥ गुप्तेश्वर की पूजा कर
पाया आतम दीदार ॥२॥ ज्ञान घटा जब चढ़ी उमड़ के, प
लगो फोहार ॥ मन चातक अब करने लागा, ब्रह्मानन्द पुका
॥३॥ काया-वन में चेतन-बिजली, चमक रही चमकार ॥ ब्रह्मान
गुप्त भयो परचर, करता धुन पुकार ॥४॥

२६६ मूला

कर दिलमें देखो ख्याल साज को क्यों बिरथा खोवे । टेक
लख चौरासी भरमत आया फर क्या गफलत में सोवे ॥ म
मानुष तन बुद्धि जान, मूढ़ फेर सुयुक सुयुक रोवे ॥१॥ धन
धाम समय और धाम देखिके इनको क्यों मोहे ॥ अन्त समय के
माहिं तेरा यहाँ कोई नहिं होवे ॥२॥ भज परमातम एक वरे
बढ़ सब दुख का लावे ॥ जनम मरन का छुटि जाय चक्कर,
आनंद जब होय ॥३॥ कर ब्रह्मानंद विचार, गुप्त में क्यों न मन
माय ॥ पूरु निश्चय कर कीजे सुघरे, जब एक ब्रह्म आवे ॥४॥

२६७ झूला (रसिया)

तुझे कहता गुप्त पुकार, वखत यह तुझको पाया है ॥टेक॥ जगत शहर में जीव वेपारी, सौदे आया है ॥ अब सौदा कीजे समझ बहुत टोटे ने खाया है ॥१॥ जो सौदागर सौदे आया, रहने न पाया है ॥ यह काल शेर विकाराल, जिसे सब कोई खाया है ॥२॥ ज्ञान कवच को पहिर, सभी यह झूठी माया है ॥ लिया तत् का तेग बनाय, काल नियरे नहिं आया है ॥३॥ जिस को पाया है नफा, सोई ब्रह्मानन्द न्हाया है ॥ गोता गुप्त लगाय, धुर फिर उलट न आया है ॥४॥

२६८ झूला (रसिया)

रंग बरसै ब्रह्मानन्द, चन्द जहां सूर नहीं तारा ॥टेक॥ ना कोई परकाश जहा पर, न कोइ अन्धियारा ॥ हम देखा तराजू तोल नहीं, कछु हलका नहीं भारा ॥१॥ जहां नहीं पिंड नहि प्राण, नहीं कोइ आधेय आधारा ॥ जहाँ सूक्ष्म स्थूल, तहाँ कोइ म्हारा नहिं थारा ॥२॥ जहा एक नहिं दोय, वहाँ कोइ मिला नाहि न्यारा ॥ सब माया गई बिलाय, छूटि रही है चेतन धारा ॥३॥ जहा नहिं गुप्त नहिं प्रगट, जीव अरु ब्रह्म सभी जारा ॥ जहां नहिं ध्रुव नहिं चले, जहाँ पर मधुर नहीं खारा ४॥

२६९ झूला

घट में भया ज्ञान का घोट, पीसि पिये बुद्धि और आभास ।टेक। व्यापक ब्रह्म आपको जान्या, पूरण सदा प्रकाश ॥ जीव ईस की मिटी उपाधी, कैसे अब करिये कर्म उपास ॥ १ ॥ स्वर्ग अरु नरक एक करि जान्या, रही न यम की त्रास ॥ भेद भरम सब दूर हुवा, सोई कुम्भो सोई कैलास ॥ २ ॥ ब्रह्मपुरी अरु भंगी का घर, सबही होय नास ॥ ऐसी बात समझ के प्यारे, सब छुटी जगत की आस ॥ ३ ॥ अन्धकार मिटि गया, दसूँ दिशि हुवा ब्रह्म उजिआस ॥ गुप्त रूप भया परघट, ध्रुव अब करन लागे हास ॥ ४ ॥

२७० झूला

जिसको समझी पद रमन तिमों की दूरि हुई शंका ।टेक। कहिगया कोट अज्ञान टूटी जैसे रावन की लंका ॥ सब काम असुर हुये नाश काल रावन का किया फंका ॥ १ ॥ चढ़ि उतरे ज्ञान के खेत, जिज्ञासु रामचन्द्र बंका ॥ अब पाई सीता मोक्ष जीव का बाजा है डंका ॥ २ ॥ ब्रह्मराज में अचल भया सब, सुखी भई रंका ॥ चढ़ि सुरती पुष्प विमान, अवध का आनि किया हांका ॥३॥ आनन्द में सब अवध बीतती, शोक सब दूरि हुवा मन का ॥ ध्रुव

गुप्त ब्रह्म को पाय, फेर कछु शोच नहीं तन का ॥ ४ ॥

—०—

२७१ ख्याल (मस्ती)

कोइ हाल मस्त कोइ माल मस्त, कोइ मैना तीतर सूये में ॥
कोइ खान मस्त पहिरान मस्त, कोइ राग रागनी धूहे में ॥
कोइ अमल मस्त कोइ रमल मस्त, कोइ सतरंज चौपड़ जूये में ॥
यक खुद मस्ती बिन और मस्त, सब पड़े अविद्या कूवे में ॥ १ ॥
कोइ अकल मस्त कोइ शकल मस्त, कोइ चचलताई हाँसी में ॥
कोइ वेद मस्त कत्तेव मस्त, कोइ सेवक में कोइ दासी में ॥
कोइ ग्राम मस्त कोइ धाम मस्त, कोइ मक्के में कोइ काशी मे ॥
यक खुद मस्ती विन और मस्त, सब फँसे अविद्या फाँसी में ॥२॥
कोइ हाट मस्त कोइ घाट मस्त, कोइ वन परवत उजियारा में ॥
कोइ जात मस्त कोइ पांति मस्त, कोइ तात भ्रात सुत दारा में ॥
कोइ धरम मस्त कोइ करम मस्त, कोइ मजहब ठाकुर द्वारा में ॥
यक खुद मस्ती बिन और मस्त, सब वहे अविद्या धारा में ॥३॥
कोइ पाठ मस्त कोइ ठाठ मस्त, कोइ भैरों में कोइ काली में ॥
कोइ ग्रन्थ मस्त कोइ पन्थ मस्त, कोइ खेत पीतरंग लाली में ॥
कोइ काव्य मस्त कोइ ख्वाव मस्त, कोइ पूरण में कोइ खाली में ॥
यक खुद मस्ती बिन और मस्त, सब फँसे अविद्या जाली में ॥४॥
कोइ राज मस्त गज बाज मस्त, कोइ छपरे में कोइ पूले में ॥

कोइ युद्ध मस्त कोइ सुन्द्र मस्त, कोइ खड्ग कुठार बसूले में ॥
कोइ प्रेम मस्त कोइ नेम मस्त, कोइ छींके में कोइ मूले में ॥
यक ख़ुद मस्ती बिन और मस्त सब पड़े अविद्या भूले में ॥ ५ ॥
कोइ साकि मस्त कोइ खाक मस्त, कोइ मल मल में कोइ खास में ॥
कोइ योग मस्त कोइ भोग मस्त, कोइ स्थिर में कोइ चपल में ॥
कोइ ऋद्धि मस्त कोइ सिद्धि मस्त, कोइ लेन देन की कलकल में ॥
यक ख़ुद मस्ती बिन, और मस्त सब फँसे अविद्या दलदल में ॥६॥
कोई रदन मस्त कोइ वदन मस्त, कोइ पशु पक्षी के सावक में ॥
कोइ नैन मस्त कोइ बैन मस्त कोइ लकड़ी में कोइ चाबुक में ॥
कोइ सैन मस्त कोइ चैन मस्त, कोइ नइया में कोइ बालक में ॥
यक ख़ुद मस्ती बिन और मस्त सब पड़े अविद्या पावक में ॥७॥
कोइ इस्त मस्त कोइ भ्रष्ट मस्त कोइ नलिनी में कोइ भाले में ॥
कोइ नाम मस्त कोइ चाम मस्त, कोइ ईंटे में कोइ लम्बे में ॥
कोइ इल्म मस्त कोइ चिल्म मस्त, कोइ मल्हार में कोइ पाली में ॥
यक ख़ुद मस्ती बिन और मस्त सब कटे अविद्या कॉली में ॥८॥
कोइ जीव मस्त कोइ सीव मस्त, कोइ पुस्तक में कोइ पानी में ॥
कोइ मूल मस्त कोइ तूल मस्त, कोइ साखा में कोइ बहने में ॥
कोइ लोक मस्त परलोक मस्त, कोइ खाने में कोइ गाने में ।
यक ख़ुद मस्ती बिन, और मस्त सब कैद अविद्या खाने में ॥९॥
कोइ कर्म मस्त कोइ धर्म मस्त कोइ बाहर में कोइ अन्दर में ॥
कोइ देश मस्त परदेस मस्त कोइ औषध में कोइ मन्तर में ॥

कोइ धाम मस्त कोइ वाम मस्त, कोइ नाटक चेटक तन्तर में ॥
यक खुद मस्ती बिन, और मस्त सब भ्रमे अविद्या जन्तर मे॥१०॥
कोइ पुष्ट मस्त कोइ तुष्ट मस्त, कोइ दीरघ में कोइ छोटे में ॥
कोइ गुफा मस्त कोइ सभा मस्त, कोइ तूबे में कोइ लोटे में ॥
कोइ ज्ञान मस्त कोइ ध्यान मस्त, कोइ असली मे कोइ खोटे मे ॥
यक खुद मस्ती बिन और मस्त, सब घुटैं अविद्या सोटे में ॥११॥
कोइ मजब मस्त कोइ गजब मस्त, कोइ कौड़ी में कोइ पैसे में ॥
कोइ एक मस्त कोइ दोय मस्त, कोइ गैया मे कोइ भैंसे मे ॥
कोइ मण्डल मस्त कोइ पण्डल मस्त, कोइ चेले मे कोइ चेली में ॥
यक खुद मस्ती बिन और मस्त, सब चले अविद्या गैली में॥१२॥
कोइ टूक मस्त कोइ भूख मस्त, कोइ नगे में कोइ चगे में ॥
कोइ भवन मस्त कोइ गवन मस्त, कोइ मौन मस्त कोइ दगे मे ॥
कोइ नदी मस्त कोइ बदी मस्त, कोइ तीरथ में कोइ चेतर में ॥
यक खुद मस्ती बिन और मस्त, सब जमे अविद्या खेतर मे ॥१३॥
कोइ टिकट मस्त कोइ विकट मस्त, कोइ घटी में कोइ सिगल में ॥
कोइ तार मस्त पलगार मस्त, कोइ कसरत कुश्ती दंगल में ॥
कोइ बूट मस्त कोइ कोट मस्त, कोइ टोपी में कोइ कुर्त्ते में ॥
यक खुद मस्ती बिन और मस्त सब, कुटे अविद्या जूते में ॥१४॥
कोइ राग मस्त कोइ बाग मस्त, कोइ ढोलक झांझ सितारे में ॥
कोइ शेल मस्त कोइ महल मस्त, कोइ करते शयन चौवारे में ॥
कोइ ताल मस्त कोइ ख्याल मस्त, कोइ सारगी धोतारे में ॥

यक सुद मस्ती बिन और मस्त सब, बस अविद्या गारे में ॥१५॥
कोइ रस मस्त कोइ संग मस्त, कोइ सन्यासी पन्थाई में॥
कोइ कुंभ मस्त कोइ जंग मस्त, कोइ पटे मलेहेटो रमाई में॥
कोइ हिन्दु मस्त कोइ मुसल मस्त, कोइ काजी पंडित मुल्ला में॥
यक सुद मस्ती बिन और मस्तसब, फँसे अविद्या गल्लम में ॥१६॥
ये लौकिक मस्त कहां लगा बरनों, है माया के दंगल में॥
करै कौन इनकी गिनती, सब अपने है रह संगल में॥
यक छिन में रहे पुष्ट यक, छिन में स्थित लगा अमंगल में॥
यक सुद मस्ती बिन और मस्त सब, भूलि रहे अविद्या जंगल में ॥१७॥

दोहा—

वस्तु अनातम में फँसे, त्यागा आतम रूप।
दुनियां में भटकत फिरे, ते मूढन के भूप॥
आतम वस्तू त्यागि के, करें जगत की आस।
मृग तृष्णा के नीर से, दूर न होवे प्यास॥

२७२ छप्पय छन्द

सो मर आये संत अंत जिन जगत्को कीना, करी अविद्या नास आप परिपूरण चीना ॥१॥ रह्यो न भेदको मूल शुद्ध अज्ञान हिराना, अगम अमल अपार रूप जिन निश्चय आना ॥२॥ शंका रहान कोम मोह व्यापै नहिं माया ना कोई दाव न भाव नहीं कोइ जन्मी जाया ॥३॥

सदा अखंडित आतमा, चेतन पूरण शुद्ध ।
गुप्त गली मे बैठ कर, कोइ लखे संत पर बुद्ध ॥ ४ ॥

२७३ छप्पय छन्द

जग तजे न माया मोह, नाम 'अतीत कहावे । घर में लेहि कुसीद भीख पुनि माँगन जावे ॥१॥ कहैं एकांत वनवास संग बहु द्वंद तचावें, सोवे निरंतर रात दिन, कहे हम ध्यान लगावे ॥२॥ सो धन मध मलीन मुख, भूप सेज कर पौल पर ॥ वन लिपस्या व्याकुल महा, सरमा पति समाहृत पर ॥३॥ हर का पंथ सो दूर पंथ वह आप चलावें, रही फकीरी दूरमांगिकर पेट अघावें ॥४॥ रैनि करें रति भोग दिने पुनि भस्म रमावै ॥ आप करें सब पाप और को धर्म सुनावें ॥५॥

इस भांति अतीत जो मैं लखे नख शिष तें अभिमान अति ।
निशि वासर दमड़े चहे कबहुँ न होवें राम रति ॥ ६ ॥

दोहा—

चाम चिरड़ सब जगत है, चक चूंघर पढ़ी पुरान ।
षट शास्त्री पागल भगे, वेदांती को उल्लू जान ॥
ये चारिहु अन्धे भये, बिना स्वरूप के ज्ञान ॥
गुप्त रूप में घट लखो, नित्य अनित्य को ज्ञान ॥

२७४ मराठी छन्द

जब तू भूला अपने आपको तब से पाप लगा भारी, जन्म

मरन का अन्त न आया, बहुत धरा सिर पर भारी ॥ कभी भया तू पुरुष नपुंसक, कभी भया है बल धारी ॥ भये बड़े योधा रण में जीते, युद्ध किया है अति भारी ॥ कभी भया तू राजा राना, कभी भया आज्ञाकारी ॥ कभी तो दर दर फिरे माँगता, भये सन्यासी भरु ब्रह्मचारी ॥ कभी तू ब्रह्मा कभी तू विष्णु, कभी बना है त्रिपुरारी ॥ सब पुरीका अधिपति होकर, भोग भोग बहुत भारी ॥ जब लग अपना आप न जाना, तब लग बिपति सही भारी ॥ अब तो कहूँ समझले प्यारे, मार अविद्या मंजारी ॥ जाकी मनको पकड़ि पछारो, बश कीजे पाँचो नारी ॥ तत्वमसीका अर्थ विचारो, छोड़ि जगत का सब धारी ॥ गुरु वेद का आशय समझो, श्रद्धा करिके अति भारी ॥ तत्व मसीका अर्थ बतावें ऐस गुरु पर बलिहारी ॥ वाच्य अर्थ का त्याग करो, अरु लक्ष्य अर्थ को कर त्यारी ॥ गुप्त रूप घट माँहि विचारो, बात कही सो सो सारी ॥

२७५ मराठी छन्द

जो तू सधा राम सन्ती फेर जगत स नेह क्या ॥ जो तुमने घरबार तजा सब, फेर तुम्हारे में काम क्या ॥१॥ दुख रूप जान कर कुटुम्ब तजा फिर, सेवक सती में अराम क्या ॥ जाति बरण सब छोड़ि दिया, तब फेर मजब की दूकान क्या ॥ ॥ सो है मूरख रामसनेही जो इस वार्ता में अटकाया ॥ राम दुवारा में कथा सुनावे हाथ लिये बाणी गुटका ॥२॥ औरन को उपदेश बतावे आप फिरे जगमें भटका ॥ ज्ञान ध्यान की राह न पाई, कनक कामिनी

में अटका ॥४॥ गुप्त मते की खबर नहीं फिर, क्या फेरे कंठी माला ॥ चेला चेली फिरे मूंढता रामसनेही का साला ॥४॥

२७६ मराठी छन्द

पहल्वान जग के वहु जीते, फते किये कुल ही सारे ॥ मद हंकार मान मे धस गया, अन्दर लूट रहे सारे ॥ ये नित्य झपट रहे हैं तो पर, चश्म खोल देखो प्यारे ॥ क्या मस्त हुवा तू फिरे जगत में, तेरे अन्दर पहल्वान भारे ॥ यक पहलवान मन चालीसा है, जिसके ये चेले सारे, दस शागिर्द संग में रहते, पेंच करे न्यारे न्यारे ॥ जो कोई इन से कुश्ती जीते, पहलवान होवे पूरा ॥ कायर को ये पकड़ि पछारे, कोई जीतत है शूरा ॥ जिन गुप्तानन्द को पाय लिया, उन कुश्ती जीतो दंगल में ॥ हर्ष शोक सब मन के नाशे, अवध जात है मंगल मे ॥

२७७ त्रोटक छन्द

आतम नितही परकासत है, तत्व वेत्तनकों यों भासत है ॥ जाग्रत में सवको जानत है, स्वप्नेके माहिं पिछानत है ॥१॥ सुषुपति में सवका भोग करे, तुरिये मे साक्षी रूप धरे ॥ यह आतम अनुगत एक रहे, सब देहन का व्यतिरेक रहे ॥ २ ॥ विश्व नहिं तेजस प्राज्ञ सभी, तुरिया तो कैसे होय जभी ॥ ऐसा निज आतम रूप तुही ॥ अस्ति भाति प्रिय रूप सही ॥ ३ ॥ सो व्यापक ब्रह्म अखण्ड सदा, तिसको नर जाने मूढ जुदा ॥ सत चेतन आनन्द शुद्ध तुही, धोखे महँ दुनिया जात वही ॥४॥

२७८ त्रोटक छन्द

सतसंगति नौका बैठत ना, सतगुरु केवटिया आंचत ना ॥ कैस उतरे भव पार जना, दिन रात लगा भव धाम मना ॥ १ ॥ तरने का सकल समाज बना, वृथा डूबत हैं मूढ़ जना ॥ सतगुरु के शब्दा लागत ना य मोह नींद स जागत ना ॥२॥ नित चौमुखार जगावत है, फिर आलस कर सोजावत है ॥ जब घोर निशा में लूटत है, जाग तब धाती कूटत है ॥ ३ ॥ जब परम सुखी है अन्दर की, सब वस्तु भारी मन्दिर की ॥ जब गुप्तरूप को पाया है, नहिं काल कर्म जहं माया है ॥४॥

२७६ त्रोटक छन्द

जहां राम रहीम करीम नहीं । अस्सा ईश्वर की सीम नहीं ॥ जहं रंग रूप का भेद नहीं । कोई स्थिरता अरु सम नहीं १ ॥ जहं कागज स्याही कलम नहीं । लिखना पढ़ना कोइ इल्म नहीं । जहं वेद कतेब कुरान नहीं । कोइ देवल देव निशान नहीं ॥ २ ॥ जहं चन्दन तारा भानु नहीं । कोइ साधन साध्य अरु ज्ञान नहीं ॥ अष्टांग न योग समाधी है । कोइ सादी नाहिं अनादी है ॥ ३ ॥ चेतन चमकारा चमकत है । जहं ज्ञान ध्यान सब कल्पित है ॥ जो इन गलियन में आवेगा । सो गुप्तरूप को पावेगा ॥४॥

दोहा—

जो दीखे सो है नहीं, नहिं दीखे सो जान ।
युक्ति लक्षणा कीजिये, अरु अनुभव परमान ।

२८० वैत (वार)

आदित्यवार निवार सब, संभार अपने आप को ॥ और भरम सब छोड़िकर, नर जपो असिमजाप को ॥१॥ सोमवार अब धार समता, जार दूजा भावबे ॥ मनुप जन्म की मौज पाई, फेरन ऐसा दावबे ॥ २ ॥ मंगलवार निहार ले छवि चहूँ दिशि आनन्द भयो ॥ सत्त चित्त आनन्द एक लखि, सब ताप त्रय मन के गये ॥३॥ बुद्धवार विचार ले, अपार वार सरूप वे ॥ पारा वारकी गम्य नाहीं, नहिं जहं छाया धूपवे ४ ॥ वृहस्पतिवार उच्चारता गुरु, गम्य लखि वेहद गये ॥ हदका दरजा छोड़ि कर, तुह देख आनन्द नित नये ॥ ५ ॥ शुक्रवार पुकारि कहता, पश्चिम को मत जाइवे ॥ पश्चिम दिशा को शूल है, नर आवे पैर फोडाय वे ॥ ६ ॥ शनिचरवार जोहार गुरु को, करत हजारन वार वे ॥ पकडि भुजा जिन काढिया, जन वहे जात मझधार वे ॥७॥ सात वार विचार ले, नर सार सब तोसों कहा ॥ तत्वं पद को शोधिले, फिर गुप्त असिपद तुहि भया ॥ ८ ॥

दोहा—

वार वैत के अर्थ का, मन में करै विचार ॥
जीवन मुक्ति लहे वही, जन्म न दूजी वार ॥
साक्षी पूरन एक है, डोगर डहर दयाल ॥
अर्धऊर्ध अरु दसों दिशि, ना कहुं जोरा काल ॥
सो आतम कूटस्थ है, नहीं ब्रह्म से भेद ॥

भेद पाप को दूर कर, खड़ा पुकारे वेद ॥
भेद उपाधी कृत्त है, सो तू मिथ्या जान ॥
तू भूमा सुख रूप है, यही ब्रह्म का ज्ञान ॥
और ज्ञान सब ज्ञानकी, ब्रह्मज्ञान सोइ ज्ञान ॥
जसे गोला ताप का, करता जाय मैदान ॥

२८१ बैत

यदि जानि आतम सार वे, जो भावे मुक्त सुजन में सबहि को जान असार वे ॥१॥ नौशाखिये हैं काल ने चौबीस पर भी मारवे ॥ जो चक्रवर्ती राजथे, सब ही की नहि गई झारवे ॥२॥ अनगिनत विष्णू चतुरमुख थे, अनगिनत शंकर गये ॥ इनसे भारी और भी सब काल ने चटनी किये ॥३॥ आगे जो बाकी रहे, एक दिन सब को जायब ॥ तारा धरा सुमेरु चारु, सब ही भस्म होय जाहि वे ॥४॥ यह समझ चाव विचारले इस देह की क्या आस वे ॥ फंसि कर अविद्या जाल में, झूठ करे परपंच वे ॥५॥ वेद सत्यवादी क्यों तिसकी भी मान नाहिं व । मन झूठा नाम मय रूप है, क्यों उपजता तिस माहि वे ॥६॥ जिमि नाम नामी भासते हैं, स्वप्न के संसार व ॥ पूज्य पूजक और पूजा द्रव्य के आधार वे ॥७॥ तुम आप केवल गुप्त परपद, करके दृढ़ समझ वे ॥ सो समझ तेरा रूप है, सब कामू कम काज व ॥८॥

२८२ सवैया छन्द

पिय से नाहिं मिली अबकी, तब गुरो के लोक सों लखि रहो

है ।। जव साज सज्या तव खेल तज्या, वह वाप के ताख मे मेलि गई है ।। जैसे स्वप्ने मे देव वनाय लिया, तिस देवकी सेव में आयु गई है।। जागि उठावत देखि रहा,तहाँ देवरु दास की गंध नहीं है ।।

सोरठा—

गुप्त गली के माहिं, ना कोई देव न दास है ।।
दीजो भर्म वहाय, एक अद्वितीय आप है ।।

२८३ वैत

बंदे जान आतम रूप वे, इस नर के तन को पाय कर क्यो पड़त है भव कूप वे ।। भव तरन काया घाट है,सतसग नौका वैठ वे ।। मिलि कर गुरू मल्लाह से, इस भवके सकट काटिवे ।।१।। जो काज करना कालि है, कर लीजिये तिसे आजवे ।। नहिं खवर क्षण एक की, यह विगड़ी जावे साजवे ।।२।। इस धोखे में वहुत गये हैं, आनि पकड़े कालवे ।। माटी मिलाये भूप भारे लुटगये धन माल वे ।।३।। भक्ती करम निष्काम के अव, साज को तुह साज वे ।। जिस करके पावे ज्ञान को, इस जगत से मत लाजि वे ।। ४ । सव ही अविद्या जाल की, यह ईश ने भेपज रची ।। 'अहं-ब्रह्म' मैं आप हू, यह वात जिन के उर जची ।।५।। जनम जिसका सफल है, पाया है अपना आप वे ।। शांत होके विचरते, छुटि गये हैं तीनों ताप वे ।।६। शका न माने लोक की, कछु समझते नहि वेद वे । गुरु वेद या भय मानते हैं, जिनके कुछ भेद

से ॥७॥ यह गुप्त गुप्तानन्द है, जिनको नहीं दुख प्रद से ॥ बरि आप दिव्यानन्द है, नहिं पड़े यम के फंद से ॥७॥

दोहा—

साबुन ज्ञान लगायकर, माया मल को धोय ॥
धीका छिका फटकारि ले, फेर न मैला होय ॥

२=४ वेत तिथी

पूनम पूरण आतमा है, अस्ति भाति प्रिय सदा ॥ सत्‌चित् आनन्द एक है, सब से मिला सब से जुदा ॥१॥ एकम् एक निहार ले, नर कहा देखे दूर पे ॥ इसके जलबिम्ब ज्यों सदा, सो समझ तेरा मूर पे ॥२॥ दूज दुतिया दूरकर, तू सदा आपहि आप पे ॥ जन्मा न मूवा है कभी कोइ नहीं माई बाप पे ॥३॥ तीज तीनों से जुदा, दुक खोल चश्मे जाग पे ॥ जाग्रत स्वपन सुषोपति, नहिं विश्व तैजस माझ पे ॥४॥ चौथा चौथा पद है तुरिया, सब फूलन का फूल पे ॥ शुद्ध सर्व में अनुस्यूत है, नहिं कारण सूक्ष्म स्थूल पे । ५॥ पंचमी म पंचोकोष तू नर, सर्व का परकाश प ॥ तू आप चेतन है सही, फिर करे किसकी आस प ॥६॥ छट छान देखो दूध पानी, हंस होकर आप पे ॥ तू आप मालिक सुदमुदा फिर करे किसका जाप प ॥७॥ सातम सुख सरूप तेरा दुःख का नहिं लेश पे ॥ तू कहा भूला भरम में, दुक समझना अपना देश प ॥ ८ ॥ आठम आठों पुरी खोजो, आपन आप सँभाल प ॥ भूत भाविष्यत् वर्तमान, तहं सब काल्हन

का काल वे ॥९॥ नवमी नव द्वारन पुग्या यह, देही आतम आप वे ॥ करता नहीं करावता कछु, नहीं पुन्य न पाप वे । १०॥ दसमी दम का खोज करले, देख आप संभाल वे ॥ यह जड़ हवा नहिं रूप तेरा, तुंह लालन का लाल वे ॥११॥ एकादशी का वर्त आया, कीजे ताहीं संभाल वे ॥ दस इन्द्री मन रोकना, सब,छाडि जग जंजाल वे ॥१२॥ द्वादशी दसों दिशि आतमा है, व्यापक ज्यों नभ रूप वे ॥ दूजा हुया नहीं होयगा, किसकी दिये तहँ ऊप वे ॥ १३ ॥ त्रयोदशी जहँ त्याग नाहीं, ग्रहण भी कछु नाहिं वे ॥ कर्ता क्रिया कर्म नाहीं, नहिं न्यारा नहिं माहिं वे ॥१४॥ चौदश चतुर्दशभुवन नाहीं, नहीं तीनों लोक वे ॥ राग द्वेश की गन्ध नाहीं, नहीं हर्ष न शोक वे ॥१५॥ पंचदशी पावन आतमा जहं नहिं प्रकाशत चन्द वे ॥ बन्ध मोक्ष का भर्भ तज, तुह आप गुप्तानन्द वे ॥ १६ ॥

दोहा—

तिथी बैत के अर्थ का, चित दे करो विचार ।
जो याको धारन करै, पहुचे भव के पार ॥

२८५ बैत (नैष्ठिक)

जिस कारन फिरा वन परवत मझार ॥ और देखे है हमको हजारों वजार ॥ पाया नहीं हमें उसका दिदार ॥ इस जग में हुया हूँ मैं अतिशय खुवार ॥१॥ मिले मुरशद हमें जब कीना विचार ॥ इस तन मे लखाया हमें वोही यार ॥ उस दिलवर को

देखो है दिल में बहार ॥ हजारों सूर चन्दा वहाँ लाखों हजार ॥३॥ नहिं बोल मोल नहिं हलका न भार ॥ नहीं दूर नरे कछु नहीं वार पार ॥ सत्गुरु लखाया है समझ जो सार ॥ आपे में दिखाया है अपना दिदार ॥३॥ नहीं वार मोमें नहीं कछु पार ॥ भीतर औ बाहर भरा एक भार ॥ घर में न देखे यह आवे बहार ॥ वस्तु गुप्त इस काया मँझार ॥ ४ ॥

२८६ बैत

पाया है हमको अमोलक जो लाल ॥ मिले सत्गुरु जो पूरे हमको दयाल ॥ काटा है तिनने सब माया का जाल ॥ कीनी मेहर किया हमको निहाल ॥१। मूंठा जग्या यह माया का जाल ॥ जता जहाँ लग ये स्वर्ग अरु पताल ॥ तीनों वखत का जो आने है हाल ॥ जो आनन में आवे सो मूंठा है ख्याल ॥२॥ धन अरु दुनियाँ खजाना और माल ॥ सब रहजाय यहाँ ही जब पकेगा काल ॥ ऐसे कबीरन जो होवेगा हाल ॥ कोई चले ना यहाँ तेरी या नाल ॥३॥ नहिं रिश्वत को लेके यह करता है टाल । करता वखत पर यह सब की परवाल ॥ विवेक अरु वैराग की कीजिये नाल ॥ गुप्त ज्ञान गोली से मारो न काल ॥ ४ ॥

२८७ बैत

इस मनस को रोके यह करता सैतान ॥ नित उठके करता विषयों का जो पान ॥ इस किया लुच गुंडा और जो बेईमान ॥

कुछ देखो समझ के कर अपनी पिछान ॥१॥ वन्दा नहीं अजव तेरी जो शान ॥ तुहीं खुद खुदा है क्यों होता हैरान ॥ टुक समझ के रमज को करदे मुकाम ॥ जिस करके मिलेगा अव तुमको आराम ॥२॥ और कीजे नहीं कोइ दूजा जो काम ॥ खुद अहं खुद अहं कहो आठोहि याम ॥ सव पानी में गेरो कितावो कुरान ॥ कुछ इनते न होता है दिल में आराम ॥३॥ यक सच्चा अलिफ आप झूंठा जहान ॥ सव छोड़ो न यारो मजव की दुकान ॥ तुझै कहता गुप्त यह नुसखा पिछान ॥ करले दवाई होय रोगों की हान ॥ ४ ॥

२८८ बैत

जैसे तिलो मे तेल है गुलो में सुगंध ॥ त्यों काया में आतम सदा है निरवंध ॥ जैसे जल मे दरियाव और कल्पित है सिंध ॥ तैसे काया अरू आतम का जानो सम्बन्ध ॥१॥ जैसे गुणा में होय पन्नग का भान ॥ तैसे आतम में करता कर्म ऐसे जान ॥ जैसे पुंबे के खींचे से छूटे है तार ॥ तैसेहि जानों सव जग का विस्तार ॥२॥ वह तो परिणामी यह विवर्त पिछान ॥ सुवर्ण और भूपण का एकहि मुकाम ॥ जैसे मृदू मे मिथ्या घटादी असार ॥ मन्दिर औ मसजिद सव झूठे वजार ॥३॥ जैसे गगन में नीले का है भान ॥ तैसे आतम में तू काया पिछान ॥ जैसे लोहे में मिथ्या सभी हथियार ॥ गुप्त आतम मे ऐसेहि जानों संसार ॥४॥

बसो है दिल में बहार ॥ झलकें सूर चन्दा वहां अर्बो हजार ॥२॥ नहिं लोक मोख नहिं हलका न भार ॥ नहीं दूर नरे कछु नहीं वार पार ॥ सत् गुरु बताया है सबका जो सार ॥ आपे में दिखाया है अपना दिदार ॥३॥ नहीं वार मोमें नहीं कछु पार ॥ भीतर औ बाहर भरा एक सार ॥ घर म न देखे यह आवे बहार ॥ वस्तु गुप्त इस काया मँझार ॥ ४ ॥

२८६ बैत

पाया है हमको अमोलक जो लाल ॥ मिले सत्गुरु जो पूरे हमको दयाल ॥ काटा है जिनको सब माया का जाल ॥ कीनी मेंहर किया हमको निहाल ॥१॥ मूंठा बन्या यह माया का ख्याल ॥ जहां जहां लग ये स्वर्ग अरु पताल ॥ तीनों वखत का जो जाने है हाल ॥ जो जानन में आवे सो मूंठा है ख्याल ॥२॥ दोन अरु दुनियां खजाना और माल ॥ सब रहजाय यहां हीं जब पड़ेगा काल ॥ देखे कवीला जो होवेगा हाल ॥ कोई चल ना वहां तेरी जा माल ॥३॥ नहिं रिशवत को लेके वह करता है टाल । करता वखत पर यह सब की परताल ॥ विवेक अरु वैराग की कीजिये ढाल ॥ गुप्त ज्ञान गोली से मारो न काल ॥ ४ ॥

२८७ बैत

इस मनस को रोको यह करता सैतान ॥ नित उठके करता विषयों का जो पान ॥ इस किया दुष्ट गुरु और जो बेइमान ॥

के शरने आवे होय अविद्या छारा ॥२॥ सतगुरु जाके बल्ली लगावे पार करे भव धारा ॥३॥ गुप्त मते की बात जनावे देवे मूल सहारा ॥ ४ ॥

२६२ शब्द

जगत् मे सोई नर जानो सूरा । अहम्ब्रह्म शमशेर से जिनने काटि दिया दल पूरा ॥टेक॥ महाबली अज्ञान राव का, दल साजा है पूरा ॥ सेनापति कामादिक भट हैं, बाजे जिनके तूरा ॥१॥ दुसरा दल है ज्ञान बली को, सो योधा रणधीरा ॥ सेनापति शील है जाके, सो वीरन का धीरा ॥२॥ दोउ दल आन जुड़े हैं सन्मुख, होरही घूरम घूरा ॥ चली तेग तलवार अरु बरछी, शब्द हुया है पूरा ॥३॥ कायर होय सो भगे उलटि के, पग रोपे सो सूरा ॥ आगे ही को पैर धरत हैं, मार करे चक चूरा ॥४॥ कायर का मुख पीला पड़ गया, मन में धरे न धीरा ॥ ॥ सूरा अडिग लढ़े रण माहीं, जा मुख बरसे नूरा ।५॥ दोउ राजन का मन है मंत्री, काज करत है पूरा ॥ ताके दोय रूप तुम जानों, यक खाकी यक नूरा ॥६॥ खाकी को जिन पकडि पछारा, वश कीना है नूरा ॥ पाँच पचीसों अफसर मारे, जब बजे ज्ञान का तूरा ॥७॥ गुप्त खजाना मिला मूलसे, जब सतगुरु मिलिया पूरा ॥ ब्रह्मराज मे अदल जमाया, जीत लिया तम कूरा ॥८॥

२६३ शब्द

जगत् में सोइ नर जानो सन्यासी ॥ वर्ण आश्रम मजब पन्थ

२८६ चेत

जो समझे हमारे जिगर की जो बात ॥ इस दुनियां में गोता सो कबहूँ न खात । तुही ब्रह्म व्यापक तुही सुख सुदा ॥ यही दुख भारी जो माने जुदा ॥१॥ तूने स भय होकर देखो विचार ॥ यही कहते हैं बाई और पारी पुकार ॥ इस मिथ्या पर दावा न कीजे पार ॥ सब झूठे सौदागर और झूठे बाजार ॥२॥ यह आतम चेतन है सब का आधार ॥ तीन गुन हैं सब झूठे आकार ॥ तूही आप व्यापक है पूरण जो ब्रह्म ॥ जो दुनिया और कहिय सो मूंठा है भर्म ॥३॥ सत गुरु स जिसको यह पाया है मर्म ॥ जिसको न होता है जग में शरम ॥ गुप्त रूप का पाया है जिसने आनन्द ॥ सो सदा सुखी शांत जैसे पूनम का चन्द ॥४॥

२९० शब्द

मन तू क्यों डूबे मझधारा, ले संतसंग सहारा ॥ टेक ॥ भर तन मव वारिधि के बेरे, या चढ़ि होउ पारा ॥१॥ कठिन समाज दुर्लभ सब पायो, फिर क्यों बहे गंवारा ॥ २ ॥ या नर तन को सुर वांछत है, सो तैं कियो खुवारा ॥३॥ या तन मांहि गुप्त हरि है, मूल फूल फल सारा ॥ ४ ॥

२९१ शब्द

मन तुम हरि भज उतरो पारा, और न कछू गुजारा ॥टेक॥ भवसागर में सतसंग नैया सतगुरु खेवनहारा ॥१॥ जब सतगुरु

नापैद काल मारत है घेरि घेरि ॥ समझै ना सैन तोको कहे कौन वेर वेर जी । तत्वमसी वाक्य याको कीजिये विचार । वाच्य अरु लक्ष याके दोनो लीजे निरधार ॥ लक्ष निज रूप लखि वाच्य ही को दीजे डार । फिर नहीं पड़ते भव कूप ॥३॥ सुनी यह बात जाके आय गयो एतवार । जाने पायो गुप्त ज्ञान सोई नर हुवे पार ॥ होती ना शरम कछु, लागे नाहीं यामें वार जी ॥ आतमा अद्वैत लखि दूरी हुवा द्वैत ज्ञान' । जानि लई रज्जू, तब होत नासर्प भान । देह में अध्यास तैसा आतमा में अभिमान । यह अवधि ज्ञान स्वरूप ॥४॥

२९५ शब्द (चाल—डगरिया)

व्यापक ब्रह्म अचल अविनाशी, पूरण शुद्ध अनाम हो ॥टेक॥ जग इच्छित इच्छा जग रचियो, तन धरि धारत नाम हो ॥ ईश्वर जीवसीव सोइ बनिआ, संग माया करे काम हो ॥ १ ॥ यक बाधत यक छोड़त जग में, यक बंधे धन धाम हो ॥ यक त्यागी वनि वन वन डोलत, यक इच्छित सुत वाम हो ॥ २ ॥ यक भक्ती कर संग संतन के देखत आतम राम हो ॥ विषयासक्त विषयसग बँधिया पेखत पामर चाम हो ॥ ३ ॥ सृष्टी प्रगट यह नष्ट होजावे, आखिर गुप्त मुकाम हो ॥ ध्रुव सत्र रूप सरूप उसी का, जा बिन सवहि अकाम हो ॥ ४ ॥

२९६ शब्द

क्यों फिरता भटका, अब तू छोड जगत का खटका ॥टेक॥

की काटि दई जिन फांसी ।।टेक।। कवच काच एक कर जाना, ग्रहण त्याग बुधि नासी ।। मन्दिर माझ नहीं कछु जिनके, ना कोइ दास अरु दासी ।।१।। विधि निषेध नहीं कछु जिनके, लोक वासना फांकी ।। स्वयं इच्छा विचरत जग माहीं, क्या मगहर क्या काशी ।।२।। संपद का सब अर्थ विचारा, तब बुद्धि परकाशी ।। काम क्रोध अरु आशा तृष्णा, कारण सहित विनाशी ।।३।। व्यास पद का अर्थ यही है, हुये ब्रह्म के वासी ।। गुप्त प्रकाश भयो घट अन्दर, हुये मूल अविनाशी ।।४।

२६४ छन्द सागीत

भजो पजो हरो निज आतम अजब अनूप । पंच कोष अरु तीन देह में व्यापक ब्रह्म सरूप ।।टेक।। गुरु सो मर्म माहिं गूझ, कछु कीजिये संभाल । घन घर माहीं दबि रहो, नहीं कछु ताकी भाल ।। बिना खबर जैसे दबे रहो कंगाल जी ।। अब कीजिये उपाय तोसो कहत हूँ हाल काया घट माहिं तेरा गढ़ि रह्यो धन माल ।। गुरु अरु वेद कीजे बुधि कुदाल, फिर ह्वै भूपन का भूप ।। पुकारि कहै वेद यामें नाहीं मूंठा बात ।। धन है अखूट सो तो सदा रहे तेरी साथ ।। छूटै माहीं चोधाड़ी खाता फिरे दिन रात जी ।। मूढ़ि धन काज मूढ़ अज्ञान उपाय करे । सच्चा धन खोअत नाहीं एप माहीं जाय मरे । औरहूं कठिन काम अतिशय अनक करे ।। रहे शांति अरु धूप ।।२।। सन्त जो सुजान तोसों कहत है टेरि टेरि, पैसा जो

२६८ (नवीन) होली

करलो मजन सिंगार अब, होली का दिन तो आगया ॥टेक॥ उस दिन से ये होली रचा, जिस दिन जनम को पागया ॥ रंग देखकर इकरार भूलया, जग में गोता खागया ॥ १ ॥ इकरार अपना अदा कर, धोखे मे धोखा खागया ॥ गफलत मे कैसे सोवता, बाजे को काल बजागया ॥ २ ॥ वय जात वाजे झांझ डफ, दम २ पै मुरली सुना गया ॥ जागो भरम की नींद से, वोह राग मारू गा गया ॥ ३ ॥ होली उसी की सफल है, जो आतम तीर्थ न्हा गया ॥ गुप्त गोता लाय के, अज्ञान मैल वहा गया ॥ ४ ॥

दोहा—

होली हरि के नाम से, जलती होवे शान्त ।
जैसे जन प्रह्लाद को, लगी न तत्ती आंच ॥
हरदम होली जलरही, समझन है कोई धीर ।
कारज अपना कीजिये, छानो नीर अरु क्षीर ॥

२६९ धुलेटी

मौति होली फूंकि काया, धूल धूलेहटी मची ।टेक॥ अब धाम वाम तजि कर चला, सब छोड़ि कर बच्चा बची ॥ हाथी घोड़ा पालकी, दौलत रही दुख से सची ॥ १ ॥ मत्था हिलावे सैन लावे, नयन ले आंसू खिंची ॥ अब तो रहना ना बनैं, यह बात अंतर में जंची ॥ २ ॥ खरचा न खाया पुन्न लाया, रोवता लेले

या जग मार्हीं फिरे भरमता, ओहि काम का पटका ॥ सिर से बोझा क्यों नहिं डारे, फोरे मरम का मटका ॥ १ ॥ नाना स्वांग धरेते जग में, कैसा अबका नटका ॥ कनक कामिनी को नित भावे, पीवे विषय रस गटका ॥ २ ॥ सतसंगति की सार न जानी, फिरता सटका सटका ॥ जब सतगुरु के शरने आवे, पावे ज्ञान का खटका ॥ ३ ॥ बाहर से टुक भीतर होकर, खोज करो इस मठ का ॥ गुप्त मूल की अजब मूरती, दरशन कर मोरमुकुट का ॥ ४ ॥

२६७ शब्द

मन तू सुख के सागर बसरे ॥ कहिं और न ऐसा थहरे ॥टेक॥ यह जग मग तृष्णा को गारो, या मे मत धसरे ॥ आतम नीर निकट बहे निर्मल, तू ताको पवि चसरे ॥ १ ॥ यह संसार चीड़ा बोहर का, काग नक और सिकरे ॥ बहुत बेर तोका समझाया ॥ तू यामें मत फँसरे ॥ २ ॥ कनक बड़ाई पाय जगत में ॥ मान किया मतो थहरे ॥ यक घर छोड़ि दिया है अपना ॥ है ला घेरे और बसरे ॥ ३ ॥ या सागर पर गुप्त घाट है ॥ जोति रही जहं बसरे ॥ मूलपै ही पर पग धरि के ॥ तू गोता लगा हंस-हंसरे ॥ ४ ॥

दोहा—

इस सागर पर से बसें, जिनके विमल विवेक ।
बोभक्रियो में फिरत हैं, मच्छी बुगत अनेक ॥

कोप अन्नमय, काहे मे मन लावता ॥ १ ॥ सत्रह तत्वका देह सूक्षम, लोको में जाता आवता ॥ अवस्था है स्वप्न जाकी, कोप त्रयमय गावता ॥ २ ॥ अज्ञान कारण तीसरा, आनन्दमय समझावता ॥ अवस्था जाकी सुसोपति, तेरे में नहीं पावता ॥३॥ साक्षी है दृष्टा तीन का सो तेरा रूप लखावता । गुप्त परघट आप है, जाता नहीं कहीं आवता ॥४॥

३०२ पद

जान्या है अपने आप को, फिर जाप से क्या काम है ॥टेक॥

आतम विद्या जो पढा, उसको क्या वेद पुराण है ॥ जो आनन्द ब्रह्मानन्द मे, विपयो मे कहाँ आराम है ॥ १ ॥ जो न्हाये निरमल ज्ञान से, उनको कहा असनान है ॥ मिथ्या लख्या परपच को, उसको कहा धन धाम है ॥२॥ खुद मस्ती में जो मस्त है, उसको क्या मदिरा पान है ॥ व्यापक लख्या निज रूप को वह किसका धरता ध्यान है ॥३॥ जो आनि पकड्या काल ने, उसको क्या सुबह शाम है ॥ जो गुप्त आतम में जुड्या, उसको कहा सुत बाम है ॥४॥

३०३ पद (पूनम)

पूनम पुरुप तन पाय के, पूजन करो निज आपको ॥ टेक ॥

प्रीती के पुष्प चढाय के, चन्दन लगावो जाप को ॥ करनी केसर घोलि के, कर तिलक हरदम हाथ को ॥ १ ॥ जग पूर्णिमा के बीच मे, जो चन्द पूनम भापतो ॥ त्यों काया मे गुरु आत्मा,

हिची ॥ कौड़ी न लाई सब बचाई, आज तो यह ना बची ॥३॥ तन मन को सच्चा जानता, मरने की नहिं जाने सची ॥ भ्रम गुप्त गोविंद को भजो, जिसने यह सब माया रची ॥ ४ ॥

दोहा—

धूपछांटी जग धूपसम, भामे कोइक सन्त ।
धूप नाम अरूप का, सभी मिरद में अन्त ॥
आतम चेतन शुद्ध में, जगत् नाम है धूप ।
सो तिससे न्यारा नहीं, मिन्न लखै सोई मूप ॥

३०० रसिया (ज्ञान घोड़ा)

अब तो घोड़ ज्ञान के घाड़े, तलक तेग बनाऊँगा ॥ टेक ॥ शुभ गुण बहुत बनाऊं असवर, शील संतोष का घाऊँ बक्तर ॥ विवेक वैराग के पहिरूं वस्तर, सत् संगति रंग चढ़ाऊँगा ॥१॥ प्रेम भक्ति की पाखर डारूं, शम, दम, दोय रकाब सुधारूं ॥ दया की दुमची निर्मल मारूं, सब्र लगाम लगाऊँगा ॥२॥ अज्ञान बली शत्रु को मारूं, युक्ति शस्त्र बनाऊं वारूं ॥ एक फेर में सब को मारूं, गुरु—गम तोप चलाऊँगा ॥ ३ ॥ गुप्त रूप स्वराज को पाऊं, सब पर अपना हुकम चलाऊं ॥ एक कोस चलकर नहिं जाऊं, आप में आप समाऊँगा ।

३०१ पद

वही यार है दिलदार मेरा, सार का बतलावता ॥ टेक ॥ पचीस तत्त्व का देह यह, स्थूल मरता जानता । जाग्रत अवस्था

चेतन देव है, अपनी खबर कुछ न करे ।। उस गुप्त का नहिं भेद जान्या, वृत्त की पूजा करे ।।

३०६ पद

लक्षण कहो उस धर्म का, जिसका कथन करने लगे ।।टेक।। सरूप कारण कौन है, विरधी को कैसे पावता । स्थिती कहाँ पर रहता है, अरु नाश को करने लगे ।।१।। विपाक जिसका कौन है, सब ही कहो समझाय के ।। नाम मात्र वस्तु से, कुछ काज गहि सरने लगे ।।२।। लक्षण बिना परणाम के, कोई वस्तु की सिद्धी नहीं ।। उत्तर सफाई से कहो, बिन मौत क्यों मरने लगे ।।३।। धर्म के समूह की, दस धात हैं वह कौन सी ।। कहते धरम यक अंग को, यह काम क्या करने लगे ।।४।। धर्म धर्मी से जुदा, उसकी खबर तुझको नही ।। उस गुप्त का नहिं भेद जान्या, धर्म में जलने लगे ।। ५ ।।

३०७ पद

करलो जतन उस वतन का, जहं जाके नहीं आना पड़े ।।टेक।। इस लोक की इच्छा तजो, परलोक नहीं जाना पड़े ।। वह लोक अपना रूप है, भगवान गीता में पढे ।।१।। सोई पुरुष है शूरमा, इस मोरचे ऊपर डटे ।। आना जाना भर्म तजि, निज रूप में नित ही लडे ।।२।। खाना तो ऐसा चाहिये, कछु फेरि नहीं खाना पडे ।। न्हाना तो ऐसा चाहिये, कहिं फेरि नहीं न्हा पड़े ।।३।।

परकाश है परकाश को ॥ ७ ॥ जो ऐसी पूनम पूजता, सो खावे तीनों ताप को ॥ मैंले को कैसे पूजता, जिसन पाया निज आप को ॥३॥गुप्त पूरण पूरि रहा, पूजन करो कोइ तासु को ॥ ध्यी न मुग्धी आवता वह स्वास है सब स्वास को ॥ ४ ॥

३०४ पद

गोवार कर विख्यार का, काया दिवाली में सही । टेक ॥ जिसे आंख से देखा चाहे,वह आंखि स दीखे नहीं॥ देखनवाला आप है, तुझ मानि ले मेरी कही ॥ १ ॥ जो स्वप्न माहीं दखता, जाग्रत में वह पाता नहीं॥ दीखे सुन सा भर्म है, यह बात वेदों में कही॥२॥ गोवर गऊ के उदर में, अरु दूध भी रहता वहीं ॥ ईश्वर ने कौना भिन्न बह, जिस माहिं तू गरे वही ॥३॥ वह गुप्त गोवर्द्धन गुही, उसकी खबर मुझ को नहीं । फिरता है जेवपा जाल में कछु सोचता मन में नहीं ॥४॥

३०५ पद

देव तेरा कौन ही है, जिसकी तू आशा करे ।टेक॥ जो दान दवे हाथ से मुख स भजन हरि का करे ॥ ईश्वर की ऐसी नीति है, यह काम करता सो तिरे॥१॥ अपने पुन्य–पाप का फल,सुख अरु दुख को भरे ॥ दूजा नहीं कोइ दव है, अपना करया आपहि मरे ॥२॥ कोइ काम तेरा आय के, वह दव कबहुँ ना करे॥ जो आस करता देव की, वह मनुष गर्दभ स परे ॥३॥ सुद आर

चेतन देव है, अपनी खबर कुछ न करे ।। उस गुप्त का नहिं भेद जान्या, वृत्त की पूजा करे ।।

३०६ पद

लक्षण कहो उस धर्म का, जिसका कथन करने लगे ।।टेक।। सरूप कारण कौन है, त्रिरधी को कैसे पावता । स्थिती कहाँ पर रहता है, अरु नाश को वरने लगे ।।१।। विपाक जिसका कौन है, सब ही कहो समझाय के ।। नाम मात्र वस्तु से, कुछ काज नहि सरने लगे ।।२।। लक्षण विना परणाम के, कोई वस्तु की सिद्धी नहीं ।। उत्तर सफाई से कहो, विन मौत क्यों मरने लगे ।।३।। धर्म के समूह की, दस बात हैं वह कौन सी ।। कहते धरम यक अंग को, यह काम क्या करने लगे ।।४।। धर्म धर्मी से जुदा, उसकी खबर तुझको नहीं ।। उस गुप्त का नहिं भेद जान्या, धर्म में जलने लगे ।। ५ ।।

३०७ पद

करलो जतन उस वतन का, जह जाके नहीं आना पड़े ।।टेक।। इस लोक की इच्छा तजो, परलोक नहीं जाना पड़े ।। वह लोक अपना रूप है, भगवान गीता में पढे ।।१।। सोई पुरुष है शूरमा, इस मोरचे ऊपर डटे ।। आना जाना भर्म तजि, निज रूप में नित ही लडे ।।२।। खाना तो ऐसा चाहिये, कछु फेरि नहीं खाना पडे ।। न्हाना तो ऐसा चाहिये, कहिं फेरि नहीं न्हा पड़े ।।३।।

परकाश है परकाश को ॥ २ ॥ जो ऐसी पूजन पूजता, सो नाशे दोनों ताप को ॥ मैले को कैसे पूजता, जिसन पाया निज साफ को ।।३।।गुप्त पूरण पूरि रहा, पूजन करो कोइ तासु को ॥ दृष्टी न मुष्टी आवता वह स्वास है सब स्वास को ॥ ४ ॥

३०४ पद

दीदार कर दिलदार का, काया दिवाली में सही । टेक ॥ जिसे आंख से देखा चहे,वह आंखि स दीखे नहीं॥ वचनवाच्य आप है, दृढ मानि स मेरी कही ॥ १ ॥ जो स्वप्न माहीं देखता, जाग्रत में वह पाता नहीं॥ दीखे सुन सा मर्म है, वह बात वेदों में कही॥२॥ गोबर गऊ के उदर में, अरु दूध भी रहता वहीं ॥ ईश्वर ने कीन्ह भिन्न वह, जिस माहिं तू गेरे वही ।।३।। वह गुप्त गोवर्धन तुही, उसकी खबर तुझ को नहीं । फिरता है भेड्या चाल में कछु सोचता मन में नहीं ।।४।।

३०५ पद

देव तेरा कौन ही है, जिसकी तू आशा करे ।।टेक।। जो दान दवे हाथ से सुख स भजन हरि का करे ॥ ईश्वर की एसी नीति है, यह काम करता सो तिरे।।१। अपन पुन्य–पाप का फल,सुख अरु दुख को भरे ॥ दूजा नहीं कोइ देव है अपना कर्या आपहि भरे ।।२।। कोइ काज तेरा आय के, वह देव कबहूँ ना करे।। जो आस करता देव की, वह मनुष गश्म स परे ।।३।। सुर आर

३०६ स्तोत्राष्टक

मनुष्यो न देवो नहीं दैत्य यक्ष, पण्डित न मूर्खो कवियो न दक्ष ॥ जाता न आता खोया न पाया, शिव केवलोऽहं निरमैल माया ॥१॥ आश्रम न वर्णा न कुल जाति धर्मा, नहीं नाम गोत्रं शर्मा न वर्मा ॥ जाग्रत स्वप्न नहीं प्राण काया, शिवः केवलोऽहं निरमैल माया ॥ २ ॥ देशो न कालो वृद्धो न बालो, तुरिया वितुरिया नहिं काल जालो ॥ जन्म्या न मूया जाता न आया, शिव' केवलोऽहं निरमैल माया ॥३॥ जीवो न सीवो न अज्ञान मूलं, सुखं न दुखं नहि पाप शूल ॥ कर्ता अकर्ता नही बिंब छाया, शिव' केवलोऽहं निरमैल माया ॥४॥ मौनी न वक्ता बधो न मुक्ता, रागं विरागं नहिं लक्ष लखता ॥ सब वाच्य अवाच्य का महल ढाया, शिव केवलोहं निरमैल माया ॥५॥ सादी अनादी नच में समादी, म्यास्ता न शास्त्रं नहिं वाद वादी ॥ नहीं पक्ष पातं जन्मी न जाया, शिवः केवलोऽहं निरमैल माया ॥६॥ योगं वियोगं नच मे समाधी, माया अविद्या नच में उपाधी ॥ शुद्धो स्वरूपं निरंजनं राया ॥ शिव केवलोऽहं निरमैल माया ॥७॥ गुप्ता न मुक्ता लिपता न छिपता ॥ लोका न वेदा तपता अतपता ॥ एको चिदातम् सब में समाया ॥ शिव केवलोऽहं निरमैल माया ॥८॥ पढ़े प्रात काले कटे यम जाले ॥ तजै आश तृष्णा संतोष पाले ॥ अष्ट स्तोत्रं में मन लगाया ॥ शिव केवलोऽहं निरमैल माया ॥

लेना तो ऐसा चाहिए, फेरि नहीं लेना पड़े ॥ जुड़ना उसी का सफल है, जो गुप्त आतम में जुड़े ॥४॥

३०८ राग–आरती (अष्टक)

भज शिव गुप्तानन्दे, जो कोइ भजन करे मन लाके ॥ कटि जाय भव फन्दे ॥ हर शिव गुप्तानन्दे । टेक॥ आरत मन की सुनों आरती, हे किरपा सिन्धे ॥ मोह जाल की फाँसी माहीं, जीव फिरे बन्धे ॥१॥ समो कहो समझाय, कौन मैं को यह जग बन्धे ॥ अब करो अविद्या नाश, तभी हम होवें आनन्दे । २॥ को ईश्वर को जीव, कौन रहता तिनके सन्धे ॥ क्या माया का रूप, कहो भव सत् चित् आनन्द ॥३॥ आरति कैसे करूँ तुम्हारी, तुम व्यापक जिन्दे ॥ जो कोई तुमरी करे आरती, वह जुड़ी के फन्दे । ४॥ (उत्तर की आरती) मैं मेरा यहि मोह हुआ, अर्जुन को रण मध्य ॥ क्या ज्ञान गीता का, सुन एक समझानी सन्धे । ५॥ शुद्ध चेतन भरपूर, हृदय मन जगत जाल बन्धे ॥ जब होय अविद्या नाश, मिलें तब विद्या के चन्द ॥६॥ करे शुभा शुभ कर्म, भोगता फल सुखदुख द्वन्दे ॥ शिव को कहते जीव, सीव कभु करे नहीं धन्धे ॥७॥ तत् त्वं पद में असि जो चेतन, दोनों का सन्धे ॥ त्रिगुणात्मक मिथ्या माया, गुप्तातम सत्चित् आनन्दे । ८।

दोहा—

पढ़े जो अष्टक आरती सांझ समय चितलाय ॥
कोइ काल अभ्यास ते, समझे सहज सुभाय ॥

है ।।१।। ब्रह्मानन्द का कोई यक कतरा, सब तिरलोकी में छाया है ।।२।। जो आनन्द चक्रवर्ती का, अरु ब्रह्मा के तक गाया है ।।३।। ब्रह्मानन्द आनन्द के आगे, सब आनन्द–भास सुनाया है ।।४।। ब्रह्मलोक वैकुण्ड पुरी लग, सभी काल ने खाया है ।।५।। तन धन में आनन्द हो वैठे, यह स्वपने के सी माया है ।।६।। जिस आनन्द को प्रापत होके, और न आनन्द चाहा है ।।७।। गुमानन्द के गुप्तानन्द मे जो नित उठि गोता लाया है।।८।।

३१२ रंगति-मजेदार

सो मजा न महंगा सस्ता है, जहं संत लाड़िला वसता है । टेक।। घाट वाट कुछ पावत नाहीं, वह विकट महल का रस्ता है ।।१।। नीम मडेरन नाहीं महल के, कोई कैसे उसमे फंसता है ।। २ ।। जो करते निष्काम कर्म को, अरु मन इन्द्रिय को सकता है ।। ३ ।। साधन चार चले रस्ते में, सत गुरु के संग धंसता है ।। ४ ।। अक्कल का वक्कल सब फूटा, वे अक्कल सौदा जचता है ।। ५ ।। दूनी द्वैत पर आग लगी है, वह आशिक वैठे हंसता है ।। ६ ।। कहा कहू शोभा अरु सुख की, लिया मुक्ति हाथ गुलदस्ता है ।। ७ ।। गुमानद को परघट जाना, सो घट घट माहीं लसता है ।। ८ ।।

३१३ रंगति-मजेदार

क्या मजा मिला जिन्दगानी में, सब खो दई उमर हरामी

३१० राग-ब्रह्म अभ्यास

करो वृत्ती ब्रह्माकार, मजा कुछ अपपार ॥टेक॥ अजी एजी उठत बैठत ब्रह्म, ब्रह्म चलिकर जावे ॥ सोवत जागत ब्रह्म, ब्रह्म पीवत खावे ॥१॥ अजी एजी सेव दत है ब्रह्म, ब्रह्म झगड़ा ठावे ॥ देखत सुनता ब्रह्म, ब्रह्म नाचे गावे ॥२॥ अजी एजी मन बुद्धि चातिक ब्रह्म, ब्रह्म धारय न्हावे ॥ उपवास करत है ब्रह्म, ब्रह्म पूजा लावे ॥३॥ अजी एजी कर्म उपासन ब्रह्म, ब्रह्म आवे जावे ॥ करत काज सब ब्रह्म ब्रह्म ही भरमावे ॥४॥ अजी एजी उपजन हारो ब्रह्म, ब्रह्म ही उपजावे ॥ पालन करता ब्रह्म, ब्रह्म ही व्यापि जावे ॥५॥ अजी एजी समावन हारो ब्रह्म, ब्रह्म ही समझावे ॥ खोजन हारो ब्रह्म, ब्रह्म ढूंढे पावे ॥६॥ अजी एजी त्यागी रागी ब्रह्म, ब्रह्म सब करवावे ॥ जीव ईस सब ब्रह्म, ब्रह्महि भुगतावे ॥७॥ अजी एजी गुमरु परपट ब्रह्म, ब्रह्म जहं मन जावे ॥ यों अभ्यास जो ब्रह्म, ब्रह्म ही हो जावे ॥८॥

दोहा—

कीट भिरंगी होत है, पुन पुन अभ्यास ॥
सुनि भृंगा के शब्द को, भृंग होय उड़ जात ॥

३११ रगति मजेदार

कुछ मजा उसी को आया है, जो आप में आप समाया है ।टेक। ब्रह्मानन्द जिसकी तुल्य बरनों, नहिं जिसकी अन्तर पाया

३१५ कुटुम्बजन्य दुःख; हरि—हर सम्वाद

दोहा—

मिले हरी हर परस्पर, हँसि पूंछी कुशलात ।
हरिही हर से यों कह्यो, किस विधि माडो गात॥

कुण्डलिया

सुनि के हरि के वचन को, हर हरषे उर माहिं ।
मोंसेती पूछन लगे, तुम क्या जानो नाहिं ॥
दिया विरोधी कुटुम्ब, अहर्निशि उर को जारे ।
मेरा वाहन बैल, सती का शेर दहाड़े ॥
कार्तिक स्वामी के मारे, तुंडी को मूषक धारे ।
मोगल माहीं सर्प, डरें अरु बहुत फुंकारे ॥
कुटुम्ब विरोधी देखि के, जलत रहूं दिन रात ।
हरही हरि सों यों कह्यो, इस विधि माड़ो गात ॥

३१६ पद—भजन

लखि निज आतम रूप अपारा, जिसमे मिथ्या ससारा । टेक॥ छोड़ि जगत परवाह समझ अब, न्हावो ज्ञान की धारा ॥ काल कर्म का छुटै मैल सब, जब होवे उद्धारा ॥१॥ आतम सदा असंग रहत है, लिपै न देह विकारा ॥ ज्यों जल माहीं कमल रहत है, जल स्पर्श से न्यारा ॥२॥ पच कोष अरु तीन देह में, व्याप रहा सारा ॥ कटे न सूखे जल से भींगे,अग्नि ने नहीं जारा ॥ ३ ॥

में ॥ टेक ॥ खाया खाया लाड़ लड़ाया, कुछ समझा नहीं नादानी में ॥ १ ॥ आई तरुनाई मस्ती आई, हो गई काम भरु आमी में ॥ २ ॥ क्या मस्ती खान पान हित, फिर मन लिप फंसा गुलामी में ॥ ३ ॥ आवे बुढ़ापा दे गिर थापा, हो गया अशक्त मसानी में ॥ ४ ॥ काल आय तत्काल बिनाशे, गुम गरे चारों खानी में ॥ ५ ॥ काल अमोलक या नर तन को, खोय चला मैदानी में ॥ ६ ॥ ना कोई कर्म उपासन कीना, नहिं बैठा सत्संग ज्ञानी में ॥ ७ ॥ गुरुरूप को माना नाहीं, अतिशय होगया हानी में । ८॥

३१४ रगति मजेदार

कुछ मजा आप के ज्ञान स, क्य है फकरानी बाने स ॥ टेक ॥ जो आनन्द सूखे टुकड़े से, सो नहीं गिजा माल के खाने स ॥१॥ जो आनन्द हरि की मस्ती से, सो नहिं माल खजाने से ॥२॥ जो आनन्द वैराग में देखा, सो नहिं विषय कमान स ॥३॥ जो आनन्द सन्तोष सबर में सो नहिं धन कमाने स ॥४॥ जो आनन्द अपने घर माहीं, सो नहिं परदेश बुलाने से । ५॥ जो आनन्द अपने समझन में, सो नहिं लोक रिझाने स ॥६। जो आनन्द एकान्त देश में सो नहिं मन के मरमान स ॥७॥ सभी आनन्द गुप्तानन्द स, आप में आप समाने स ॥ ८ ॥

पड़ी जग जड़वि मे साजत ॥ गुप्त भेद सतगुरु से पावत, घट में ही आतम लाल बतावत ॥४॥

३१६ शब्द (भर्म नाशक)

लखि आपके तांई, दीजो भरम बहाई ॥ टेक ॥ योगी भरमि रहे योगन में, भोगी जाय फँसे भोगन मे ॥ रोगी नित रोवहि रोगन में, काल निरंतर खाई ॥१॥ पंडित पंडिताई मे भूले, काजी पडे कजा के चूल्हे ॥ धारापती मान में फूले,मूरख मूरखताई॥२॥ कोई विद्या वैराग त्याग में, कोई धूनीला जले आग में ॥ सार वस्तु के फिरे त्याग मे, नाहक उमर गमाई ॥३॥ कोई कोई जन उभरे चौरासी,नेम नहीं गृही सन्यासी ॥ जिसको लख्या गुप्त अविनाशी, सभी ठौर के माहीं ॥ ४ ॥

३२० पद (जैन धर्म प्रकाशक)

हुया मजहब दिवाना, करता फिरे व्याख्याना ॥टेक॥ सोई जैनी आप को जान्या भेद भर्म सब खोया नाना ॥ पाप पुन्य का मूल उडाना, तीर लक्ष में ताना ॥१॥ तन सराय मे असंग रहत है, सोई सरावगी सार गहत है ॥ मुख से बात बनाय कहत है, छोड़े नहीं बेईमाना ॥२॥ सोई ढुंडिया जानों सच्चा, जिसको घर ढूढा है पक्का ॥ बाकी और हरामी के बच्चा, बाँधहिं थानिक थाना ॥३॥ सोई योगी यती सन्यासी, मजहब पंथ की काटी फाँसी ॥ गुप्त रूप पूरण अविनाशी, भेष पथ को भाना । ४ ॥

गुप्त अरु परघट समा ठोर में, सो है रूप तुम्हारा ॥ जैसे घृत दूध में रहता, सभी जगह यक सारा ॥ ४ ॥

३१७ पद–भजन

शास्त्र वद सभी समझावें यक आतम सत्य बतावे ॥ टेक ॥ सुनि गुरु मुख से ज्ञान आपन, मन में क्यों ना लावे ॥ भर्म जाल कटि जावे तेरा, पूरण पद को पावे ॥१॥ बैठि एकांत विचार करो जो, सतगुरु यात बतावे ॥ तीरथ वरत धरम सब मन के, उलझि उलझि मरजावे ॥ ॥ तुहीं शुद्ध सचिदानन्द फिर, काहे को भ्रम भटकावे । जिसको अमृत पान किया, वह काहे को अन्न खावे ॥३॥ बाहर अन्दर रूप आपना, खोजन किसको जावे । गुप्त रू परघट जब चेतन मे अपना आप लखावे ॥ ४ ॥

३१८ शब्द (धनासरी)

आतम जोता सब घट मांहीं, बिन सतगुरु वह सूझत नाहीं ॥टेक॥ जैसे द्रव्य गड़्या घर भीतर, बिन भेदी वह पावत नाहीं ॥ जैसे घृत दूध में रहता, बिन मंथन वह निकसत नाहीं ॥१॥ ज्यों जड़ वृक्ष, वृक्ष में मलना, खाक भरया तिस लखन माहीं ॥ ताकी चमक पड़ी जल भीतर, खोजि रहे वह पावत नाहीं ॥२॥ कोइ यक चतुर पुरुष को निरखा, खाक पताड़िया मलन ताहीं ॥ त्यों जग जड़में तन नर काया अन्तःकरण मलमा दिखलाया ॥३॥ तामें आतम लाल बिराजत चमक

पड़ी जग जलधि में साजत ॥ गुप्त भेद सतगुरु से पावत, घट में ही आतम लाल बतावत ॥४॥

३१६ शब्द (भर्म नाशक)

लखि आपके तांई, दीजो भरम बहाई ॥ टेक ॥ योगी भरमि रहे योगन में, भोगी जाय फँसे भोगन में ॥ रोगी नित रोवहि रोगन में, काल निरंतर खाई ॥१॥ पंडित पंडिताई मे भूले, काजी पडे कजा के चूल्हे ॥ धारापती मान में फूले, मूरख मूरखताई ॥२॥ कोई विद्या वैराग त्याग में, कोई धूनीला जले आग में ॥ सार वस्तु के फिरे त्याग मे, नाहक उमर गमाई ॥३॥ कोई कोई जन उभरे चौरासी, नेम नहीं गृही सन्यासी ॥ जिसको लख्या गुप्त अविनाशी, सभी ठौर के माहीं ॥ ४ ॥

३२० पद (जैन धर्म प्रकाशक)

हुया मजहब दिवाना, करता फिरे व्याख्याना ॥टेक॥ सोई जैनी आप को जान्या भेद भर्म सब खोया नाना ॥ पाप पुन्य का मूल उडाना, तीर लक्ष में ताना ॥१॥ तन सराय मे असंग रहत है, सोई सरावगी सार गहत है ॥ मुख से बात बनाय कहत है, छोड़े नहीं बेईमाना ॥२॥ सोई ढुंडिया जानों सच्चा, जिसको घर ढूढा है पक्का ॥ बाकी और हरामी के बच्चा, बाँधहिं थानिक थाना ॥३॥ सोई योगी यती सन्यासी, मजहब पंथ की काटी फाँसी ॥ गुप्त रूप पूरण अविनाशी भेष पथ को भाना ॥ ४ ॥

३२१ शब्द

अब तज मिथ्या हंकार, मार से तू क्यों बोझ मरे ॥ टेक ॥ कारण सूक्षम स्थूल तनरे, इनका तज हंकार ॥ तू चेतन भरपूर हैरे, छिपे न वेद पिकार ॥ १ ॥ पंचकोष में मत फँसेरे, तेरा रूप अपार ॥ भर्म माहिं क्यों भरमतारे, अन्दर करो विचार ॥ २ ॥ सांचे सतगुरु से मिलोरे, तब पावोगे सार ॥ झूठ गुरु के आसरे रे, कबहुँ न होय उद्धार ॥३॥ गुप्त रूप परघट आप हैरे, जामें नहीं संसार ॥ दिल की दुई हटायदे रे, आशा तृष्णा मार ॥ ४ ॥

३२२ पद

चमकि रहा हम माहीं रतन अमोली लाल ॥ टेक ॥ कटे न सूखे भींगता रे, करके देख सँमाल ॥ अग्नी से जलता नहीं रे, जावे न विसका काल ॥ १ ॥ देख क्यों ना खोज केरे, घर में है सब माल ॥ जो पावे उस निधी कोरे फेर न होय कंगाल ॥२॥ मन मंजूर को काय हरे, खोज करो सँमाल ॥ चित की चकमक झाकि परे बुधि का करो कुदाल ॥ ३ ॥ सावधान इनको रखोरे, करता रहे रखवाल ॥ गुरू जौहरी, गुप्त खजाना बतलावत तत्काल ॥४॥

३२३ पद

हमारे सतगुरु अमर निशाल शारद म्हारो दूर कियो ॥टेक॥ कोटि युगन युग भर्मियोरे दुख नहिं दूरि हुयो ॥ एक पलक की

झलक मे रे, मोहि निहाल दियो ॥१॥ भूठे धन के कारनेरे, भटकि भटकि के मुयो ॥ सांची दौलत सतगुरु दीनी, जन्म सुफल म्हारो हुयो ॥२॥ मैं निर्धन कंगाल कोरे, प्रेम प्रीति से लियो ॥ खरचा खाया बहुत लुटाया, पानी के ज्यो पियो ॥३॥ गुप्त आतमा लाल मिला जब, सुख साथी सोयो ॥ आवन जावन खेद मिट्यो सब, जीव आनन्दित हुयो ॥ ४ ॥

३२४ शब्द

काहे में करै अनुराग, मन तू मोह नींद से जाग ॥ टेक ॥ जिन के संग लाग्या तू डोले, वह सब जावे तोहि त्याग ॥ १ ॥ सभी पदारथ दृष्ट है, अब इन से मत लाग ॥ २ ॥ परमेश्वर का शरणा पकड़ो, छुटैं करम के दाग ॥ ३ ॥ गुप्त गली मे जो कोइ आवत, सुखभर खेलत फाग ॥ ४ ॥

३२५ शब्द

खोदई उमर अब सारी, नहि सुमिरे करतार ॥ टेक ॥ जब गर्भवास मे आया, नौ मास तहाँ दुख पाया ॥ किया भगती का करार ॥ १ ॥ फिर बाहर निकल के आया, योनि यन्तर मे दुख पाया ॥ करन लग्या हाहाकार ॥२॥ मूढता में बालपन खोया, जब भूख लगी तब रोया ॥ करे माता प्यार ॥ ३ ॥ फिर तरुण अवस्था होवे, तरुणी के संग मे खोवे ॥ काम की पडगई मार ॥ ४ ॥ वह तरुण अवस्था जावै, जैसे बिजली छिप जावे,

३२१ शब्द

अब तज मिथ्या हंकार, मार से तू क्यों बोझ मरे ॥ टेक ॥ कारण सूक्ष्म स्थूल बनरे, इनका तज हंकार ॥ तू चेतन भरपूर हैरे, छिपे न वेद विकार ॥ १ ॥ पंचकोष में मत फँसिरे, तेरा रूप अपार ॥ मर्म माहिं क्यों भरमतारे, अन्तर करो विचार ॥ २ ॥ सांचे सत्गुरु से मिलोरे, अब पावोगे सार ॥ झूठे गुरु के आसरे रे, कबहुँ न होय उद्धार ॥३॥ गुप्त रूप परखन आप हैरे, जामें नहीं संसार ॥ दिल की दुई हटायदे रे, आशा तृष्णा मार ॥ ४ ॥

३२२ पद

दमकि रहा तम माहीं रतन अमोली लाल ॥ टेक ॥ कह न सूझे भींगता रे, करके देख सँभाल ॥ अम्मी से जलता नहीं रे, पावे न तिसको काल ॥ १ ॥ देख क्यों ना खोज केरे, घर में है सब माल ॥ जो पावे कस निघो कोरे फेर न होय कंगाल ॥२॥ मन मँमूर को जाय दरे, खोज करो संभाल ॥ चित की चकमक झाड़ि दरे, बुद्धि का करो कुदाल ॥ ३ ॥ सावधान इनको रखारे, करता रहे रखवाल ॥ गुरू जौहरी, गुप्त खजाना पल्ला बत तत्काल ॥४॥

३२३ पद

हमारे सतगुरु नजर निहाल वारिद्र म्हारो दूर कियो ॥टेक॥ कोटि युगन युग भर्मियोरे, दुख नहिं दूरिहुयो ॥ एक पलक की

करेगा आगे ॥ ३ ॥ अपने हाथ से करी कमाई, जोड़ि जमी में रखता ॥ नंगे हाथो चला मुसाफिर, खाख अन्त को चखता ॥४। लोक वड़ाई में फूल्या, फिरता करे वहुत चतुराई ॥ काल कटारी पडी कंठ पर, भूलि गया लपराई ॥५॥ कैतो रहिजाय पड़ा जिमी में, कै खावेंगे भाई ।। क्या तो जप्त राज में होवे, क्या ले जाहिं धोह जमाई ॥६॥ विद्या पढ़ो सार नहिं जान्या, जग में करी ठगाई ॥ वांचि सरोदा स्वर को सोधा, वैदंग खूब फैलाई ॥७॥ सौदा किया नफे के कारन उलटा टोटे खाया ।। गुप्त रूप को समझा नाहिं, पढी रही सब माया ॥८॥

दोहा—

सौदा कीजे समझि के, फेर न ऐसा दाव ।
पुन्य पुंज करके मिल्या, वृथा नहीं गंवाय ॥

३२८ राग तरंग।

अरे रमिगया रमजानी, तोड़ गया है सब नाता ॥ टेक ॥ तन सराय से निकलि चल्या है, कोट किला नहिं ढाता ॥ किस मारग व्है गया मुसाफिर, कौन ठिकाने जाता ॥ १ ॥ चाची ताई और भोजाई, वहन भानजो माता ॥ दादी भूवा मामी नानी, त्रिया कूटे माथा ॥ २ ॥ चाचा ताऊ दादा वावा, जीजा फूफा भ्राता ॥ देह उठाय जमी मे फूंक्या, सिर फोड़ दिया है ताता ॥३॥ आप किया स्नान सभाने, करने लागे वाता ॥ दे तिलाजलो चले

बोका। भया गँवार ॥ ५ ॥ जब कफ वाइ ने घेरा, कर दिया पौर में डरा ॥ पड़ा यहाँ कूकर मार ॥ ६ ॥ अगड़ पड़ोसी सब दुखियारे, अब तूँह मर पापी हत्यारे ॥ नैन बड़े किये खुवार ।७॥ तन में फैली बीमारी, चढ़ि आइ काल असवारी ॥ सुन नहि गुप्त पुकार ॥ ४ ॥

३२६ सवैया

पुत्र कलत्र सभी तुमे त्यागत, तू जिन के संग छागहि बोल ॥ स्वारथ हत से प्यार करै सब,बिन स्वारथ कोइ मुख से नहिं बोल ॥ तुह अपनी आयू सब खोवत, अन्दर विचार कछु नहिं तोले ॥ देह दिया हरि को हरि सुमरन, ता हरि स पड़दा नहिं खोले ।१।

दोहा—

देखि रहा है आँखि से सुनता है सब काम ॥
सोमी नर चेते नहीं, मन ऐसा बेईमान ॥

३२७ राग तरंगा

सौदागर प्यारे, सौदा तो करिले हरी नाम का ॥ टेक ॥ नर तन पाया जग में आया, करले सुघर कमाई ॥ काल चपटा मुख पर आग, मूछि आवे चतुराइ ॥ १ ॥ गर्भ माहिं इकरार किया था क्यों भूलत है उसको ॥ जो उस को नहिं अदा करेगा, क्या जबाब दगा तिसको ॥२॥ धन के काज माज यहु माम हरि स कबहुँ न छाग ॥ यहीं पै रहजाय माल खमामा धम पर्मा

फैला ॥ अब तो हाट बजार लगे हैं, फिर बिछुर जायगा मेला ॥३॥ घर से निकस्या भजन करन को, देखत डोलै मेला ॥ पुत्र भ्राता छोडि दिये हैं, अब। गुरुभाई अरु चेला ॥४॥ ज्ञान ध्यान अध्ययन को भूल्या, करने लाग्या खेला ॥ उस दरगेह की खबर नहीं, यम पकड़ि निकालै तेला ॥५॥ माँगे माल उड़ाने लाग्या, बनि गया मोटा खेला ॥ तन पुष्टे मन पुष्ट हुया, करता कश्मीर का सैला ॥६॥ ब्रह्म ज्ञान का लक्षण करता, खावे सब के भेला ॥ मन माने जित तित सो जावे, क्या उत्तम क्या मैला ॥७॥ गुप्त भेद को समझत नाहीं, पड्यो अविद्या झोला। ॥ कभी तो मौन कभी लपराई, कभी बनि बैठत है भोला ॥८॥

३३१ कुण्डलिया

फक्कर के मक्कर नहीं, और नहीं धन माल ॥ राजी रहते उसी में, जो कुछ बीते हाल ॥ जो कुछ बीते हाल, ख्याल दूजा नहिं करते ॥ सब होय अदृष्ट आधीन मौज अपनी में चरते ॥ गुप्तानन्द में आनन्द, खावे चहे घी अरु शक्कर ॥ प्रारब्ध के वेग नहीं कुछ करते मक्कर ॥ १ ॥

३३२ भजन

नरपति चले काया कोट से, सजिगई जिसकी असवारी ॥ टेक ॥ हस्ती अरु घोडा सब छोड़े, काठ के तामजाम में पौढ़े ॥ कसिकर बाधि दिये दो गोडे, अब कैसे बचे यम चोट से ॥ हुया

मगर को, तोडया नींव का पाता ॥ ४ ॥ लंबा धोता कांख में पोथा, पंडित जी चलि आता ॥ कर्मकांड की बात सुनाके, अपनी ठीक जमाता ॥ ५ ॥ पाट ऊपर कट्टा आवे, वह भी फैल मचाता ॥ पांव दबावे भोजन खावे, सय्या पर सो जाता ॥ ६ ॥ उनके हाल की खबर नहीं, कुछ अपना बात बताता ॥ वहाँ मरवा कुटिके रोवें, यह माल मजे में खाता ॥ ७ ॥ वहतो होयगया गुप्त, किसी को उसका पता न पाता ॥ ठगि ठगि माल पापजा खावे, कैसे भवपार पहुँचाता ॥ ८ ॥

३२६ सवैया

मेंढ़कों की चाल में चालि रहे नर, नाहीं विचार करै यह अन्तर ॥१॥ सूये का शाक पकड़्या अविशय मन, छूटत पोप मचा दिया तुंबर ॥२॥ खपने समान यह खेल बन्या, काहे पै चुनावत ऊँचे स मंदिर ॥ ३ ॥ गुप्त की बात न समझत मूरख, नाचि रहे ज्यों मदारी को बंदर ॥ ४ ॥

३३० राग तरगा

अरे गफलत क माते पीता जात है यह वेला ।टेक। कोई न तेरा संगी होगा, पकड़्या जाय अकेला ॥ पकी पलक की खबर नहीं है, पकड़्या काल का ढेला ॥१॥ यह नर देही भजन करन का पक्ष हरी का गल्ला ॥ हाथ न हिले पैर नहिं चलन्य वाम जगा नहीं वेला ॥२॥ सौदा तो नफा का करले, छोड़ पकड़ घर

लटकावत है ॥ यह० ॥ ऊंचे मकान वनावे है, फीके पकवान करावे है ॥ यह० ॥ छापे अरु तिलक लगावत हैं, लंबीमाला लटकावत हैं ॥ यह० ॥ ठाकुर को पूजा राखत है, दिन भर परसाद ही चाखत है ॥ यह० ॥ नाना विधि के भोग लगावे, ठाकुर जी का नाम वतावे ॥ यह० ॥ दुकान लगावे टके कमावे, वैठि मजे में खावे ॥ यह० ॥ दोने चट्टा करैं वड़ाई, वड़ा सिद्ध आया है भाई ॥ यह० ॥ कोइ पढे पढ़ावे ज्ञान सुनावे, दमड़ों के वह ढंग लगावे ॥ यह० ॥ गली वजारों करे व्याख्याना, विद्या पढ़ी मर्म नहीं जाना ॥ यह० ॥ लई फकीरी तत्तन जाना, खाने लगा विपोंका खाना ॥ यह० ॥ टूक मागिके भरते पेट, रहें गावके गोरे लेट ॥ यह० ॥ पोखर ऊपर कुटी बनावे, तकिया और विछौना लावे ॥ यह० ॥ मोर छड़ी से झाडू लावे। जानि का दूध मा गिकर लावे ॥यह०॥ तीरथ उपवास को करते फिरते,फिर आकर काशी में मरते ॥यह०॥ करते सथारा मूढ गवाँरा, तन सुका सुका के मारा ॥ यह० ॥ घर छोड़ि बसाया रामदुवारा, माला वेचिकर करे गुजारा ॥ यह० ॥ मागि मागि कर कौडीलावे, ऋपी केश में कुटी वनावे ॥ यह० ॥ गगाके तट सिद्ध विचरते, घाटों ऊपर आसन करते ॥ यह० ॥ कटीमें बाँधे लाल लंगोटे, फिरे मुकेरे जंगल झोंटे ॥ कोई काशी में विद्या पढ़ि आवे, मंडली बाँधे शिष्य वनावे ॥ यह० ॥ कोई पढ़ै पडावे लोक रिझावे, कोइ कविता खूब घनावे ॥ यह० ॥ कोइ कानों माहीं डाट ठुकावे, आखि मींचकर

पुन्य पाप सब आरी ॥१॥ हाहाकार वासत बाजे साम समी चलने के साथे ॥ बहुत सम्बन्धी आये राजे यह बात करे नहीं शठ से ॥ होगई पुरिमष्टक न्यारी ॥२॥ कहाँ से आव पाऊकी ठाई, पड़ी रही सबही ठकुराई ॥ जिनके वास्ते करी कमाई, शिर फोड़न लगा सोर से ॥ जो प्यार करते थे भारी ॥३॥ यह जीने के धोखे में रहत, काल आय तत्कालहि गहता ॥ गुप्त भेद कछु नाहीं, छुटता नहिं बचता यम की चोट से ॥ कर राम भजन की त्यारी ॥ ४ ॥

३३३ भजन (झगड़ा)

यह भी सब झगड़ा है, झगड़े से न्यारा रगड़ा है ॥ झगड़ा कैसे जान्या रे, इमें मातम ब्रह्म पिछानारे, ॥ झगड़ा पेस जान्या रे ॥टेक॥ पहिला झगड़ा तोहि सुनाऊँ, शास्त्रों की बात दिखाऊँ ॥ यह भी० ॥ कोई साद पदारथ गावत है, कोइ सोलह में समझावत है ॥ यह० ॥ कोई पचीस तत्व विवेक करे, कोइ कर्म योग में पाँव धरे ॥ यह० ॥ कोइ ज्ञानहि ज्ञान पुकारे है, पञ्चर का निश्चय धारे है ॥ यह० ॥ इस विधि पट दरशन आठिक रहे ॥ अपना अपना शिर पटकि रहे ॥ यह० ॥ घर छोड़ि के आप फकीरी लई ॥ वाद करता है आही वही ॥ यह ॥ सबहि छिपी छावत है ॥ वैसे रुजगार कमावत है ॥ यह० ॥ अंगमाहिं भभूती लावत है, शिर लंबे केश बढ़ावत है ॥ यह० ॥ कोइ घोटम घोट करावत है, दाढ़ी मद मूँछ मुड़ावत है ॥ यह० ॥ गेरू का रंग लगावत है, लंबी गाते

दस प्रस्थान बनाये, अज्ञानी के मन परचाये ॥ यह० ॥ नाम रूप माया की रचना, दीखे सुनिये गुनिये तितना ॥ यह० ॥ और तरह झगड़ा नहिं टूटे, जहाँ जाय तहं कूकस कूटे ॥ यह० ॥ झगड़ा गुप्त गली मे गेरे, व्यापक एक आत्मा हेरे ॥ यह भी सब झगडा है, झगड़े से न्यारा दगड़ा है ॥ झगड़ा कैसे जान्या रे, हमे आतम ब्रह्म पिछान्या रे ॥ झगड़ा ऐसे जान्या रे ॥

३३४ तरज तान

मत लगे विषय की चाट, मन को डाट डाट डाट ॥ टेक ॥ मन हीं सब कारज सारे, विषयां ते तोहि निवारै ॥ निज बोध रूप में धारै, शुभ गुन का लावो ठाठ ठाठ ठाठ ॥ १ ॥ मनकी चलती रे दो धारा ॥ कैयक डूबे दूजी पारा ॥ कुमारग करो निवारा, सत संगति नौका बाठि बाठि बाठि ॥ २ ॥ यही अनुष्ठान करवावो, निज ब्रह्मरूप में लावो, अब अपना काम बनावो, मन का दफ्तर जा फाटि फाटि फाटि ॥ ३ ॥ यह गुप्त भेद लख प्यारे, इस मनने बहुत उधारे, अब गिने कौन ते सारे, टुक मोह जाल को काट काट काट ॥ ४ ॥

३३५ शब्द

अब कीजेरे यारों ज्ञान गोष्टी, सब छाड़ों जगत की दोस्ती ॥ टेक ॥ बड़े भाग से नर तन पाया, याके पीछे फिर रही लोपटी ॥ १ ॥ ब्रह्म विचार करो इस तन में, बात तजो सब फोकटी ॥ २ ॥

ध्यान लगावे ॥ यह० ॥ कोइ २ करते योग समाधी कोइ बने हैं मादम बादी ॥ यह० ॥ कोइ २ नाच कोइ गावे, कोइ मौन गम्भेरहि आवे ॥ यह० ॥ माँगहि माल करे भंडारा, बनि गया महंत पक्का भारया ॥ यह० ॥ कोंस माहिं से पस्या पाया, छाडि कमर व झोला धोवा ॥ यह० ॥ पंचांग बांधि के गिरे इगाव, माल सदा ठगि ठगि के खावे ॥ यह० ॥ शंख बजाय फूटवे पीतल, कभी नहीं मन होवे शीतल ॥ यह० ॥ गंडा गाली मंतर जंतर, करै कीमिया पढ़ि पढ़ि मंतर ॥ यह० ॥ पूजन लगा बची दुरगा, काटैं बकरा मारै मुरगा ॥ यह० ॥ कोइ बावन लाग सगोवा, रंग रूप तत्तन का सोधा ॥ यह० ॥ खर को साधि बतावे परशन, मूरख का मन करे आकर्षन ॥ यह० ॥ जो कुछ होनहार सोइ होवे, भटकि भटकि के वृथा रोवे ॥ यह० ॥ कोई बन घरी सन्यासी, घर को छोड़ हुए बनवासी ॥ यह० ॥ गल में है रुद्राक्ष की माला, खाक लगाय किया मुख काला ॥ यह० ॥ ब्रह्मचारी का भेष बनावे, कौड़ी सा लीलम बतावे ॥ यह० ॥ अब ईस की कथा उपाधी, माया अविद्या सारी अनादी ॥ यह० ॥ सातों यह दो भेद बतावे, भिन्न भिन्न कर दोनो गावे ॥ यह० ॥ महावाक्य वेदों में भाखे भेद उपाधी कृत जो नाखे ॥ यह० ॥ भाग-त्याग की सैन बताई, वृत्ति-लक्षणा कहि समुझाई ॥ यह० ॥ रचे ब्यास इतिहास पुराना साधन साध्य ज्ञान अरु ध्याना ॥ यह० ॥ ज्ञाता-

दस प्रस्थान बनाये, अज्ञानी के मन परचाये ॥ यह० ॥ नाम रूप माया की रचना, दीखे सुनिये गुनिये तितना ॥ यह० ॥ और तरह झगड़ा नहिं टूटे, जहाँ जाय तह कूकस कूटे ॥ यह० ॥ झगड़ा गुम गली में गेरे, व्यापक एक आतमा हेरे ॥ यह भी सब झगडा है, झगड़े से न्यारा दगड़ा है ॥ झगड़ा कैसे जान्या रे, हमे आतम ब्रह्म पिछान्या रे ॥ झगडा ऐसे जान्या रे ॥

३३४ तरज तान

मत लगे विषय की चाट, मन को डाट डाट डाट ॥ टेक ॥ मन हीं सब कारज सारे, विषयों ते तोहि निवारे ॥ निज बोध रूप मे धारै, शुभ गुन का लावो ठाठ ठाठ ठाट ॥ १ ॥ मनकी चलती रे दो धारा ॥ कैयक डूबे दूजी पारा ॥ कुमारग करो निवारा, सत संगति नौका वाठि वाठि वाठि ॥ २ ॥ यही अनुष्ठान करवावो, निज ब्रह्मरूप में लावो, अब अपना काम बनावो, मन का दफ्तर जा फाटि फाटि फाटि ॥ ३ ॥ यह गुप्त भेद लख प्यारे, इस मनने बहुत उधारे, अब गिने कौन तें सारे, टुक मोह जाल को काट फाट काट ॥ ४ ॥

३३५ शब्द

अब कीजेरे यारों ज्ञान गोष्ठी, सब छाडो जगत की दोस्ती ॥ टेक ॥ बडे भाग से नर तन पाया, याके पीछे फिर रही लोमटी ॥ १ ॥ ब्रह्म विचार करो इस तन मे, बात तजो सब फोकटी ॥ २ ॥

खासे खावे बहुत दिन बाते, अब तोड़ो भविया आपनी ॥ ३ ॥ नयानन्द को मात्त हाकर, दूर करा सब लोकरी ॥ ४ ॥ व्यापक रूप दर्सो निज आतम फिर रहे न यम की लोपरी ॥ ५ ॥ गुप्त मूल के बैठ चौवरे, अब पावेगा पोसरी ॥ ६ ॥

३३६ शब्द

इस दुनिया में दो दीन, लगो है इन दोनों की बाजी ॥ टेक ॥ उनको नाम धरा है मंदिर, उनको मसजिद साजी ॥ उनमें नाम धरा ठाकुरजा, उनको धरा सुराजी ॥ १ ॥ उनको नाम धरा पंडितजी, उनको रख लिया काजी ॥ वो सन्ध्या गायत्री पढ़ते, वो होगय नमाजी ॥ २ ॥ वे व्रत उपवास करम को, वे रोजा में राजी ॥ वे काशी गङ्गा को जाते, वे होय चले हैं हाजी ॥ अपनी अपनी बँधे पक्ष में, छूटे कौन उपाजी ॥ गुप्त मूल है, एक सभी का, जिन यह रचना साजी ॥ ४ ॥

३३७ शब्द

देखो देखो तमाशा दीदार का रे ।टेक। सभी अनातम झगड़ा छोड़ो, सौदा करल निज आतम बजार का रे ॥१॥ खासे प्यास बुझ कम मन की पानी तू पीले बजार का रे ॥२॥ सत संगति नौका में बैठो खेला करल परलपार का रे । ३॥ भवसागर में फरि न आवे, बान लगो नहीं मार का रे ॥४॥ निजानन्द को

प्रापत होके, झगड़ा मिटे संसार का रे ॥५॥ गुप्त गली मे वाजे वाजे ध्रुव उठे झंकार का रे ॥६॥

३३८ शब्द

वावा भोले ने रगडा लगा दिया रे ॥टेक॥ तन की कुडी मन का सोटा ज्ञान का घोट मचा दिया रे ॥१॥ संशय सोंफ अरु कर्म कासनी, माया का मिर्च फुकाय दिया रे ॥२॥ ममता मगज इलायची केशर, लुगदाघोट वनाय लिया रे ॥३॥ सत की साफी में भंगिया छानो, जग फोगट काढ़ि वगाय दिया रे ॥४॥ प्रेम के प्याले में विजयापीके, अंखियाँ मे जोश उगाय दियारे ॥५॥ गुप्त गली में शकर घूमत, जग भर्म का भूत उड़ाय दियारे ॥६॥

३३६ शब्द

यक वेर वशी फेर वजाय, वंशी के वजाने हारे रे ॥टेक॥ तेरी वंशी ने मेरा मन मोहा, तुझे ऐसी वजाइदइ कारेरे ॥१॥ तेरी वंशी ने सारा जग मोहा, मोहे चन्द्र सूर अरु तारे रे ॥२॥ यक वेर वंशी वाजी व्रज में, तुझे नख पर गिरवर धारेरे ॥३॥ यक वेर वशी बाजी अवध में तू सन्तन सुख कारेरे ॥४॥ यक वेर वंशी वाजी जनकपुर, उस रंगभूमि के मन्झारेरे ॥५॥ यक वेर वशी वाजी लंका में, तुझे असुर खपादिये सारेरे ॥६॥ गुप्त वसुरिया घट में ही वाजे, कोइ सुनते सुनने हारेरे ॥७॥

३४० गुरू शिष्य सम्वाद, शिष्य प्रश्न

चौपाई—

कोउ एक शिष्य आयो गुरु शरना । हाथ जोड़ि भेल्यो शिर चरना ॥
हा भगवन् तुम जानो मरमा । मो कछु करो मिटे जिस मरना ॥
मैं आयो तुम्हरी शरनाई । प्रभु कीजे अब मोर सहाई ॥
जन्म मरन का काटो फन्दा । जाकर पावहुँ परमानन्दा ॥
बहि करयो मैं यह संसारा । तासे अब मोहि कीजे पारा ॥
या जग माहीं दुःख मनका । सुख सुपने कबहूँ नहिं एका ॥
आशा तृष्णा चिन्ता खावें । काम क्रोध मद मोह डरावें ॥
कुमति कुमति नित करें लड़ाई । ममता डाकिन नित घठ खाई ॥
दंभ कपट ठग रहे लुभाई । मद मत्सर अरु मान बड़ाई ।
मापर नित गेरत ये फन्दा । बिन सत गुरु क्या जानूं मैं अन्धा ॥
अब इनसे कीजे न्यारा । भवसागर ते कीजो पारा ॥
हेतु मुक्ति का हो सो कहिये । तुम्हरी कृपा परम पद लहिये ॥
तुम बिन और न करे सहाई । डूबत हौं भवसागर माहीं ॥
मात पिता भ्राता सुत दारा । ये सब स्वारथ के हैं सारा ॥
जिन के दंभ कपट नहिं माया । सो करते दीनन पर दाया ॥
अब मोहिं कीजे यह उपदेशा । जासों छूटे सकल कलेशा ॥

दोहा—

शिष्य ने सकल संदेह कहि, दीन्ही बात सुनाय ।
अब गुरु ऐसा कीजिये, सकल भरम मिटि जाय ॥

भरम बराबर जगत में, नाहीं दूसर खेद ।
सब कहते सन्त पुकार के, यों कहें शास्त्र अरु वेद ॥

३४१ गुरु उत्तर

चौपाई—

सुन आरत की गिरा विनीता । सुनहु शिष्य अब होहु अभीता ॥
जो तुम कही सकल मैं जानी । सुन शिप हो जाते दुख हानी ॥
दुख नाशन का कारण एहू । याते मिटे सकल संदेहू ।
तत्व मसी का अर्थ सुनीजे । भाग त्याग लक्षणा यक कीजे ॥
जीव ईश की मिटे उपाधी । चेतन शुद्ध सरूप अनादी ॥
तामें भेद गंध ना होई । अपना रूप जानिये सोई ॥
यह गुरु मुख से सरवन करिके । मनन करो युक्ती चित धरके ॥
काल पाय व्है दृढ अभ्यासा । फिर छूटे मन की सब आसा ॥
निश्चल होय भयो मन थीरा । जैसे मिल्यो नीर में नीरा ॥
आतम ब्रह्म रूप यक जाना । अभेद निश्चय यह ज्ञान बखाना ॥
सो जानो मुक्ती का हेतू । जैसे जल पारन को सेतू ॥
या विधि उतरे बहुते पारा । ले सेतू सत संग सहारा ॥
बिन सत संग तर्‌या नहि कोई । हुये अरुहैं अरु आगे होई ॥
सत संगति महिमा सब बरनीं । अज्ञान नाश इमि पावक अरनीं ॥
सुन शिष हो याते दुख नासा । यह आप रूप का अजब तमासा ॥
जो तुम पूछा सो हम भाखा । आगे कहो संशय जो राखा ॥

दोहा—

जो भाख्यो उपदेश यह, ताको सुन चित लाय ।
संशय शोक रहे नहीं, भरम विलय हो जाय ॥
हमहीं नाहीं कहत हैं, जो कहैं सयाने संत ।
निगमागम यों कहत हैं, इमि होय भरम का अन्त ॥

३४२ सध्या आरती

दोहा—

जेती सध्या आरती, लिखते सबका सार ।
साँझ समय याको पढ़ै, समुझे सार असार ॥
पढ़ै सुनै अति प्रीति युत, अरु पुनि करै विचार ।
ज्ञान भानु दिन २ उदय, व्है आतम दीदार ॥

चौपाई—

ऐसी आरती तोहि सुनाऊँ । जन्म मरन को मोय मढ़ाऊँ ॥
एसी आरती कीज हंसा । छूटे जाति बरण कुल बंसा ॥
काया माहिं दव है एसा । दूजा और नहीं कोइ तैसा ॥
काया देवल आतम देवा । बिन सद्गुरु नहिं पावे भेवा ॥
पहिले गुरु सबा चित लावे । तास सकल विधी को पावे ॥
जो मुक्ती गुरु देव बतावे । तामें अपना मन ठहरावे ॥
माया का सब झूंठ पसारा । सत् है चेतन रूप तुम्हारा ॥
पाँच अँश सबही में जानों । अस्ति भाति प्रिय रूप बखानों ॥

नाम रूप झूंठे व्यभिचारी। तिनसे भूलि न कीजे यारी ॥
तीन सच्चिदानन्द पिछानों। तिनको ब्रह्म रूप करि मानों ॥
सो है ब्रह्म आपना रूपा। ऐसे वेद कहत मुनि भूपा ॥
दो झूठे माया कृत देखै। तिनको सत्य कबहु नहिं पेखै ॥
माया नाम कहत मुनि उसका। परमारथ से रूप न जिसका ॥
अचिन्त्य शक्ति कर ताहि बतावे। युक्ती आगे रहन न पावे ॥
सो युक्ती अब कहूँ बताई। जाते माया रहन न पाई ॥
सत्य असत्य नहीं कछु भाई। नहिं दोनों पद मिलकर गाई ॥
नहि वह कहिये भिन्न अभिन्ना नहिं दोनों पद मिलि उत्पन्ना ॥
नहिं सावेव नहीं निरवेवा। दोनों मिलि नहि होय अवेवा ॥
यह नव युवती जिसने जानी। तिनके माया भरती पानी ॥
यह सब युक्ती गुरु से जानें। फिर कीजे निज आतम ध्यानें ॥
आतम पूजा बहु विधि कीजे। जातें सकल अविद्या छीजे ॥
सोहं थाल बहुत विधि साजे। स्वास स्वास पर घंटी बाजे ॥
संयम ओट करे दिन राती। ज्ञान दीप बाले त्रिन बाती ॥
जस दीपक का होय उजाला। अन्धकार नशिजाय ततकाला ॥
झाझ झनक चेतन को झनकी। मूल अविद्या सारी छिनकी ॥
मन मिरदंग तान कर कूटा। धृक् धृक् कहन लगा मैं झूठा ॥
चित का चन्दन घसि कर लाया। तब हीं देव निरंजन पाया ॥
बुद्धी ताल बजावन लागी। कोट जन्म की सूती जागी ॥

अहंकार का बाजा बंना । बहुत काल का टूटा टंटा ॥
चिदाभास ने संकट बनाया । अपना रूप हमें अब पाया ॥
चिदाभास का कीना त्याग । कूटस्थ रूप में कीना राग ॥
आभास रूप को त्यागा जब ही । रूप अक्रिय पाया तबही ॥
ता साक्षीकर सदा अभेदा । ब्रह्म रूप यह गावत वेदा ॥
जिमि महाकाश अरु घटाकाशा । महाकाश में सबका वासा ॥
यह दृष्टान्त विचारे मन में । ब्रह्म रूप पावे या तन में ॥
ऐसी कीजे आतम सन्ध्या । यावे जीव छूटे यह धन्धा ॥
ऐसी सन्ध्या आरती कीजे । जाते देव निरंजन रीझे ॥
इंद्रिय अरु चित्त के सब देवा । करन लगे हैं आतम सेवा ॥
भये मुदित सब करें विचारा । आतम अपना रूप निहारा ।
कोई नाचे कोई गावे । कोइ मौन गहे रहि जावे ॥
कोई ताल बजावन लागे । आतम-माहिं हुये अनुरागे ॥
मौती-पुष्प चढ़ावन लागा । ध्यान-धूप को लावन लागे ॥
बुद्धी करे ब्रह्म का गाना । और नहीं कछु मानत आना ॥
यस कहि के ब्रह्मसमाई । भेद भरम सब दिया उड़ाई ॥
कौन पुजारी जावे मोरा । कहूँ बात कछु कहूँ न मोरा ॥
आप रूप सब दिया गँवाई । डाय उदक एक माहिं समाई ॥
जो कुछ सूक्षम या स्थूल । सो कारण या तिनका मूला ॥
सबही चदन में परकाशा । द्वैत अद्वैत सभी जहं नाशा ॥

सन्ध्या आरती करो विचारा। छूटे भरम करम संसारा ॥
लोक वेद की छाँड़ो आशा। तब देखोगे ब्रह्म तमासा ॥
ऐसी सन्ध्या आरती गावे। बहुरथो जगत् जन्म नहिं आवे ॥
टूटे बन्धन होय खलासा। जन्म मरन का मिटिजाय सासा ॥
बन्ध मुक्त याते सब जानें। दोनो भरम कर मिथ्या मानें ॥
बन्ध विहीन एक नहिं दोई। ताकी मुक्ति कौन विधि होई ॥
बध मुक्त माया कृत जानें। आतम शुद्ध रूप पहिचानें ॥
ध्यान अरु ज्ञान नहीं कोई जामे। साधन साध्य नहीं कोई तामे
द्वैत अद्वैत नहीं कछु झगड़ा। ना कछु बन्या नहीं कछु विगड़ा ॥
अजर अमर आतम अविनाशी। चेतन शुद्ध रूप परकाशी ॥
सजाती विजाती न ता में कोई। स्वगत भेद फिर कैसे होई ॥
नहिं वह बृद्ध नहीं वह बाला। स्वेत पीत हरता नहिं काला ॥
नहि वह पुरुप नहीं वह नारी। नहि सन्यासी नहिं ब्रह्मचारी ॥
लक्ष अलक्ष नहीं कछु तामें। वाच्य अवाच्य वने नहि जामे ॥
सब कछु है अरु कुछ भी नाहीं। तन विकार कुछ परसत नाहीं ॥
नहिं वह हलका नहिं वह भारा। ना कछु मधुर नहीं कछु खारा ॥
रूप रग जामें कछु नाहीं। ऐसा आतम सबके माहीं ॥
सम रस रहे गगन की नाई। काल कर्म की पड़े न छाई ॥
सदा अक्रिय निरभय देवा। कहा करै को तिसको सेवा ॥
ना कछु मौन नहीं कुछ वोले। ना कहीं स्थिर ना कहि डोले ॥

निश्चल सदा अक्रिय दशा। बिन सत् गुरु नहीं पाय मशा॥
नहिं परिच्छेद तासु में कोइ। देश काल वस्तु नहिं होई॥
सन्ध्या भारती की सिखी चौपाइ। जग को मिथ्या कहे अनाई॥
आतम ब्रह्म रूप करि मान। सत् चित आनन्द एक परकासै॥
जैसे गुन में भासत भोगी। त्यों आतम में जग प्रति योगी॥
सुतवी में रूपा भ्रम होई। त्यों आतम में जग है सोई॥
स्थाणु माहिं पुरुष कहं जैसे। रवि किरनन में नीर कहे वैसे॥
आकाश माहिं ज्यों गंधर्व गामा। त्यों आतम में जगत् अभिरामा॥
मिरची में तीक्षणता जैसे। जलके माहिं सारता वैसे॥
फूलन माहिं गंध जिमि होई। आतममें ऐसे जग सोई॥

दोहा—

सभी भरम कर भासता, करता किरिया कर्म।
आत्मा सदा असग है, कोई जानत बिरला मर्म॥

३४३ छन्द

सतगुरु बिना नहिं भेद पावे, कहत वेद पुकारि के॥
हाथार नहिं पार। पक्ष हम चारों बैठे हारिके॥
पट् मान मैली सिमरती वस्तु अनातम को कहे॥
कौन साखी तासुकी जो आत्मा को वह लहे॥
निरअव चेतन शुद्ध निरमल एक दो की गम नहीं॥
ऐसे शब्द करके भेद कहता, और कछु जाने नहीं॥

देसिक कही यह शिष्य को, तुहि ब्रह्म व्यापक रूप है ॥
जो समझता इस रमज को, पड़ता नहीं भव कूप है ॥
मत खाय भटका भरम में, तुहीं आप चेतन है सही ॥
टुक समझ अपने जेहन में, यह बात हम तोसों कही ॥
तत्वमसि आदि महा वाक्य, कीजे ताहि विचार को ॥
मत फंसे किरिया कीच में, अब छाड़ि जग आचार को ॥
यह पढ़े संध्या आरती, चारों पदारथ जो लहे ॥
जो धारे इसके अर्थ को, फिर बात उसकी को कहे ॥
चाहे अमोलक रतन को, बैठे गुप्त दरियाव में ॥
यह वक्त बीता जात है, फिर रोउगे इस दाव में ॥

दोहा—

तम नाशत परकाश तें, कहों तोहि समुझाय ।
और न काहू से नशै, चहें लाखों करो उपाय ॥
अज्ञान विरोधी ज्ञान है, लीजे बात विचार ।
नाश न होवे औरतें, चाहें धारो वृत्त हजार ॥

दोहा—

मधु भैया भागदत्त, गोवर्द्धन पशबन्त ।
मिश्र मैयादास है, सब मण्डली महन्त ॥
कृष्ण गुरु औ शिवरतन, बापू ओंकार ।
गुप्त ज्ञान गुटका बना, तिन आज्ञा अनुसार ॥
सारदूलसिंह बंशीधर, तीजे गंगाराम ।
इनसे आदि और जो, भक्त मण्डली नाम ॥
बापू जिते समाज में, तिनके लिखते नाम ।
ब्रह्मानन्द केसरपुरी, गौरीशंकर जाम ॥
सम्वत की संख्या लिखें, सुनियो करके कान ।
यह बाणी है ब्रह्म पै, मुनिशिर मुकुट पिछान ॥
पन्थ प्रकाशित भादवा, तीज तिथी बुधवार ।
मन्दसोर पूरा हुआ, शिवनपुरी दरबार ॥

॥ ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ॥

* नवीन अनुभवी छन्द *

३४४ शब्द-भजन

मन की वात रहे सब मनमे । तेरा साज विगड़ जाय छिन में ।। टेक ।। एक तिहाई खेल गवाँई । भूल्या बालापन में ।। आई जवानी चढ़ो मस्तानी । मुख देखै दर्पन में ।। १ ।। मूछ मरोरे टेढ़ी पगड़ी । बाँधत सो बेर दिन में ।। तेल फुलेल लगावत तन में बात करत पंचन में ।। २ ।। आया बुढ़ापा सब तन काँप्या । मन पुत्तर अरु धन में ।। पड़्या खाट में मसके मारे । बीमारी सब तन में ।। ३ ।। हरि की भक्ती कबहुं न कीनी । भूल्या तीनों पन में ।। गुप्त रूप को जान्या नाहीं । पड़्या अविद्या वन में ।। ४ ।।

दोहा—

लोक बड़ाई में फंसे, करते बहुत बिख्यान ॥
जासे भव सागर तिरे, बिसर गया वह काम ॥

३४५ शब्द-भजन

मन तू कैसा भया दिवाना । नहिं अपना रूप पिछाना ।।टेक।। काल अनादि का विगड़्या पापी । सूझत ना निज धामा ।। सुत दारा धन प्यारे लागे । इन मे फंसि लपटाना ।। १ ।। जगत माहिं नित भाग्या डोले । बनता ताना वाना ।। नाम धनी का कबहु न

दोहा—

नथू मैया प्रागदास, गोवर्द्धन पदावन्त ।
मिश्र मैयादास हैं, सब मण्डली महन्त ॥
कृष्ण धुरू श्री शिवरतन, बाबू ओंकार ।
गुप्त ज्ञान गुटका बना, तिन आज्ञा अनुसार ॥
सारदूलसिंह वंशीधर, तीजे गंगाराम ।
इनसे आदि और जो, भक्त मण्डली नाम ॥
साधू जिते समाज में, तिनके लिखते नाम ।
ब्रह्मानन्द केसरपुरी, गौरीशंकर जान ॥
सम्वत की सख्या लिखें, सुनियो करके कान ।
ग्रह लगी है ब्रह्म पै, मुनिशिर मुकुट पिछान ॥
पद्म प्रकाशित भादवा, तीज तिथी बुधवार ।
मन्दसोर पूरा हुवा, विधानपुरी दरबार ॥
॥ ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ॥

३४७ शब्द-भजन

जो कोइ सुख के सागर न्हावे। वह फेरि जन्म नहि पावे ।।टेक।। चंचल मनुवा अचल होय जब, एक ब्रह्म में लावे। लोकरु वेद लगे सब झूंठे, भरम जाल उड़ि जावे ।। १ ।। 'अहं ब्रह्म' यह जाप करे सो, यम की चोट बचावे। काल बली का जोर न चलता, जो यह ध्यान लगावे ।।२।। अस्ति भासि प्रिय सत्य रूप है, नामरूप छिटकावे ।। जब यह रमज समझ मे आवे, सच्चा सत् गुरु बतलावे ।। ३ ।। गुप्तरू परघट आप रूप है। भेद भरम मिटि जावे ।। अब के औसर मत ना चूके। फेर दाव नहिं आवे ।। ४ ।।

३४८ शब्द-भजन

कर मन पुरुषोत्तम असनाना।। सब मिटिजाय आना जाना।।टेक।। तीरथ बरत करे बहुतेरे, खोया बहुत जमाना। अब की धार समझ मन मूरख। फिर पीछे होय पछताना ।।१।। ब्रह्म रूप निज आत्मा जानो। पकड़ो ठीक ठिकाना ।। अबके औसर चूकि जायगा। चौरासी को जाना ।।२।। वाच्य अर्थ का त्याग करो अब, येही मैल छुटाना।। ब्रह्माकार करो अब विरती। लावो लक्ष निसाना ।।३।। गुप्त गलीमें सुख से बैठो, खावो ब्रह्म रस खाना ।। अखण्ड की ज्योति पिंड के माहीं। आपमें आप समाना। ४।।

छोना । भूल्या छम निशाना ॥ २ ॥ अब तो चेतन रूप छको निज अब होवे कल्याना ॥ मैल जनम के धोय बहावो । पावो पद निरवाना ॥ ३ ॥ गुप्तरूप परगट तुही विराजे । भेद लखो अब नाना ॥ ज्ञान गळीचे सुख से पौढ़ो मिटि जाय आना जाना ॥ ४ ॥

दोहा—

सुख हित बाहर भरमता, करता बहुत अचार ॥
सुख सरूप तुहि आप है, करके देख विचार ॥

३४६ शब्द–भजन

पीले राम नाम रस प्याला । तेरा मनुवा होय मतवाला ।टेक। जो कोई पीवे युग युग जीवे । वृद्ध होय नहिं बाला ॥ चौरासी के बन्धे फेरवे । कटिजाय यम का जाला ॥ १ ॥ इस प्याले के मोल न लागे । पकड़ हरी की माला ॥ जन्म जन्म के दाग छुटें सब नेक रहे नहिं काला ॥२॥ सत संगति में सौदा करले । वहाँ मिले सब लाला । गुरु वेद का लस्तर पकड़ो । खोल मरम का ताला ॥ ३ ॥ गुप्त ज्ञान का दीपक बालो । सब होवे उजियाला ॥ सब ही शत्रु मारि गिरावो । कर पकड़ि ज्ञान का भाला ॥ ४ ॥

दोहा—

ग्राम बसि किये राव ने, खुला मचाया जंग ॥
निरभय होकर सोवता, भूपति सुख के संग ॥

३४७ शब्द-भजन

जो कोइ सुख के सागर न्हावे । वह फेरि जन्म नहि पावे ।।टेक।। चंचल मनुवा अचल होय जव, एक ब्रह्म मे लावे । लोकरु वेद लगे सव झूंठे, भरम जाल उड़ि जावे ।। १ ।। 'अह ब्रह्म' यह जाप करे सो, यम की चोट वचावे । काल वली का जोर न चलता, जो यह ध्यान लगावे ।।२।। अस्ति भाति प्रिय सत्य रूप है नामरूप छिटकावे ।। जव यह रमज समझ में आवे, सच्चा सत् गुरु वतलावे ।। ३ ।। गुप्तरू परघट आप रूप है । भेद भरम मिटि जावे ।। अव के औसर मत ना चूके । फेर दाव नहिं आवे ।। ४ ।।

३४८ शब्द-भजन

कर मन पुरुषोत्तम असनाना ।। सव मिटिजाय आना जाना ।।टेक।। तीरथ वरत करे वहुतेरे, खोया वहुत जमाना । अव की वार समझ मन मूरख । फिर पीछे होय पछताना ।।१।। ब्रह्म रूप निज आतमा जानो । पकड़ो ठीक ठिकाना ।। अवके औसर चूकि जायगा । चौरासी को जाना ।।२।। वाच्य अर्थ का त्याग करो अव, येही मैल छुटाना ।। ब्रह्माकार करो अव विरती । लावो लक्ष निसाना ।।३।। गुप्त गलीमे सुख से वैठो, खावो ब्रह्म रस खाना ।। अखण्ड की ज्योति पिंड के माहीं । आपमें आप समाना । ४।।

३४६ शब्द भजन

तुई वो चेतन है अविनाशी । अब तोड़ मरम की फांसी॥टेक॥ कारण, सूक्ष्म, स्थूल, देह इन सब ही का परकाशी॥ पंच कोष अरु देह काल में घट घट माहिं निवासी ॥१॥ बद्रीनाथ केदारनाथ में मथुरा में और काशी ॥ रामेश्वर अरु जगन्नाथ में तुही द्वारिका वासी ॥ ॥ स्वर्ग नरक बैकुण्ठपुरी में तुहि ईश्वर यम फांसी ॥ तुही ब्रह्मा तुही विष्णु, तुही ईश कैलाशा ॥३॥ तुही गुप्त तुही परघट, तुही रोवे तुही हांसी ॥ तुम से बिना नहीं कछु खाली, कर के देख तलाशी ॥४॥

३५० शब्द भजन

मत्स्य जो कुछ है सो आपै आप । आपहि जन्मे आपै मरता आपहि तपता तीनो ताप ॥टेक॥ आपे पंच भूत दस इन्द्री, मन बुद्धि चित हंकारहि आप ॥ आपहि पंच भूत की रचना, आपहि है सब पाप अपाप ॥१ । आपही देव आपही पूजा, आप आपका करता जाप ॥ आपहि नेम धरत को धारे, आपहि करे पुन्य और पाप ॥२॥ आपहि संपद् आपहि तप पद, आपहि असि पद पूरन आप। आपहि वाच्यपद आप लक्ष है, आपहि जाप अजपा आप ॥३॥ आपहि गुप्त आपही परघट, सब ही भेख सिरधारी आप ॥ आप बिना कोइ दूजा नाही आपहो यश गावें आप ॥४॥

३५१ शब्द भजन

अब राम भजन को कर तैयारी ।।क्या भूल्या दुनियां के सुख में, अन्त समय होगी ख्वारी ।।टेक।। क्या जवाब देगा साहब को, जब होगी पेशी थारी ।। सुबुक सुबुक कर रोवे मूरख, जब होवे डिगरी जारी ।।१।। यहाँ तो भोग विलास किये थे, वहा विपत भुगते भारी ।। यम दूतन से आनि छुटावे, सुमिरे क्यो ना गिरधारी ।।२।। धोखे मे मत भूले मूरख, क्यों खोवे आयू सारी ।। हरि को भक्ती क्यो नहिं करता, बिगड़ी बात सुधारे सारी ।।३।। गुप्त गली मे जल्दी आवो खोज करो सब नर नारी ।। अब के औसर चूकि जायगा, पूजा होय अतिशय भारी । ४।।

३५२ शब्द भजन

भला मुक्त दुवारे पर आया ।। अब तो चेत मुसाफिर प्यारे, क्यों फसता झूठो माया ।।टेक।। काल बली का बजे नगारा, राजा रैयत सब खाया ।। घड़ी पलक की खबर नहीं है, अमर नहीं तेरी काया ।।१।। मुट्ठी भीचे जगत् मे आया, अपने संग कछु नहीं लाया ।। यहा पै देख्या माल पराया, हक नाहक को अपनाया ।।२।। सौदा करो समुझि सौदागर, जिस सौदे को तू आया ।। सुकृत करले राम सुमिर ले, भला वखत तुझको पाया ।।३।। सभी जगत से नाता तोड़ो, ईश्वर में मन को लाया ।। लोक वेद सब झूठे लागे, गुप्त रूप जब ही पाया ।।४।।

३५३ शब्द भजन

भज्ञ ब्रह्म ज्ञान की सुनो वानी ॥ पंच कोश में व्यापक आतम, ब्रह्म रूप है निरबानो । टेक॥ सो है व्यापक रूप आपना, खोज करो ना सब मानी ॥ ना कोई आतम बिया पड़ता, पड़ता नहीं भारो खानी ॥ १ ॥ वेद शास्त्र कथन करत हैं, समझत नाहीं अज्ञानी ॥ पोथे बांचत कथा सुनावे, मरमि रहा पुष्पित सानो ॥ २ ॥ भेद बाद की फिरे गल्ली में, पूजत है पत्थर पानी ॥ प्रेम मोह के फन्दा फन्द में, नहीं मूरख नहिं तत् ज्ञानी ॥ ३ ॥ जो नर गुप्त ज्ञान पाता है, विषय वासना सब मानी ॥ पद्म पत्र ज्यों जग में रहते, तिनकी नहीं होत हानी ॥ ४ ॥

दोहा—

ब्रह्म ज्ञान यहि जानना, आतम ब्रह्म सरूप ॥
वेद कहे नित टेरि के, सब भूपन का भूप ॥

३५४ शब्द भजन

ऐसा मूरख्या निज हंस को, जग से भटकत वाले है ॥ टेक ॥ मान सरोवर छूट गया न्हाना, भूल गया मोती का खाना ॥ बुगलों में मिलि हुवा बिवाना खाता है मच्छी मास को, बुगली बोली बोले है ॥ १ ॥ छूटि गये निज आतम धर्मा भूलि गया कुछ के सब कर्मा ॥ बनता बोले धर्मा धर्मा करता नहिं आप संभाल को, कुछ और और बोले है ॥ १ ॥ पगलों में मिलि हो गया पागल, है

तो हंस बोलता बगला ॥ पराक्रम भूलि गया है स्गला, भूल्या है देश अरु काल को, जड़ ग्रंथी नहीं खोले है ॥ ६ ॥ गुप्त रूप पूरन है ज्योती, बात तजो बुगलों की थोथी ॥ अहं ब्रह्म यह खावो मोती, दूरि करो यम काल को, परवत तृण के ओल्हे है ॥ ४ ॥

३५५ शब्द भजन

तुहिं हाजिर सदा हजूर है, फिर किसका जाप करे है ! टेक॥ सब के शामिल सब से न्यारा, जाग्रत स्वप्न खेल विस्तारा ॥ सुषपती में है यक तारा, तुरिये में भर पूर है, क्यों झूठा नाच नचे है ॥१॥ तीन अवस्था जाननहारा, ऐसे है तीनों से न्यारा ॥ क्यों फिरता है मारया मारा, नहीं नेरे नहीं दूर है ॥ फिर किसका ताप तपे है ।२॥ व्यापक है सो रूपतुम्हारा, ना कछु हलका ना कछु भारया ॥ ना वह मधुर नहीं वह खारया, ज्यों का त्यो भरपूर है ॥ यह क्यों ना जाँच जंचे है ॥ ३ ॥ गुप्त भेद को नहिं लहता है, कछू और और हि कहता है ॥ याही से भवसागर बहता है, तुझको कछु नहीं सहूर है ॥ भवसागर नहीं तिरे है ॥ ४ ॥

३५६ भजन

बात यह कहते वेद पुरान, ब्राह्मण सोई ब्रह्म पिछाने ॥टेक। सम दम शौचरु तप को करता, हिंसा रहित शाति को धरता ॥ ज्ञान विज्ञान आस्तिक चरता, यहि ब्राह्मण का लक्षण जाने ॥ निज आतम रूप को जाने ॥ १ ॥ सोई क्षत्री छहूँ को जाने, दिनकर

तेज धार्वता ठने ॥ पुत्र से उल्टा हुटि नहिं जाम ॥ ब्राह्मण होवे चातुर सुजान ॥ सब ज्ञान विधी को जाने ॥ ॥ वैश्य सोई जो बनिज बढ़ावे, सत्य करता गऊ चराव ॥ ईश्वर में आत्मा मन लावे, जब होवे कल्यान ॥ निम तीन धर्म को ठने ॥३॥ एक धर्म शूद्र का धरन्या, तीन वर्ण की सेवा करना ॥ गुप्त ध्यान ईश्वर का धरना, होवे धर्म भावना ज्ञान ॥ गीता में कृष्ण बखाने ॥४॥

३५७ भजन

जग नहीं आपुण्य समान है, फिर ईश कौन का करता ॥टेक॥ साक्ष्य बिना साक्षी नहिं होवे, दृष्य नहीं नेत्तर क्या जोवे ॥ भरम नींद में कैसे सोवे ॥ नहीं रूप नहीं नाम है ॥ फिर को जन्मे को मरता ॥ १ ॥ होय अज्ञान सो ज्ञान नसावे, बंध होयतो दुःखी पावे ॥ वेद शास्त्र निकही गावे, मूंठे हम मूंठ अज्ञान है, क्यों झूठा झगड़ा धरता । २ ॥ वेद वृक्ष का जो फल चखते, सो करता बुद्धी नहिं रखते ॥ निश्चय यो निजरूप में संचते, इस में अनुभव परमान है, गुरु निश्चय सदा भकरता ॥ ३ ॥ गुप्त भेद कोइ सन्त बर का, तिसके लेश नहीं रद रद का ॥ मूंठा झगड़ा विधि निषध का, मूर्ख का मिस्मान है ॥ ज्ञाना इन सबस सरता ॥ ४ ॥

३५८ भजन

जो वस्तु मायन है विस्तार ॥ बिरती का सब है सारा ॥टेक॥ अन्तःकरण अविद्या दार ति का चिति परिणाम जो होर, विषयन

का परकाश सोई ॥ रूप समान विचार, सोई सब जग का आधारा ॥१॥ ईश-ज्ञान माया की विरती ताते सर्वज्ञता को धरती ॥ जीव-ज्ञान अन्तःकरन विरती, अविद्या रूपा सर्प निहारी, सो सत्य असत्य रूझारा ॥ २ ॥ भरम यथार्थ ज्ञान कहावे, दोनो संस्कार उपजावे ॥ जिसतें ज्ञान सिमिरती पावे, अन्दर करो विचार, अनुमान ज्ञान से न्यारा ॥ ३ ॥ गुप्त ज्ञान है सबसे न्यारा, विरती ज्ञान को देत सहारा ॥ परमारथ अरु होय बेवहारा, यहि फल है तिसका सार, कर देखो ज्ञान विचारा ॥ ४ ॥

३५६ कव्वाली

यक भूप सैया पर सोये, स्वप्ने मे चिल्लाने लगे ॥ टेक ॥ पैर पकड्या स्यारनी को, तिससे घबराने लगे। योधा खड़े चौफेर को वह उनको बुलवाने लगे ॥ १ ॥ योधारु हथियार सब कछू, काम नहीं आने लगे । स्वप्ने का डंडा हाथ ले, वह उससे छुटवाने लगे ॥ २ ॥ पग छूटि कर लंगड़े हुये, जर्राह को जाने लगे ॥ फोहा न दोना तासु को, फिर रहचते आने लगे ॥३॥ मिल गये मुनि यक स्वप्न में, वह जड़ी को लाने लगे ॥ नहीं राज धन कछु काज आया, गुप्त समझाने लगे ॥४॥

दोहा—

राज विभूति नृप के, कोऊ न आई काम ।
स्वपने के मुनि दंड ने, सभी संमारया काम ॥

तेज धारोगा ठाने ॥ युद्ध से उल्टा हटि नहिं जाने ॥ क्षत्रिय होवे चतुर सुजान ॥ सब दान विधी को जान ॥ २ ॥ वैश्य सोई जो वनिज बढ़ावे, खेती करता गऊ चरावे ॥ ईश्वर में मन ना मन लावे, जब होवे कल्यान ॥ निज तीन धर्म को ठाने ॥३॥ एक धर्म शूद्र का धरन्या, तीन धर्म की सेवा करना ॥ गुप्त ध्यान ईश्वर का धरना, सबै धर्म आपना आन ॥ गीता में कृष्ण बखाने ॥४॥

३५७ भजन

जग नहीं स्वप्न समान है, फिर ईस कौन का करता ॥टेक॥ साक्ष्य बिना साखी नहिं होवे, स्वप्न नहीं नेत्तर क्या जावे ॥ भरम नींद में कैसे सोवे ॥ नहीं रूप नहीं भास है ॥ फिर को जन्मे को मरता ॥ १ ॥ होम अज्ञान तो ज्ञान नसावे बंध होयतो मुक्ती पावे ॥ वद साख सिल्ली गावे, मूंठे हम झूठ जहान है, क्यों ईश्र झगड़ा धरता । २ ॥ वेद ब्रह्म का जो फल बताते, सो करता पुरी नहिं रखते ॥ निश्चय करे निजरूप में संचरे, इस में अनुभव परमान है, गुरु निश्चय सदा अकरता ॥ ३ ॥ गुप्त भेद कोई जब वद का, तिसके लेस नहीं रह खेद का ॥ मूंठ्र झगड़ा विधि निपध का मूर्ख का मिलवान है ॥ ज्ञानी इन सबस तरता ॥ ४ ॥

३५८ भजन

जो वस्तु भासत है बिस्तार ॥ विरती का खेल है सारा ॥टेक॥ अन्तःकरण अविद्या होई, तिनका मिति परिणाम जो होई, विषयन

दोहा—

जो पावे सत् रूप को, मिटि जावे सब शोक ॥
सब कहते वेद्रु शास्तर, और महाजन लोक ॥

३६२ शब्द

सब झूठे गुरु और चेला, वेद गुरु कहे पुकार ॥ टेक ॥
झूठयों का झूठा नाता, क्यों कूटे भरम में माथा ॥ करो आतम में निरधार ॥ १ ॥ गुरु वेद सत्य जो कहते, सो द्वैत माहि बँध रहते,—नहीं अद्वैत गभार ॥ २ ॥ भव दुख मिथ्या गुरु वेदा, यों करे वेद गुरु छेदा ॥ मिथ्या जग का परिहार ॥ ३ ॥ यह ज्ञान लखो गुरुताई, झूठे की धूलि उढाई ॥ तजो तिसका हंकार ॥ ४ ॥

३६३ शब्द

गुरु वेद कहे समझा के, जगत् सब स्वप्न समान ॥ टेक ॥
यह जगत जाल छिटकावो, झूठे झगड़े क्यों ठावो । बात तिनकी तो मान ॥ १ ॥ तुह कहता हम सन्यासी, फिर क्यों फंसे लोभ की फासीं ॥ धर्म अपने को पिछान ॥२॥ तीरथ पर चढ़े भंडारा, दमडयों का ढग है सारा ॥ वाचते कथा पुरान ॥ ३ ॥ नहीं गुप्त भेद को जान्या, काहे को लगावत वाना । लोभ हित करैं विख्यान ॥ ४ ॥

३६४ शब्द

कम तौले झूंठ को बोले, रहे कैसे धर्माचार ॥ टेक ॥
तकड़ी का खेंचे काना, तेरा सभी कपट हम जाना। लेवे पासंग को

३६० क़व्वाली

मैं तो विषयों के सुख में सोया पड़्या गुरु ज्ञान ने आन जगाय दिया ॥ अब जागि उठ्या सब भूलि गया मेरा सागर मोह सुखाय दिया ॥ टेक ॥ गुरु ज्ञान कलेजा छेदि गया, ईश्वर से नाता जोड़ि गया ॥ सब जग से यारी तोड़ि गया, निज आतम माहिं समाय दिया ॥ १ ॥ जब जानि लिया निज रूप सही, मेरी करोड़ जन्म की भूल गई ॥ ज्ञानाग्नि से सबहि अविद्या दही मेरा आतम तत्व दिखाय दिया ॥ २ ॥ जैसे निद्रा भंग से गया सपना, वैसे आतम ज्ञान से जगत् हुआ ॥ नभ नील समान जहान भन्या, मेरे दिल का दाग धोवाय दिया ॥ ३ ॥ गुरुदेव ने फन्दा काटि दिया, मेरा टूट्या नाता जोड़ि दिया ॥ अब सफल हुआ है जन्म जिया, सब समझ्या गुप्त सुझाय दिया ॥ ४ ॥

३६१ राग तरगा

रे मुसाफिर प्यारे, काहे पर भया है दीवाना ॥ टेक ॥ झूठा ही यह ख्याल रचा है, झूठे राजा राना ॥ झूठा है सब लाव लश्कर, झूठे पुरे निशाना ॥ १ ॥ पंचभूत की झूठी रचना, सारे पदारथ समाना ॥ झूठे ही सब स्वर्ग नर्क हैं, झूठे ही तिनका जाना ॥ २ ॥ झूठी काया झूठी माया झूठे पिंजर माना ॥ जीव ईश दोऊ हैं झूठे, सोइ सच्चा जिन जाना ॥ ३ ॥ सोई चेतन रूप तुम्हारा यही ज्ञान यही ध्याना ॥ दास भिन्न जो दीसे सुमिन, मिथ्या सकल प्रमाना ॥ ४ ॥

दोहा—

भगत वही है जगत् में, पर धन करते घात ।
बात बनावें धर्म की, लोगों को दरसात ॥

३६६ ग़ज़ल

लगे हैं लोभ के मारे, यहाँ पंडित वहां काजी ॥ नीर नहीं क्षीर को छाने डोब दई दोनों की वाजी ॥ टेक ॥ गला वह रूह का काटें, खून और मांस को चाटें ॥ कैसे उस खुदा के नाटें, जिसने यह रचना सब साजी ॥ १ ॥ पत्थर पानी को पुजवाते, मन्दिर में रंडी नचवाते ॥ राग रसिकों के वे गाते ॥ वने हैं लोभ के पाजी ॥ २ ॥ राखते ग्यारस और रोजा, ढावते मजन का वोझा ॥ नहीं सव घट खुदा सूझा, कौन करनी से है राजी ॥३॥ वेद कुरान को जानें, लोभ वश तिनकी नहीं मानें ॥ गला चेतन का वह भानें, गुप्त गावे गजल ताजी ॥ ४ ॥

३६७ गजल

अंत में होय पछिताना, हाथ दोऊ जायगा खाली ॥ कहा गफलत में सोता है,गये बड़े मुल्क के वाली ॥टेक॥ जिनों के चले थे चक्कर,तिनों की कोई नहीं सरवर॥काल जिन राख्या अपने घर, लगाकर कैद में ताली ॥१॥ हरी की भक्ति नहीं पाई, मार उन सब ही को खाई ॥ खोज जिनका नहीं राई, रह्या नहीं मूल अरु डाली ॥२॥ चेत अव छोड़ि के हंकार, हरी की भक्ति कर होय

मार ॥ १ ॥ सुन के झूठी देव गवाही, गंगाजी सभा में आई ॥ सुन लिया कुल परिवार ॥ २ ॥ जोजो करे अधिक कमाई, हम उसे महाजन भाई ॥ लेवें पच्चीस हजार ॥ ३ ॥ सुन गुप्त ज्ञान को भाई, तुम सच्ची करो कमाई जभी होवे उद्धार ॥ ४ ॥

दोहा—

नाम महाजन कहत हैं, करते बड़े अकाज ।
मोल करें बाजार में, नेक न आवे लाज ॥
कन्या बेच धन खाहिंगे, सो नर क्यों नहि जाहिं ।
भोजन नाहीं समझना, खून मांस को खाहिं ॥

३६५ गजल

बढ़ा लौकिक बड़ाई पर, पड़ी गल मजब की फांसी ॥ करे बाजार व्याख्याना झूठी कसमों की हाँसी ॥ टेक ॥ मजब की लाज फैलावे, जानवर मानि ठंस खावे ॥ अपनी गरज को गावे, बुद्धि निज रूप से नासी ॥ १ ॥ सभा बड़ बहुत सी लावें, नग्न भट नरत करवावे ॥ कमती बोलना न सुहावे, झूठ बोलना न छुटवासी ॥ २ ॥ कोड़ से भीख भी खाना, तजें नहीं कन्या बिकराना, बहुत सुनते हैं व्याख्याना । करें नहिं धर्म तलाशी ॥ ३ ॥ कन्या कपनी करे भारी, तीस हजार के वांझे ॥ रही नहिं भावे में बाकी, गुप्त कहता है कैलासी । ४ ॥

को तकते डोलें, हाथ तिना के डालो है ॥२॥ तोड़हि फूल मूल मे फाड़े, करते बहुत कुचालो है ॥३॥ गुप्त ताव फूलन के लावे, खैंचि फुलेल करे खालो है ॥४॥

३७१ शब्द

गुल सूखा हरा नहिं होता है ॥टेक॥ पिंड प्रान का योग है जब लग, क्यों न पाप को धोता है ॥१॥ कोटी जनम जग भरमत हो गये, क्यों ना मूल अविद्या खोता है ॥२॥ काल आय तत काल विनासे, क्या गफलत मे सोता है ॥ ३ ॥ गुप्त उपाय कियो नहिं पहिले, अन्त काल क्या रोता है ॥४॥

३७२ शब्द

इस दम का कुछ नहीं ठिकाना है ॥टेक॥ भूलि रह्या धन धाम वाम में, तिनके हाथ बिकाना है ॥१॥ घड़ी पलक की खबर नहीं है, कब कर चले पयाना है ॥२॥ खानपान विषयों के सुख में, होय रहा मस्ताना है ॥३॥ गुप्त गली में कबहुँ न आया, अंत रसातल जाना है ॥४॥

३७३ शब्द

रंग लागया है सतसग रेनों का ॥टेक॥ घट ही भीतर देव दरसता, दरशन माधोवेनी का ॥१॥ अलख की झलक नैन विच छाई, घाट न्हाये तिरवेनी का ॥२॥ कहना और करै कछु औरा, क्या फल होवत कहनो का ॥३॥ गुप्त भेद का फंदा टूट्या, जब घर पाया रहनो का ॥४॥

को तकते डोलें, हाथ तिनो के डाली है ॥२॥ तोड़हि फूल मूल से फाड़े, करते वहुत कुचालो है ॥३॥ गुप्त ताव फूलन के लावें, खैंचि फुलेल करे खालो है ॥४॥

३७१ शब्द

गुल सूखा हरा नहिं होता है ॥टेक॥ पिंड प्रान का योग है जब लग, क्यों न पाप को धोता है ॥१॥ कोटी जनम जग भरमत हो गये, क्यों ना मूल अविद्या खोता है ॥२॥ काल आय तत काल विनासे, क्या गफलत में सोता है ॥ ३ ॥ गुप्त उपाय कियो नहिं पहिले, अन्त काल क्या रोता है ॥४॥

३७२ शब्द

इस दम का कुछ नहीं ठिकाना है ॥टेक॥ भूलि रह्या धन धाम वाम में, तिनके हाथ विकाना है ॥१॥ घड़ी पलक की खवर नहीं है, कब कर चले पयाना है ॥२॥ खानपान विषयों के सुख में, होय रहा मस्ताना है ॥३॥ गुप्त गली मे कवहुँ न आया, अंत रसातल जाना है ॥४॥

३७३ शब्द

रंग लाग्या है सतसंग रैनों का ॥टेक॥ घट ही भीतर देव दरसता, दरशन माधोवेनी का ॥१॥ अलख की झलक नैन विच छाई, घाट न्हाये तिरवेनी का ॥२॥ कहना और करै कछु औरा, क्या फल होवत कहनी का ॥३॥ गुप्त भेद का फंदा टूट्या, जब घर पाया रहनी का ॥४॥

॥ ॐ ॥

तत्वज्ञान-गुटका

द्वितीयावृत्ति की प्रस्तावना

श्रीमत्परहंस परिव्राजकाचार्य, ब्रह्मश्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ट, अवधूत श्रीकेशवानन्द जी महाराज (ब्राह्मीभूत श्री केशव भगवान्) रचित इस "तत्वज्ञान-गुटका" का द्वितीयावृत्ति प्रकाशित करते हुए परमहर्ष होरहा है ।

प्रथमावृत्ति "श्री भुवनेश्वरी प्रिंटिंग प्रेस-रतलाम" से सं० १९८२ में रा० रा० पं० कान्तिचद्रजी श्री निवासजी पाठक द्वारा प्रकाशित हुई थी, जो कि छोटे आकार (२०×३०=३२) में थी, परन्तु इस आवृत्ति में आकार परिवर्तन के साथ ही अनन्त श्री गुप्तानन्द जी महाराज रचित "गुप्तज्ञान-गुटका" के पीछे इसे आबद्ध कर दिया गया है । एवं-श्री गुप्तानन्द जी महाराज रचित कुछ भजन और कवित्त जोकि-इसकी प्रथमावृत्ति में संयुक्त होगये थे, वह सब यथास्थान "गुप्तज्ञान गुटका" में ही रख दिये हैं ।

यद्यपि—इस आवृत्ति में सशोधन पर विशेष ध्यान दिया गया है; तथापि-जो त्रुटियाँ रहगयीं, वा-होगयी हों, वह सब आगे श्री केशव भगवान् उसी प्रकार सुधारने का अनुग्रह करें,-जिस प्रकार कि-इस आवृत्ति में ॐ ॥

प्रकाशक—

प्रथमावृत्ति की प्रस्तावना

श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मश्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ अवधूत स्वामी श्री केशवानन्दजी महाराज (श्री केशव भगवान्) विरचित यह पद संग्रह रूपी "तत्त्वज्ञान-गुटका" विवेकी जनों के हितार्थ उनकी आज्ञा से प्रकाशित करने में आया है। इसके अन्त में परम पूज्यपाद महात्मा श्री १०८ श्री स्वामी गुमानन्दजी महाराज कृत कवित्त पचीसी आदि कुछ अति उत्तम भजन भी सम्मिलित किये गये हैं।

तत्त्वज्ञान तथा आत्मज्ञान सम्बन्धी उपदेश-जनक-पद संगीत-शैली में होने के कारण जनता के अन्तःकरण को उत्तम सिद्धान्तों की ओर आकर्षित करने में विशेष उपयोगी प्रतीत होते हैं। इस गुटके में नीति, धर्म और सदाचार के भाव भी इस प्रकार प्रगट हैं; जिनकी ओर श्रद्धा पूर्वक मन लगाने से "गूढ़-तत्त्वों का बोध" सहज ही होसकता है।

सच्चे सन्तों की इस प्रकार प्रेममय और मनोहारिणी-वाणीरूपी-अमृत से भली भाँति भरा हुआ, यह "तत्त्व-ज्ञान-गुटका" यथार्थ स्वाद लेनेवाले धर्म प्रेमी तथा जिज्ञासु-जनों को सदा के लिये सुखी करने में समर्थ है।

प्रकाशक—

❀ ॐ तत्सत् ❀

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

अथ तत्व ज्ञान गुटका प्रारम्भः

मङ्गलाचरण ।

ग्रन्थ के आदि में मङ्गला चरण लिखते हैं। सो मङ्गला चरण तीन प्रकार का होता है । एक "वस्तु-निर्देशरूप" दूसरा "नमस्कार रूप" तीसरा "आशीर्वाद रूप" मङ्गला चरण होता है।

—o—

अथ "वस्तु-निर्देशरूप" मङ्गलाचरण।

दोहा—

निर्गुण सगुण परमात्मा, वस्तु ताहि पिछान ।
भिन्न भिन्न कीर्तन का, निर्देशहि ले जान ॥

—o—

अथ 'नमस्कार रूप' मङ्गलाचरण ।

चौपाई—

असुरन को जो करै संहारा । तिनको नमस्कार है म्हारा ॥
लक्ष्मी पारवती पति होई । भजतन को संतत भजै सोई । १॥

—o—

अथ "आशीर्वाद रूप" मङ्गलाचरण।

सोरठा—

शिष्य वांछित स्वय वांछि, करत प्रार्थना जो नर।
यासे दूर व्है भ्रान्ति, आशीर्वाद ताको कहत ॥२॥

—०—

अथ "अनुबन्ध"।

ग्रन्थ के आदि में अनुबन्ध होता है, जिस के जाने बिना जिज्ञासु पुरुष की ग्रन्थ में प्रवृत्ति नहीं होती है इस कारण से अनुबन्ध कहते हैं—

दोहा—

अधिकारी[१] सम्बन्ध[२] ये, विषय[३] प्रयोजन[४] आन।
कोविद कहत अनुबन्ध इन, ग्रन्थ आदि में ज्ञान ॥३॥
निज आतम अज्ञान से, भूले पे बहु काल।
कृपा भई गुरु शुद्ध की, पाया घर में माल ॥४॥
विघन हरन मंगल करन, गणनायक भी भूप।
मम हिरदे आयो बसो, तत्त्व दरश अनूप ॥५॥

१ भैरवी।

लागा म्हाने प्यारा गुरू जो ना थान ॥टेक॥ जिनकी बानी से तपनी बुझानी होन न कबहूँ मन शोक ॥१॥ 'मर्द नज़ारिम'

मत्र दियो है, उठ गई चित्त की पोल ॥२॥ मिट गये काम, क्रोध, मद, ममता, वज गये दशो दिशि ढोल ॥३॥ पाचों को वस करि, पचीसों को दूर कर, होत न जग मों हि झोल ॥ ४ ॥ सत् गुरु किरपा भई केशव पर, पायो है रतन अमोल ॥५॥

२ भैरवी ।

गुरू जी मोहि प्यायो सुधा रस वैन ॥टेक॥ सत के पात्र धर्म के प्याला, अमृत रस सुख दैन ॥१॥ मिटि गया तिमिर उदय भये भानु, मिलि गया ज्ञान रतन का ऐन ॥२॥ मिलि गये माल दूरि भये दारिद्दर, हो गया चित्त को चैन ॥३॥ उठि गई चाह मिटि गयी तृष्णा, दूरि भये भव दुख भैन । ४ । कीन्ही कृपा गुरु जी केशव पर, लखायी है ब्रह्मानन्द सैन ॥५॥

३ भैरवी ।

लाग्यो म्हारो, चित्त गुरूजी की ओर ॥टेक॥ यह संसार फूल सीमर को, तासे दिल उठि गयो मोर ॥१॥ सुन्दर तिरिया विष से भरिया, करती है मोक्ष मार्ग में खोर ॥२॥ तात मात अरु सुत वनितादिक, अन्त चले कोई नहिं लोर ॥३॥ काम क्रोध और मद ममता, ज्ञान बिना फिरत जैसे ढोर ॥४॥ यह तनु है चौसर को बाजो, अब तो भूलो मत भोर ॥५॥ तीनों लोक भोग सब तज कर, केशवानन्द आये शरनवामे तोर ॥६॥

अथ "आशीर्वाद रूप" मङ्गलाचरण ।

सोरठा—

शिष्य वांछित स्वय वांछि, करत प्रार्थना जो नर ।
पासे दूर न्है भ्रान्ति, आशीर्वाद ताको कहत ॥१॥

—०—

अथ "अनुबन्ध" ।

ग्रन्थ के आदि में अनुबन्ध होता है, जिस के जाने बिना जिज्ञासु पुरुष को ग्रन्थ में प्रवृत्ति नहीं होती है इस कारण से अनुबन्ध कहते हैं—

दोहा—

अधिकारी[१] सम्बन्ध[२] ये, विषय[३] प्रयोजन[४] जान ।
कोविद कहत अनुबन्ध इन, ग्रन्थ आदि में ज्ञान ॥२॥
निज आतम अज्ञान ते, भूले ये बहु काल ।
कृपा भई गुरु गुरु की, पाया घर में माल ॥४॥
विघन हरन मंगल करन, गणनायक श्री भूप ।
मम हिरदे वाणी बसो, तत्त्व दरश अनूप ॥५॥

१ भैरवी ।

अमोले म्हाने प्यारा गुरू जी ना बोल ॥टेक॥ जिनकी बानी से तपनी बुझानी, होत न कबहीं मन डोल ॥ १ ॥ भई मग्नासिम'

चाकरी मन जमाई है ॥ १ ॥ कोई लिखते भरे पानी, कोई रोटी बनाई है। गले मे धार जनेऊ विप्र, दासी-पति कहाई है ॥२॥ छत्र को छोडकर क्षत्री, टोप माथे लगाई है। बदन में कोट पग में बूट, घड़ी पाकेट में आई है ॥३॥ छाँड़ कर नीति अरु तप को, स्वाद इन्द्रिय भ्रमाई है। न देखे दु ख परजा को, चोरलापन बढ़ाई है ॥४॥ है छोडा धर्म वैश्यो ने, अधिक तृष्णा समाई है। खरीदेरु बेचते दूना, करे लालच सवाई है ॥५॥ बेचें बेटी करें खोटी, जरा नहिं लाज आई है। हैं चलते चाल अति उजली, कृर्ता जिनकी कसाई है ॥६॥ छाँड़ कर चाकरो को शूद्र, जप तप मन बसाई है। लगाते छाप तिलकादिक, सहज माला गटकाई है ॥७॥ भूले हैं साधना साधू, बहुत परपच फँसाई है। कोई धाम कोई चाम, कोई दाम हाथ लफाई है ॥८॥ बनाये भेख रँग रँग के, कथे कथनी सफाई है। निजातम रँग ना रँग कर, फक़ीरीयों गमाई है ॥९॥ मन्दिर मे गुनी पति को छांड़, अन्य से करे यारी है। सास का कहा माने नहिं, करे पति से रिसाई है ॥१०॥ सुहागिनि हीन भूषण से, विधवा सिंगार रचाई है। भूलकर लोक अरु परलोक, करे हाँसी चोलाई है ॥११॥ त्याग के संग सज्जन का, नीच से प्रीति लगाई है। करे उपदेश जो सच्चा, उसी से मुंह फुलाई है ॥१२॥ करे उपकार जो जिसका, उसी की करे बुराई है। समझ ऐसी पड़ी उलटी, होवे कैसे भलाई है ॥१३॥ लिखे लक्षण यह थोड़े से, बहुत समझे चतुराई है। बजाते बीना

४ गजल

कलिहारी तुम्हें ईश्वर, अजब गाड़ी बनाई है। क्मायीं करें रँग रँग की, नित्य होती सवाई है ॥ टेक। बनाई पंच भूतों से, मिश्र गुण से सजाइ है। है चलती जोर स भारी, मेग जिसकी कठिनाई है ॥ १ ॥ शरीर सूक्षम बना इंजन, स्थूल डब्बा लगाई है। सड़क कर पाप पुण्यों की, कि जिस पर छम चलाई है ॥२॥ शील संतोष लगी पहिया, सत्त नामी जमाई है। क्षमा आर्जव बनी नाली भाम तिस पर चढ़ाई है। ३॥ तार संकल्प विकल्प है, लवर जल्दा से आइ है। समझकर के भू मन मास्टर, दिया चन्दी बजाई है। ४। छुट्टी संचित से गाड़ी,प्रारब्ध स्टेशन आइ है। आगामी जाने को तैयार मुसाफिर जीव बिठाई है ॥ ५ ॥ गार्ड हंकार की होली, बुद्धि ड्राइवर चलाई है। स्वास धुआँ चली जोर से, शब्द सीटी बजाई है ॥ ६ ॥ टिकट ले कोई सुरपुर को, कोई बैकुण्ठ जाई है। है जिसके पास में पूरा, वही निज घर को जाई है ।।७। नहीं लेना नहीं देना, नहीं करनी कमाइ है। केशवानन्द सुनी रस्ता जहाँ आकर न जाई है ॥ ८ ॥

५ गजल

आया कलियुग सुनो संतो, धर्म की राह भुलाई है। है त्यागा धर्म वर्णों ने, करें उलटी कमाई है ॥ टेक ॥ भुलाकर विद्या विप्रों ने लोभ दिल माहिं लाई है। तजा निज कर्म सन्ध्यादिक,

तव ज्ञान परकाशी । मिटें सव ताप या मन के, छुटे सघ भर्म की राशी ॥२॥ जपो निज जाप शिवोहं का, यही है ज्ञान सुख राशी । यही है ध्यान अरु पूजा, यही अज्ञान का नाशी ॥३॥ छाड सव मैं अरू मेरा विचारो कोई नहीं तेरा । मिटाया केशव सव खेड़ा, लखा निज आप को खासो ॥४।

८ ग़ज़ल

भूलो मत काम धन्धे में, पडोगे जग के फन्दे मे । जपो निज जाप अन्दर में, मिटे सव ताप पल भर में ॥टेक॥ भूले थे माया आसी में, लगाये गुरू निराशी में । लगा है मन उदासी में, कटा सव भर्म काशी मे ॥१॥ जिसे हम जानते बन में, वो पाया आपके घर मे । छुटी सव आश या मन मे, लगा है चित्त चिद्घन में ॥२॥ यही है धर्म सन्तों में जमाया वुद्धि नूरों में । जराया कर्म या वपु में, न आवे फेर या भव में ॥३॥ वहो मत मृग तृष्णा में, मिथ्या ज्यों पुष्प गगनों में । गु[illegible]शव मिला तन में, रहा नहिं काम इस जग में ॥४॥

९ ग़ज़ल

राम रस प्याला [illegible] त्या जम का भाला है । धरम के [illegible] रस, विचा[illegible] पियाला है ॥टेक॥ झूमे निज ब्रह्मानन्द [illegible] । उठी वृत्ति प्रवाहों की, [illegible] है ॥ [illegible] फक्कड़ों का, लकारों को

मैंसी पास भास आवे पगुराई है ॥१४॥ लिखा छपाया कलियुग का, नाम इसका तो कर जुग है। करे इस हाथ पावे उस हाथ, यही वेदों न गाई है ॥१५॥ जो काई करे रक्षा धरम, उसी से कर्मे कर य सरम। केशवानन्द जो पावे मग्र, न इस में मूंड राई है ॥१६॥

६ गज़ल

बिना सत संग सुन प्यारे, नहीं मुक्ति होयगी तेरी। मूला क्यों जाऊ माया में, छुटेगा फक्र के फेरी ॥टेक॥ बड़े भाग्यों से है पाया, मनुष के तन में जो आया। भाई पल छिन में है खोया, नाचता काल शिर तेरी ॥१॥ आंक सब मैं और मेरी, विचारो मग्र को सवेरी। ये हैं सब काल के घेरी, जरा टुक आप को हेरी ॥२॥ करो सत संग सेवन स, मिटे सब मरम अन्दर से। लखावे निज आप अपन को, कटे सब काल की बेरी ॥३॥ जब सत् गुरु मिले पूरे, सूझे तब हीय के पूर। पाया केशव गुम इसी तन में, करे जगजाल की हरी।

७ गजल

लखा जब आप अविनाशी, कटी सब कर्म की फांसी। मिटा सब जन्म चौरासी, हुआ मन ब्रह्म मे वासी ॥टेक। नहीं है आस नहीं परलोक का वासी। है सब ही ठौर में वासी, म‌ ‌ काशी ॥१॥ करो दिल साफ अन्दर से, होय

तब ज्ञान परकाशी । मिटें सब ताप या मन के, छुटे सब भर्म की राशी ॥२॥ जपो निज जाप शिवोहं का, यही है ज्ञान सुख राशी । यही है ध्यान अरु पूजा, यही अज्ञान का नाशी ॥३॥ छाड सब मै अरू मेरा, विचारो कोई नहीं तेरा । मिटाया केशव सब खेड़ा, लखा निज आप को खासी ॥४॥

८ ग़जल

भूलो मत काम धन्धे मे, पडोगे जग के फन्दे में । जपो निज जाप अन्दर में, मिटे सब ताप पल भर में ॥टेक॥ भूले थे माया आसी में, लगाये गुरू निराशी में । लगा है मन उदासी में, कटा सब भर्म काशी मे ॥१॥ जिसे हम जानते वन में, वो पाया आपके घर में । छुटी सब आश या मन मे, लगा है चित्त चिद्घन में ॥२॥ यही है धर्म सन्तों में जमाया बुद्धि नूरों में । जराया कर्म या वपु में, न आवे फेर या भव में ॥३॥ वहो मत मृग तृष्णा में, मिथ्या ज्यों पुष्प गगनों में । गुप्त केशव मिला तन में, रहा नहिं काम इस जग मे ॥४॥

९ ग़ज़ल

पिया है राम रस प्याला, करे क्या जम का भाला है । धरम के पात्र शान्ती रस, विचारों का पियाला है ॥टेक॥ झूमे निज नैन में आनन्द, ब्रह्मानन्द है मस्ताना । उठी वृत्ति प्रवाहों की, निजानन्द में समाला है ॥१॥ यही है काम फक्कड़ों का, लकारों को

फठाया है। नकार है बार बार जिसको, दकारों स निराला है ॥२॥ गवी है जिनकी हंसों की, य नारों को निकाला है। पिया है क्षीर ज्ञानों का प्रपचों को निकाला है ॥३॥ हैं बसते दश व्यंजन में, निरंजन एक समाला है। कहे केशव मिटा भाना, यही ब्रह्म ज्ञान-माला है ॥४॥

१० गजल

पलाहि में बूंद से प्यारे, य बाहर क्यों भटकता है। भलकता है ज्योति जिस मणि की हमेशा वो चमकता है ॥टेक॥ बस जिन तेल बाती के, पवन स नाहिं बुझता है। याह जिनके सहारे स, वो सूरज भी चमकता है ॥१॥ घुप तम नाश सब घट के, जहाँ पर दीप जरता है। विरोधी ज्ञान बाहर के, य अन्तर वृत्ति करता है। २॥ मिटे अज्ञान से मूला, काम सूक्ष्म में होता है। जरे संचित तथा क्रियमाण, एक प्रारब्ध रहता है ॥३॥ छूटे प्रारब्ध फूटे घट, तबहिं महाकाश मिलता है। कहे केशव इसे जब ही, गुरू को शरण बसता है ॥४॥

११ गजल

अगर है चाप ईश्वर का, बुरे कर्मों से डर चम कर। छूट कर आस विषयों से बहिर इन्द्रिय सदा बस कर ॥टेक॥ करो सत्संग सदा मन से, गुरू वाक्यों में श्रद्धा कर। तजो सब मान अपमाना पियो य ज्ञान रस भरकर ॥१॥ दुनिया दुख रूप है

धन्धा, माया किरातिनी का फन्दा। फंसा है जीव मृग अन्धा, छुटे कोइ बीर जोरावर।२॥ है वैठी मक्खि जव गुड़ पर, लिपट गये तवहि दोनों पर। रोती है शिर को धुन धुनकर, लालच में प्राण गये तड़ कर।३॥ कुटुम्ब परिवार सुत दारा, केतकी फूल सम प्यारा। मुवा ये छूतेही भौंरा, केशवानन्द छोड़ा सव झगर॥४॥

१२ ग़ज़ल

करम के भोग भोगे विन, कभी फुरसत न होती है। टेक। गुरू वशिष्ट से ज्ञानी, धरा है राज का मुहूरत। सजा सव साज गादी के, लगन सव लोग जोता है॥१॥ तीनों लोकों के मालिक थे, देव जिनके हुकुम में थे। निमित्त जब आये भोगों के आखिर वनवास भोक्ता है॥ २ ॥ हुवे परीक्षित हरिश्चन्द, जिनो ने कलि को रोका था। निमित जब आया भोगों का, डोम घर पानी भरता है।३। किया है विचार जिस नर ने हुवा है पार या जगमें। कहे केशव विना धीरज, वो शिर धुन धुन के रोता है॥४॥

१३ ग़ज़ल

सुनले ये वात प्यारे, दुनिया से होजा न्यारे। ये सव हैं झूठे व्यवहारे, जैसे मृगनीर सारे॥ टेक॥ अरूनी-फल देख पक्षी, खाता है माँस अच्छी। मारत है चोंच सम्हर कर, टूटे दोऊ ठोर हारे॥१॥ सेमर को देख सूवा, लगावे है आस जूवा। मारत

उठाया है। नकार है बार बार जिनको, दकारों से निराक्रम है ॥२॥ गती है जिनकी हंसों को, ये नारों को निकाला है। पिया है क्षीर ज्ञानों का प्रपंचों को निकाला है ॥३॥ हैं बसते देश व्यंजन में, निरंजन एक समाला है। कहे केशव मिल आना, पड़ी प्रभु नाम-माला है ॥४॥

१० गजल

पदार्थ में ढूंढ ले प्यारे, ये बाहर क्यों भटकता है। अलख है क्योंकि जिस मणि की हमेशा वो चमकता है ॥टेक॥ जले बिन तेल बाती के, पवन से नाहिं बुझता है। पाइ जिनके सहारे से, वो सूरज भी चमकता है ॥१॥ तुम तम माया सब घट के, जहाँ पर दीप करता है। विरोधी ज्ञान बाहर के, न अन्तर वृत्ति करता है ॥२॥ मिटे अज्ञान से मूल, भय दुःख में होता है। अरे संचित तथा क्रियमाण, एक प्रारब्ध रहता है ॥३॥ छुटे प्रारब्ध फूटे घट, तबहिं महाकाश मिलता है। कहे केशव जभी सब ही, गुरू की शरण बसता है ॥४॥

११ गजल

अगर है चाप ईश्वर का, बुरे कर्मों से हर दम डर। छूट कर आस विषयों से बाहिर इन्द्रिय सदा बस कर। टेक॥ करो सत्संग सदा मन से, गुरू वाक्यों में श्रद्धा कर। तमो सब मान पियो य ज्ञान रस भरकर ॥१॥ दुनिया दुःख रूप है

सुख दाहै ॥ २ ॥ करा जब दिलका अन्दर में दमकतानूर चमकाई । छुटे सब आस या जग से, हुवे भव दूर भरमाई ॥३॥ मिटा बन्ध-मोक्ष केशव का, लखा जग मिरग तृष्णाई दरीद्र दुःख सब नाशे गुप्त ने जबहि अपनाई ॥ ४ ॥

१६ दादरा ग़ज़ल

विनाये ध्यान ज्ञान के जीना न काम का । जीना पिछाने ब्रह्म को, वो तन है स्वान का ॥ टेक ॥ भटकता द्वार २ को ये टूक के लिये । सहता है अपमान को, यक पेट लिये । भूला क्या अजार में निवार आपका ॥ १ ॥ छांड भरम के फाँम को विचार कर हिया । वो हरदम है तेरे पास में, जरा दिल में कर दया ॥ जराले कर्म ढेर को मिटाले ताप का ॥ २ ॥ जग है मृग नीर जैसे, जाल है नट का, मिथ्या है शश शृंग तैसे, पुष्प कास का ॥ उठाजे हिर्स जग से, भूलना न नाम का ॥ ३ ॥ वोही है तनु धर्म लखा, जो है एक ब्रह्म । न साया काल जाल को, बहाया सर्व भ्रम कहे ताहे है केशवानन्द अब भयो समान का ॥ ४ ॥

१७ दादरा ग़ज़ल

मैं ही हुँ ब्रह्मानन्द मुझे वेद गाता है । मात तात भ्रात सभी झूठा नाता है ॥ टेक ॥ हू अविनाशी नाश रहित, जहां काल नहीं है । पंच कोस शरीर त्रय स्वप्ने दिखाता है ॥ १ ॥ हूँ आकाश वत् व्यापक, भीतर अरु बाहर नित्य शुद्ध नित्य मुक्त तीनों, गुन अतीता

है होंय सुखा, यह पछा अंत पछतारे ॥२॥ वैसे ही सुत मरु दारा, माने है बहुप्यारा । आखिर तो होगा न्यारा, पसीना थमी समारे । ३॥ आलस को छोड़ भाई, करले तू कुछ कमाई । यहां चले न जोर राई, केसव कहे विचारे । ४॥

१४ गजल

मरम की भंगा पीकरके, सब–चित–आनन्द सु समा है । टेक।
अज्ञान सिन्न मन मोह की झोली, तृष्णा घोट मथाया है । राग सौंफ अरु द्वेष कासनी, ममता मिरच मिलाया है ॥१॥ काम इलायची क्रोध की केसर, छेम बदाम फुलाया है । मान के लोटे में ईर्ष्या अरु, अहंकार से भर संगवाया है । २॥ चित की साफी विषय का गोला, कुबुद्धि भर छनवाया है । असास मर्जों की शकर मिलाकर, मन मेंगवी को पिलाया है ॥३॥ हुआ बदमस्त भुलाया चेतन, सारी अक्ल गमाया है । कहे केशवानन्द पती नहीं गम, चौरासी में भरमाया है ॥ ४ ॥

१५ गजल

घटहि में गंगा है प्यारे, जिसमें मन को तू नाई । छूटें सब पाप या विष के, होय अन्दर में सफाई ॥ टेक ॥ कमी नहिं थाह या जल की बहुत है वामे गहराई । नदी है ईस नामा जीव, सभी उस में मिले जाई ॥ १ । बना है घाट बहुदम का, हैं आमें समताई । नहावे कोई विरलेजन जो पावे पद हैं

सुख दाहै ॥ २ ॥ करा जब जिका अन्दर मे दमकतानूर चमकाई । छुटे सब आस या जग से, हुवे सब दूर भरमाई ॥३॥ मिटा बन्ध-मोक्ष केशव का, लखा जग मिरग तृष्णाई दरीद्र दुःख सब नाशे गुप्त ने जबहि अपनाई ॥ ४ ॥

१६ दादरा ग़ज़ल

विनाये ध्यान ज्ञान के जोना न काम का । जोना पिछाने ब्रह्म को, वो तन है स्वान का ॥ टेक ॥ भटकता द्वार २ को ये टूक के लिये । सहता है अपमान को, यक पेट लिये । भूला क्या अजार में निवार आपका ॥ १ ॥ छांड भरम के फाँस को विचार कर दिया । वो हरदम है तेरे पास में, जरा दिल में कर दया ॥ जराले कर्म ढेर को मिटाले ताप का ॥ २ ॥ जग है मृग नीर जैसे, जाल है नट का, मिथ्या है शश शृंग तैसे, पुष्प कास का ॥ उठाजे हिर्स जग से, भूलना न नाम का ॥ ३ ॥ वोही है तनु धर्म लखा, जो है एक ब्रह्म । न साया काल जाल को, बहाया सर्व भ्रम कहे ताहे है केशवानन्द अब भयो समान का ॥ ४ ॥

१७ दादरा ग़ज़ल

मैं ही हुं ब्रह्मानन्द मुझे वेद गाता है । मात तात भ्रात सभी झूठा नाता है ॥ टेक ॥ हू अविनाशी नाश रहित, जहां काल नहीं है । पंच कोस शरीर त्रय स्वप्ने दिखाता है ॥ १ ॥ हूँ आकाश वत् व्यापक, भीतर अरु बाहर नित्य शुद्ध नित्य मुक्त तीनों, गुन अतीता

है ॥ २ ॥ क्रिया-शक्ति नहीं जिस में ज्ञान शक्ति है ॥ इन्द्री गोचर है नहीं क्षेम कहाता है ॥ ३ ॥ ऐसे निश्चय पाय के करतव्य तजा है, कहता है केशवानन्द वाही साधू कहाता है ॥ ४ ॥

१८ दादरा

करले दया मम ओ, पाना है निरवान । जो बतावे भेद गुरू, ताहि को पिछान ॥ टेक ॥ कहते हैं गरू टेर के, रब घट में है भगवान । वो मिलता है सत्संग से, जो कथा लगावे कान ॥ १ ॥ भटकता है क्यों बाहर को, वो होता है हैरान । जैसे मृगा मारे फिरता देता है य प्रान ॥ २ ॥ चमक तरी पाई के, चमकता है य जहान । जमता है अब आप को, तब होता नहीं भान । ३ ॥ गुरु-सागर गोता मारा, पायी रतन खान । कहें केशवानन्द अब मयी है समान ॥ ४ ॥

१६ दादरा

कुव्वी के द्वारे आके तू करता है क्यों विराम । औसर न ऐसा आवेगा फिर, होजाय तू निरवान ॥टेक॥ छल चौरासी भरम के अब आया है ठिकाना । और भरम सब छांड प्यारे, हिरदै मांहीं आन ॥ १ ॥ घर गुरू भी यही बतावें, व्यापक है एक समान । बोही है सब का आतमा फिर होता है क्यों हैरान ॥२॥ अन्दर से तू मन वस करले व तू चतुर्थ ध्यान । कहें महाऋषि आप अपने पद ही है ब्रह्म ज्ञान ॥३॥ विषय पांचो वस करले यही है दुःख की हान । कहे केशवान द य वचन हैं परमान ॥४॥

२० दादरा

सोता है गाफिल क्यो मुसाफिर, जाग जागरे। होजा हुशियार माल वचानें लाग लागरे ॥टेक॥ इस नगरी मे नो दरवाजे खुले पडे हैं किवाडे सारे, घुसे हैं पांचो चोर ताके भाग भागरे ॥१॥ स्वधर्म की तोप करले डाट वेराग की वारूद भरले, मारदे गोला ज्ञान के तू ताक ताकरे ॥२॥ सोता सो खोता है प्यारे, वचता रे नहीं मालरे। अव तो कहूँ जागले प्यारे, छाँड़ विपय के राग रागरे ॥३॥ गुरू वेद के आशय समझो, छाँड़ भस्म के फासरे। कहें केशवानन्द मिटा जो जन्म की आग आगरे ॥४॥

२१ दादरा

उठ चलेगा पलमे कोई, काम न आवेगा ॥ कुटुम्व कवीला छूटेगा, एक जान जावेगा ॥टेक॥ लगावे नहीं देरी, कपड़ा मगावेगा। चढ़ावे घोड़ा काठके, सत नाम वुलावेगा ॥१॥ धरे मसान मे जायके वंधन छुडावेगा, नीचे ऊपर से लकड़ी, फिर आग लगावेगा ॥२॥ राख होयगा छिनमें फिर, गगा नहावेगा। देकर तिलांजलि जलकी, कोई नाम न लेवेगा ॥३॥ करले दया धर्म को, जम जाल मिटावेगा। कहता है केशवानन्द हरी का नाम वचावेगा ॥४॥

२२ दादरा

चामके इस गाव में, रहना किसी को नाहे ॥टेक॥ राज करते राजा गये, खेती करत किसान, वड़े २ जोधा राख होगये,

स्थिर रहा कोई काहे ॥१॥ आना है जरूर प्यारे,होता है क्यों अजान दया धर्म हिरदे राखो, वसु मानुष के माहे । २॥ जब वक किया पाप कमाया भजन किया कछु नाहे । अन्त में जमराज भू वा छूटे चारा चलेगा क्या हे ॥ ३ ॥ कुटुंब कबीला खोस क काया, राम पिछाना नाहे । कहता है केशवानन्द तेरा, वृथा गमाया जाहे ॥४।

२३ दादरा

जब स आना है मेद, माया का कान काट दिया ॥ टेक ॥ बना कर छुरी ज्ञान की विचार हाथ से । सत्संग और मौच के निपात कर दिया ॥१॥ विचरते मौज में सदा, निशंक होय कर, भरम का पता तोड़, कर्म को जला दिया ॥ २ ॥ सोनहिं जाता है मेद, उन के सिरमोर होरहा नचाता है निशीदिन मन को,आधीन कर लिया ॥ ३ ॥ करले विचार पलका, तू हो सहजोर है । समझ कर केशवानन्द उस को बन्ध काट दिया ॥ ४ ॥

२४ दादरा

निकल जायगा स्वास, जैसे पुष्प बास है ।।टेक।। सामग्री भरी यार, जैस दीपक बात है । माच में बूंद २ तैस,फंन नाश है ॥१॥ चार दिन की चाँदना फिर वा अंधारा है । भूला है क्यों संसार में तू स्वयं प्रकाश है ॥२॥ पंचकोप शरीर में, वृथा हंकार है । मात तात भ्रात सब स्वप्न आस है ॥३॥ स्थूल विचार करके, तूही आधार है य सब ही नाश होयँगे, जैस य पास है ॥४॥

करले दया धर्म को, सम्हार खास है ।कहता है केशवानन्द छांड़, जगत् आस है ॥५॥

२५ दादरा

राम नाम छोंड़ के, तें काम क्या किया । धन धाम काम वाम में अपना ये मन दिया ॥ टेक ॥ किया काम वेईमान तूने, विषयों में दिऊ दिया । पारस मनो को खोय के तू, दोन होगया ॥१॥ पाया अमोल देह को, विचार कर हिया । विना ये ध्यान ज्ञान के वृथा हो तू जिया ॥२॥ दिया था मनुप देह को, एक भक्ति के लिये । फँस पंचकोष त्रम शरीर आपना किया ॥३॥ खायेगा वहुत मार तव, कोइ ना करे दया । हाय २ करम को मार केशव ने है यूं किया ॥४॥

२६ आसावरी

काहे को सोच रहा रे । मूरखनर; काहे को सोच रहा रे ॥टेक॥ कीरी कुंजर सव को देत है, जिनके नहीं व्यापाररे । पशु अनेक को घास दियो है, कीट पतग को सारे ॥१॥ अजगर के तो खेतनहीं है, मीन के नहीं गौरारे । हंसन के तो वनिज नहीं हैं, चुगत मोती न्यारारे ॥ २ ॥ जिनके नाम है विष्णु विश्वंभर उनको क्यों न संभारारे । छांड़ दे काम क्रोध मद ममता, मानले कहा हमरारे ॥३॥ निशदिन चिन्ता करत है मनमें, सव धन होइ हमारारे । भाग लिखा है उतने पईहै, यही केशवानन्द विचारारे ॥४॥

२७ आसावरी

भजन बिन काहे करत है ख्वारी ॥ टेक ॥ आठमास दश जब, उदर माहिं दुःख सहा अति भारी । ऊपर पग औंधे मुख भूज्या, कीड़ा काटे हमारी ॥ १ ॥ अठरा भाग से बोंध जगत है, आन स बंधी तनु सारी । भरसंग्य जन्म को याद करत है, अब न भूले प्रभुवारी ॥ २ ॥ भीतर स जब बाहिर आया, रहा न एक विचारी । यह संसार की हवा लगी है बस भये भ्रमि नारी ॥ ३ ॥ मानुष तनको सुर बाँछत हैं, सुनो प्रभु अरज हमारी । यह तनु सबहीं साधन करके, हो जाय रूप तुम्हारी ॥ ४ ॥ गुरू वेद के आसय समझकर होजा जगत स न्यारो । कहे केशवानन्द अब मूढ़ोमत, लीजे रूप निहारी ॥ ५ ॥

२८ आसावरी

मूरख नर, पाप करम से डरोरे ॥ टेक ॥ जैसे शरीर है अपनो प्यारो, तैसे पशु पक्षी रे । अपन २ भोग भोगन का सब्बो वपू प्यारोरे ॥ १ ॥ अपने तनु मक्खी न बैठन दे, दूजे को करे तिरस्कारो । चार अंगुल जिव्हा स्वाद के कारन, मारे बन्दूक समारोरे ॥ ॥ जैसे शरीर है अपने पूत के तैसे बकरा मार्जारि, बरा विचार न करता गंवारा खात है मूढ़ चबोरोरे ॥ ३ ॥ जब तक जिया पाप कमाया, दया किया कछु नहिंरे । अब यमराज फंद में घेरे, बाँध चल बग डोरोरे ॥ ४ ॥ जननी सम जाने परनारी,

प॰धन छिपके समरे। दया धरम हिरदे मे राखो, केशवानन्द वेद पुकारोरे ।।५।।

२६ आसावरी

फूलरही फुलवारी। इस तनुमे, फूलरही फुलवारी ।। टेक ।। चारो साघन कोट खडी है, श्रवण मनन सम्हारी। निज निदिध्यास उत्तुग चहुँ पासा, चारों द्वार किमारी ।।१।। नाभि कमल से सड़क वनी है, ताके वगल में क्यारी। रंग विरंग के फूल खिले हैं, छवो अजव है न्यारी ।।२।। विचार विवेक की–खुरपी करके, विपय वासना उपारी। सुमन माळी सनेह जलसे, सींचत लोचन चारी ।।३।। कहीं मौगरा गुलाव खिली है, कहीं चमेली की झारी। कहे केशवानन्द चित्त भ्रमर कर, चूस गये रस सारी ।।४।। इस तन में, फूलरही फुलवारी ।।

३० आसावरी

चेतन स्वयं प्रकासा। जानेरे कोई चेतन स्वयं प्रकाशा ।।टेक।। आगनी तोयाहि जराइ सके ना, पवन से नहीं उड़ेना। जल तो याहि भिंगाइ सकेना, सूरज नाहीं सोसा ।।१।। घटके जोग आकाश चल दीखे, जलधारा चन्द्र चलेला।। दंड जोगते घट फूटत है, आकाश का होइ न नासा ।।२।। सत आधार से स्थूल खड़ा है, चेतन आसरे चलेला।। आनन्द से है प्रकाशित सबही ज्ञानिन को अस भासा ।।३।। नाहीं कहीं से ये है आया, नाहीं कहीं है जाना। व्यापक रूप मे आना न जाना, केशवानन्द झूठ तमाशा ।।४।।

३४ ग़ज़ल (ताल चलत)

काहे को होता वेहाल । वेहाल मेरे प्यारे ।।टेक।। घर मे तेरो चित्त गडो है, वाहर ढूंडे क्या माल ।।१।। माल ।। जैसे गले मे होती ये माला, रोता फिरे विल लाल ।।२।। लाल।। तैसे विद्या, आदि जुगादि से, भुलाइ रह्यो जैसे वाल ।।३।। वाल ।। केशव अहं-ब्रह्म विन जाने, कवहुँ न मिटे जगजाल ।।४।। जाल मेरे ।।

३५ प्रभाती

कहूँ लक्षण अवधूत साधो, कहूँ लक्षण अवधूतरे ।।टेक।। दशो दिशा अम्वर हैं जिन के, आठो अंग विभूतरे । कर है पात्र उदर है झोली, दस इन्द्रिय पकडी मजवूतरे ।।१ आशा पास दूर भये जिनके, वासना को किया निपूतरे । रहते मस्त स्वरूप आपने, दूर की कर्मों की करतूतरे ।।२।। दूर किया पाचो विषयों को, चेष्टा वहिर अनूपरे । लखा जव भीतर वाहर एक रस, सोई योगी अवधूतरे ।।३।। तत्व ज्ञान मे निश्चय करके, माया को दिया है जूतरे । कहे केशवानन्द सुनो भाई साधो, यह लक्षण गुप्तपूतरे ।।४।।

३६ कजरी

छाय–आये २ छाय आयेरे, देखो गगन मंडल में । टेक। काली वदलिया मे चमके विजुलिया, अमृत की झरना झराय रहेरे ।।१।। जाव ये मोर और दादुरिया, पाय अमृत मोटाय रहेरे ।।२।। जीव किसान खेती वोवाये, वाणी खाद दिवाय रहेरे ।।३।। कहत केशवानन्द ऐसा है मति मंद, थोडे कष्ट घवराय रहेरे ।।४।।

३७ पद पीलु

दास की आस, तजोरे गमारा । जब चेतन में व्यापक है सारा ।टेक।। एक अकाश में भेद बहुत हैं, घट मठ मधा काश है न्यारा ।।१।। चौथा महाकाश तुम जानो । तैसे ही चतन में, भेद सुन प्यारा ।।२। एक कूटस्थ जीव पुनि कहिये । ईश ब्रह्म ये, चारी परकारा । ३।। भाग त्याग से, भेद दूर कर । लीजिये एक, रूप निरधारा ।।४।। मन के अनेक में, सूत्र एक है। केशवानन्द त्यों ही आप विचारा ।।५।

३८ पद

केशोंदा आगे, नाचदा आवे गोविंदा ।।टेक।। सुर से गावे ताल बजावे । फलावत है मतिमंदा ।।१।। जिन के गान से, छूटत माया । हानि होत जग-फंदा ।।२।। हिरदे आकाश में होवे प्रकाश । उगि गये पूरन चन्दा ।।३।। दूर होगय तिमिरि-अज्ञान । छूट गये पूरन मन्दा ।।४।। कहत केशनन्दा, सुनोजी गोविंदा । रहियो सदा आनन्दा ।।५।।

३६ पद कव्वाली

मजा जोगी लेवे हैं यार, ज्ञान रस के जो पीने वाले ।।टेक।। मन स कल्पना दीन्ही निकाल दूर किया सब माया का जाल। चित्त स चिन्ता दीन्ही टाल प्रेम मोह सब म र गिराने वाले ।।१।। दूर हुआ सकल भरम का भूत, न बनते आप किसी के पूत ।

मारा अविद्या पर खासा जूत, सदा अलमस्त है रहने वाले ॥२॥ कोई मजा मानते धन्न, कोई पुत्र और दारा जन्न। कोई महल मकान वाग्न, ये सब जमदन्ड के खाने वाले ॥३॥ अपना सरूप है आनन्द, उसी को कहते ब्रह्मानन्द। लखा निज पूर्ण केशवानन्द, जनम के दुःख मिटाने वाले ॥४॥

४० पद कव्वाली

फकीरी वोही कमाते यार, सदा मन को वश करने वाले ॥टेक॥ मन को लगाया परमानन्द, देखते हरदम पूनमचन्द। ताकर भयो प्रकाशानन्द, भग्म तम के जो नसाने वाले ॥१॥ फेकर फाक गये त्रीलोक, बाकी रखा न कोई ओक। लागे नाहीं फिर कोई शोक, ऐसे जनम मिटाने वाले ॥२॥ की कृत कृत्य भया निज आप, लगाता नहीं जहाँ कोई छाप॥ विद्या अविद्या हो गई माप, भेद का भेद उड़ाने वाले ॥३॥ एकर रमि रहा सब ही ठोर, वहाँ पर चले न किसी का जोर। मन बुद्धि सारी होगये थोर, अगममे गमको लाने वाले ॥४॥ करते सदा एकान्त में वास, किया है वासना सारो नास। लखा चित पूरन चेतन खास केशवानन्द कर्म जराने वाले ॥५॥

४१ होली

काहे को,धन जोड़े होरे गोरी,देह जलेगा जैसे फागुन की होरी ॥टेक॥ बहुत कष्ट से धन है कमायो,जोड़त लाख करोरी॥निशि दिन

चिन्ता करत है मन में, माल लेय नहिं चोरी ॥ कंथ्यो चित माफल खोरी॥१॥दिन में आतम बात सखो है रात में ढीव सखोरी। भूख प्यास को दुःख सखो है॥कष्ट सखो है भारी,भन्त कोइ न बखोरी॥२॥ धर्म पुण्य नहिं एक कियो है,साधु की करत ठठोरी। मात पिता को घर स निकाले,वस भये कामिनि नारी,आयु सब विरथा खोयोरी॥३॥ जब जमराज दशा दिश घेरे,चले न किसो को जोरी। कहें केशवानन्द पकड़ जम कूटे, गले लगावत डोरी, यही है कर्म की खोरी ॥४॥

४२ होली

बिन ज्ञान मुक्ति नहिं होई। लाख उपाय करो नर कोई। टेक॥ तन सुखाय के पिंजरा कियो है नख शिख जटा बढ़ाई। अन्न को त्याग फलाहार कियो है, तो भी न भाइ उठाइ, मुक्ति तब उमर है खोई॥१॥ ऊपर स बहु त्याग कियो है भीतर आशा लगाई। आंखें मूँद ध्यान धर बैठे भार के भाग कमाई, दखो एसे मुरख होइ॥२॥ घर क माहिं अंधियार रहत है कोटिन करे उपाई। बिन प्रकाश के तम नहिं नसि है चाहे दंड से मारि भगाई, देखो एसे भम में खोइ॥३॥ मल विक्षेप दूर सब कर के, गुरुशरण को आइ। कहे ब्रह्म केशव न छूटो है, याही स तम है नसाई, कहे केशवानन्द जनोइ॥४॥

४३ होली

बिन सतगुरु के सुख न कियारी॥ चाहे फिरो कोइ जंगल झारी॥ टेक॥ तीन मदल का मखन चला है, पाचों तत्व समारी।

दसो दिशा में खिरकी लगी हैं, तही में चार अटारी, वहीं है श्यामविहारी ।।१।। अज्ञान-किमाड़ मोह-जंजीर, माया का ताला है भारी। काम क्रोध वहु गूल जड़ी है, हंकार की चोकठ ठाढ़ी, ताही से खुले नहिं जारी ।।२।। शम दम श्रद्धा समाधान हो, और उपरति धारो। चारों साधन सम्पन्न होयकर गुरूजी के ओर पधारी, चाहे जो मेटन ख्वारी ।।३।। गुरू के प्रसाद साधु की संगत, खुलगये भाग हमारी। ज्ञान की कुजी दी है दयाकरि, खुलगये गगन किमारी, केशवानंद आप समारी ।।४।।

४४ होली

लियो है उबारी, गुरुजी मोहिं लियो है उबारी ।।टेक।। आश। नदिया मनोरथ जल है, राग को मगर रहोरी। तृष्णा चिंता की लहरें उठति है, मोह की धार है भारी, धीरज तरु दियो है उपारी ।। १ ।। भ्रम के भँवर दुर्वास दोउ तट, लोभ को मच्छ वहोरी। काम क्रोध वहुसर्प रहत हैं, तासे लियो है उबारी, ऐसे गुरू पर वलिहारी ।।२। ज्ञान की नौका दया पवन से, दे सत् संग पतवारी, विचार विवेक की पंखा लगी है। जुक्ति सहारे उतारी, लगाजल सारेखारी ।।३।। जो जो आय बैठे नौका पर, पार उतर गये सारी। जो यह नौका को त्याग कियो है, डूब गये मूढ़ अनारी, कहे केशवानन्द विचारी ।।४।।

चिन्ता करत है मन में, माळ लेव नहिं थोरी ॥ धन्यो चित भारुव छोरी॥१॥दिन में भाराम बात लखो है रात में सीत सखोरी । भूख-प्यास को द्वंद सह्यो है॥कष्ट सह्यो है भारी,भन्द कोई न भखोरी॥२॥ धर्म पुण्य नहिं एक कियाहै,साधु की करत ठठोरी। मात पिता को घर स निकाले बस भये कामिनि नारी,भायु सब बिरथा खोभोरी॥३॥ जब जमराज रसो दिश घेरे,चले न किसी को ओरी। कहे केशवानन्द पकड़ जम कूटे, गले लगावत होगे, यही है कर्म की खोरी ॥४॥

४२ होली

बिन ज्ञान मुक्ति नहिं होई । लाख उपाय करो मर जाइ । टेक। तन सुखाय के पिंजरा कियो है नख शिख मल चढ़ाई । अन्न को त्याग फलाहार कियो है, तो भी न जाइ कठाई, वृथा सब उमर है खोइ ॥१॥ ऊपर से बहु त्याग कियो है भीतर आश लगाई । आँखें मूँद ध्यान धर बैठे भार के भाग कमाई, देखो ऐसे मुरख कोई ॥२॥ घर के मांहिं अंधार रहत है, कोटिन करे उपाई । बिन प्रकाश के तम नहिं नसि है चाहे दंड से मारि भगाई, देखो ऐसे भ्रम में खाइ ॥३॥ मल विक्षेप दूर सब कर के, गुरुशरण जो भाइ । ब्रह्म ज्ञान वेदान्त मे लख्यो है, ताही से तम है नसाई, कहे केशवानन्द जनोई ॥४॥

४३ होली

बिन सतगुरु के खुले न किवारी ॥ चाहे फिरो कोइ जंगल झारी ॥ टेक ॥ तीन महल का मकान बना है, पांचों तत्व समारी ।

दसो दिशा में खिरकी लगी हैं, तही में चार अटारी, वहीं है श्यामविहारी ॥१॥ अज्ञान-किमाड़ मोह-जंजीर, माया का ताला है भारी। काम क्रोध बहु गूल जड़ी है, हंकार की चोकठ ठाड़ी, वाही से खुले नहिं जारी ॥२॥ शम दम श्रद्धा समाधान हो, और उपरति धारो। चारों साधन सम्पन्न होयकर गुरूजी के ओर पधारी, चाहे जो मेटन ख्वारी ॥३॥ गुरू के प्रसाद साधु की संगत, खुलगये भाग हमारी। ज्ञान की कुंजी दी है दयाकरि, खुलगये गगन किमारी, केशवानंद आप समारी ॥४॥

४४ होली

लियो है उबारी, गुरुजी मोहिं लियो है उबारी ॥टेक॥ आशा नदिया मनोरथ जल है, राग को मगर रहोरी। तृष्णा चिंता की लहरें उठति है, मोह की धार है भारी, धीरज तरु दियो है उपारी ॥ १ ॥ भ्रम के भँवर दुर्वास दोउ तट, लोभ को मच्छ बडोरी। काम क्रोध बहुसर्प रहत हैं, तासे लियो है उबारी; ऐसे गुरू पर बलिहारी ।।२। ज्ञान की नौका दया पवन से, दे सत् सग पतवारी, विचार विवेक की पंखा लगी है। जुक्ति सहारे उतारी, लगाजल सारेखारी ॥३॥ जो जो आय बैठे नौका पर, पार उतर गये सारी। जो यह नौका को त्याग कियो है, डूब गये मूढ़ अनारी, कहे केशवानन्द विचारी ॥४॥

४५ होली

ऐसी होली; खेलो मेरे भाइ । जास जनम मरन मिटजाइ ॥ टेक ॥ अज्ञान मरती मोह घना, भरमर्वन रोपाई ॥ भ्रमदम विवेक बहु पूजन करके, ज्ञान की आग लगाई; झार उड़े पहुंचाई ॥ १ ॥ मंमित जरगव आगवमी जरगये जर गये, काम समुदाई ॥ असंभावना विपरीत भावना, विचार पवन से उड़ाइ, दूर सब गगन समाइ २ झाँती सरमें कुसुमी लगा कर, विराग गुलाल मंगाइ ॥ समसंगति पिचकारी भर कर, मार दिया गुरु भाइ, छूटे नहिं रंग छुड़ाइ ॥३॥ शुक ऐसे सनकादिक खेले, व्यास वसिष्ठ समुदाइ ॥ साइ होली करआनन्द खेलो, मिट गयी काम कमाइ, मन् चिन् आनन्द पाई ॥४॥

४६ होली राग रुसर

मैंने अपने गुरु सखेशी है होली, काट दइ जिन काल की डोरी । टेक॥ धन करि अर्पण तनुस सवा बचन स मन स गहोरी । प्रीति क जल वैराग पिचकारी, ज्ञान का रंग भरोरी ॥१॥ संयम-गुलाल विचार-अबीर, सत्संग-रंग मिजोरी ॥ वह गया रग फिर नहीं फछुटि है मिट गयी अविद्या करोरी ॥२॥ बाहर से होली सब तजकर अन्तर मांहि लगोरी । अन्तर सुख बिन सुख नहिं होइ है, ऐसी सैन लखोरी ॥३॥ आशा तृष्णा अरु मद ममता य सब दूर करोरी । कहे केवलानन्द गुरु के चरण बिन कैसे भव जल तरोरी ॥४॥

४७ होली राग ठुमरी

खोईरे, खोईरे, हरिके भजन बिन, उमरि सब खोईरे ॥टेक॥ बालापन सब खेलि बितायो, तृष्णा अधिक बढ़ारे ॥ मात पिता से हठ करते हैं, आकाश के चन्द्र मंगाई रे ॥१॥ युवापन में काम के बस भये, सूझे न एक उपाई रे ॥ लोक वेद का कहा नहिं माने युवति के अंग लिपटाईरे ॥ २ ॥ विरध भये तन कापन लागे, होत न एक कमाई रे ॥ घर के लोग सब ताड़न करत हैं, जैसे बुढा बैल बिलाई रे ॥३॥ तीनों पन सब बीत गये हैं, को तब करेगा सहाई रे ॥ मारि के सोटा प्रान निकासे, अन्त चला तू तो रोई रे ॥४॥ दंड देइके सवाल पूछत हैं, जबाव न एक बनि आई रे ॥ कहे केशवानन्द सुनो भाई साधो, आखिर दिन नर्क डूबोई रे ॥५॥

४८ कवित्त

संत है सुजान जिन अन्त कियो काम सब, गुरू के प्रसाद से बहायो काल जाल है। सकल्प बिकल्प सब दूर क्रियो श्रवण करि, मल को निवारि शुभ कर्म धर्म चाल है ॥ अज्ञान को जराय दीन्ह मन को निर्मल कीन्ह, भरम सब दूर क्रियो सरूप ज्ञानानल है । अहं ब्रह्म आप जाने पंच कोसा तीत माने -कहे केशवानन्द ऐसे, सत वो बहाल है ॥

४७ होली राग ठुमरी

खोईरे, खोईरे, हरिके भजन विन, उमरि सब खोईरे ॥टेक॥ बालापन सब खेलि वितायो, तृष्णा अधिक बढ़ारे ॥ मात पिता से हठ करते हैं, आकाश के चन्द्र मंगाई रे ॥१॥ युवापन में काम के वस भये, सूझे न एक उपाई रे ॥ लोक वेद का कहा नहिं माने युवति के अंग लिपटाईरे ॥ २ ॥ विरध भये तन कांपन लागे, होत न एक कमाई रे ॥ घर के लोग सब ताडन करत हैं, जैसे बुढा वैल विलाई रे ॥३॥ तीनों पन सब बीत गये हैं, को तब करेगा सहाई रे ॥ मारि के सोटा प्रान निकासे, अन्त चला तू तो रोई रे ॥४॥ दंड देइके सवाल पूछत हैं, जबाव न एक वनि आई रे ॥ कहे केशवानन्द सुनो भाई साधो, आखिर दिन नर्क डूबोई रे ॥५॥

४८ कवित्त

सत हे सुजान जिन अन्त कियो काम सब, गुरू के प्रसाद से बहायो काल जाल है। सकल्प विकल्प सब दूर कियो श्रवण करि, मल को निवारि शुभ कर्म धर्म चाल है ॥ अज्ञान को जराय दीन्ह मन को निर्मल कीन्ह, भरम सब दूर कियो सरूप ज्ञाना नल है। अहं ब्रह्म आप जाने पंच कोसा तीत माने कहे केशवानन्द ऐसे, सत को वहाल है ॥

४६ कवित्त

कोई मांगे धन जन कोइ मांगे स्वर्ग लोक, कोइ मांगे राज कोइ सुन्दरी नारी है। जो २ इच्छा भागो करे तृष्णाहू अधिक बढ़े, लेश सुख पावे न अविद्या कूप भारी है॥ मानुष जन्म पाके मुक्ति के द्वारे आये, गुरू के शरण होके खोओ जग सारी है। ये सब तो विनाशी सुख आप अविनाशी स्वस, कहे केशवानन्द सुख आत्मा विचारी है॥

५० कवित्त

मृग तृष्णा मान, एक ब्रह्म हृदय मान, द्वैत को निवारि दिल ब्रह्म में बसाइये। काम क्रोध लोभ मोह, तृष्णा स मारि सेके, जारि ज्ञान आगि कर नाम रूप नसाइये॥ मिथ्या प्रपंच देखि, मन में न मोह मान, आनन्द सुख खान, अस्ति भाँति प्रिय समाइये। कहे केशव भयो चैन, गुरू के इशारा सैन, खुले सब दिव्य नैन, भरम सब नसाइये॥

५१ कवित्त

मारा है अज्ञान जिन; शूरवीर मानो तिन, दुःख को निवारि जो ब्रह्म में चरत है। क्षमा के कवच कीन; वैराग को तो ढाल लीन, ज्ञान का तरवार स तो मार मोह दल है॥ मारे काम क्रोध लोभ अहंकार सब दूर किये, मन को पकड़ कर, क्रियो चक चूर है। पाया है अखंड राज शांति के सुख समाज कहे केशवानन्द यू, आनन्द होय रहत है॥

५२ कवित्तं

भूल के अज्ञान से करत है द्वाय ", देखतो सँभार कर; दूसरो न कोई है। जैसे ताना पेटा सब, देखियत रूई रूई, पटके स्वरूप से तो, भिन्न नहीं जोई है॥ घठ मठ देखिये में, लागत है भिन्न २, उपाधि सब दूर किये, एक नभ होई है। जल में तरंग जैसे, वायु में वघुरा तैसे, ब्रह्म को विवर्त ऐसे, आप केशव सोई है॥

५३ लावणी

हम रहते देश एकांत में सदा उदासा, हम काट दई सब जन्म मरन की फांसा ॥टेक॥ हम करते गिरि खोह नदी तट वासा, हम करते शयन शिला पर रैन उजासा॥ वन भाग कभी अरु कभी मसान के माही, हम खाते भिक्षा माँग उपाधी नाही॥ हम करते गुप्त विचार स्वयं परकाशा॥ १॥ सुत भ्राता माता तात कुटुम्ब परिवारा, ये सब स्वप्ने का जाल माया विस्तारा। माया का जाना रूप भये हम जग से न्यारा, हम लियो ब्रह्म एक जान होते नहि भारा॥ उठाया मन से भेद दूर भयी आशा ॥२॥ जब तीनों लोक के भोग त्याग सब कीन्हा। तब सत्गुरू शरन मे आय जोग हम लीना॥ उठ गयी चित से भीति रूप जब चीन्हा, तब मिटगये दीरघ रोग ज्ञान गुरु दीन्हा॥ मिट गयी जनम की आस अविद्या भयो नाशा ॥३॥ हम रखते

नहीं संसार से कुछ भी नाता । हम रहते मगन विचार ज्ञान में माता ॥ नाहीं हम करते कष्ट दंभ नहिं माया । नहिं करते राग म द्रोह न अम्मी जाया ॥ केशवानन्द हरवा जब आप नरवाते माता ॥४।

५४ लावणी

करो देवी के पाठ है माया दशहरा ॥ करो सब देवों का प्रसन्न बांध शमशेरा ॥टेक। काया देवड़ के अन्दर हमेशा रहते, सिंहासन भंत करण के ऊपर बसते ॥ पुष्पा–अपार ओंकार–सत्य लिये मारी, है पडळ ? कर ओस सारही सारी ॥ कोई कथा कोई पक्ष कोई डमरा ॥१॥ दश इन्द्रिय का दमन पाठ मन माने । श्रुति का सिद्धांत संतोष पुजारी माने ॥ है सत्य पात्र श्रद्धा के हैं पहु फूल ॥ शांति का चन्दन चढ़ा करो अनुकूला ॥ दया जल से स्नान कराया क्षेमा साफी से पोछ बहुरि बैठाया । निष्काम आरति करो उतारो सहरा ॥ २ ॥ मंद ज्ञान सुविचार बार भरभर के । मम माहिं प्रेम–अग्नी का पतावी संभरि क । धर्म पुण्य की चढ़ी है अबीर गुलाली, शीतल सुगन्ध आकाश भया है थाली । दुरा दल जब देवी हुयी प्रसन्ना, तब दीया है कुसुम कली को हन्ना ॥ अज्ञान पोड़ा बली ये नहरा ॥३॥ जो इस विधि स कोई भी करे दशहरा;वो पावे चारो राज और दश सहरा ॥ जो कोई नर मारे मूलि कभी भी बकरा । ऐसा नर करता नरक वास हमेशा ॥ है धर्म अहिंसा प्रथम हि वेद बतावे गीता अरु स्मृति उपनिषद् आदि भी गावे ॥ ले समझ केशवानन्द देवरे बहरा ।४॥

५५ लावणी दोहावली

अब नहीं मानत किसी की वात । मार दिया भेद पाँच पर लात ॥टेक॥ कोई जीव ईश मे वताते भेद, कोई जीव जीव परस्पर भेद । तीजे जीव को जड गावे, चौथे जड़ जड वतलावे ॥

दोहा—जड़ अरु ईसके भेद को, छेद करत कोइ शूर ।
लखाजब व्यापक एक रस, किया जगत सब धूर ॥

उठ गये दिलसे जगत् के नात, अब नहीं मानत किसी की वात ॥१॥
मैं ही हू सकल जगत आधार, मेरे मांहिं होत व्योहार ॥ न तो भी छिपते कोई विकार, जैसे आकासमें नानाकार ॥

दोहा—जैसे एरन के ऊपरे. वनते नाना औजार ।
तैसे कूटस्थ निज रूप में, होता है कारोवार ॥

लगावे नहीं अघ दूजा हात, अब नहीं मानत किसी की वात ॥२॥
नहीं कोई वरन हमारा, हमन सब आश्रम को जारा । छुटी जब ज्ञान की धारा, वहगया वेद का भारा ॥

दोहा—जैसे स्फटिक स्वच्छ में, रक्त पुष्प के जोग ।
तैसे आतम शुद्ध में, कल्प रहे हैं लोग ॥

नहीं कोई है जात और पात, अब नहीं मानत किसी की वात ॥३॥
कोइ यह लखते विरले वात, तजाजिन मात तात के नात ॥ हैं रहते मस्त औ मौज में, नहीं आवें फिर या भगमे ।

दोहा—कथा हीरा के बनिज, पर स तोलगि पूर।
जाळगि मिले न पारखी, मन पर चढ़े तो कूर॥
कशवानंद छवा आ आप अजास, अब नहीं मानत किसी की बात॥ ४॥

५६ लावणी दोहावली

मूरख नहिं मानत है दिन रात, करे अनीती खोटी बात।।टेक।।
हरि के भजन स होत उदास, झूठ निंदा में अति पियास॥
सत्संगत में नहिं देता ध्यान, जुवा रंडी में बहुत है स्याल॥

दो—बानी मधुरी बोलेके, मोह लेत सब लोग।
कपट गाँठ खोले नहीं, हुवा नरक के जोग॥

कि जैसे मोर सर्प को खाय, मूरख नहीं मानत है दिन रात॥१॥
धर्म के माहिं न करत बयाऊ, फँसाता आर्तमाया जाल॥ दिन २ पल २ घोवता जाय, तो भो करता है हाय हाय॥

दोहा—दिवस मिताया काम में, रात यामिनी संग।
माया काल सब दिया मगाया, छूट जाय सब रंग॥

तब तुम क्या करोगे हात मूरख नहिं मानत है दिन रात॥२।
संत अरु गुरु स कर विरोध, जरा नहिं मन का करे निरोध॥
वृथा करता है मैं मरा, विचार कर कोई नहीं तरा॥

दोहा—बाह्य दिखाव हंस को, करमो जैसे काग।
दरिया है अनमोल हीरा, लोभिया सूने साग॥

वृथा क्यों रटता मात और तात, मूरख नहिं मानत है दिन रात ॥३॥ यहाँ पर मचाया है वह शोर, वहाँ पर नहीं चलेगा जार ॥ यहाँ पर समझना है तुझे वात, तो कर ले सत् गुरुजी से नात ॥

दोहा—गुरू शरन में आइ के, लीजे राम पिछान ।
केशवानन्द मौका ना मिले अब, भूलो तो हरि की आन ॥

मारो भेद भरम पर लात, मूरख नहिं मानत है दिन रात । ४॥

५७ लावणी दोहावली

सवेरे उठ महादेव कहना, जगत सव माया का स्वप्ना ।.टेक॥ राग-द्वेष कर जग सव भासे, खींचे राग जगत तवनासे ॥ जैसे स्वप्न मे देखे सृष्टी, जावे स्वप्ना होवे नष्टी ॥

दोहा—देवन देव महादेव हैं, जाने चतुर सुजान ।
और देव सव कलपति जानो, रज्जू सर्प की भान ॥

उठायी मन से जगत् कल्पना, सवेरे उठ महादेव कहना ॥१॥ एक कूवा से निकली वेल, तासे भया असंख्या नेल ॥ ऐसा देखा अजवा खेल, सव मिल के हुई एक ही मेल ॥

दोहा—एक ही से अनेक भये, नाम रूप वहु मान ।
न्यारे २ देख के ही, होगये सुमति अजान ॥

जैसे वाजीगर खेलना ॥ सवेरे उठ महादेव कहना ॥२॥ जव तलक देखेगा न्यारे, तव तलक ढोवेगा भारे ॥ अव तो मूल जा सारे, फिरे है क्यों मारे मारे ॥

दोहा—महादेव और देव को एकहि जानो भेव ।
भेद भरम को त्याग के एकहि देव को सेव ॥
तब तुमे मिटे जनम मरणा, सवेरे कर महादेव कहना ॥३॥ यह सिद्धांत कहा भाई वेद पुराण गुरु गाई ॥ केशवानन्द ने सुनाई, सज्जन सुनेंगे चितलाई ॥
दोहा—चित देकर के सुनेंगे, जिनके विमल विवेक ।
क्या सुनेंगे कपटी भरमी, उनके मती अनेक ॥
जैसा करना वैसा भरना सवेरे उठ महादेव कहना ॥ ४ ।

५८ भजन

राम मेरे मैंना कहीं जाऊँगा ॥ टेक ॥ मासे जाऊं काशी जी, नहीं हरिद्वार रे ॥ नहीं जाऊं बद्रीनाथ, नहीं मठ जाऊँगा ॥१॥ नहीं इच्छा है स्वर्ग की, नहीं वैकुण्ठ रे । मा तो इच्छा राम साज की, वृथा न गमाऊँगा ॥ २ ॥ जैसे मिरग नाभि में, रहे कस्तूरी रे । जाने बिना भटकत फिरे, दमी नित, माजाऊँमा ॥३॥ व्यापक राम है नहीं, मेरे दूर रे ॥ समझ करके केशवानन्द, उसी में समाऊँगा ॥४॥

५६ पद—बधावा ~

आज मेरे भाग जगे, साधू आये पाहुना । हरिप निरखि के, प्रेम की तो झारी भरकर, धोऊ बिछौना ॥
, शान्ति जल स धोवमा ॥१॥ द रस

के भोजन कर, छत्तीस रँग व्यजना ॥ सोने के तो थार भारके, आनन्द से जिमावना ॥२॥ कंचन के तो गड़ुवा भर कर, मोद से अचावना । लोंग सुपारी बास देकर, पान खिलावना । ३॥ सुखद की तो आसन करके, तापर पौढ़ावना । कहे केशवानन्द अपना मन, प्रभु में लगावना ॥४॥

६० पद—बरसाती

सत् संग बदरिया बरसे, होन लगो प्रेम कमाई हो राम ॥टेक॥ समदम बैल विवेक हराई, तनु मध खेत्र चलाई हो राम । जोत २ के कियो है निरमल, धर्म के बीज बोवाई हो राम ॥१॥ ऊग गयी बेल निशी दिन बाढ़े, सत के टेकादिवाई हो राम ॥ श्रद्धा बसत फुलेला-बहु ंग, ज्ञान के फल लगवाई हो राम ॥२॥ पकि गये फल तपित होगये दिल, मन से बासना उठाई हो राम ॥ जरि गये कर्म खूटि गये बीजे, तीनों लोक की चाह मिटाई हो राम ॥२॥ कहत केशवानन्द, पायो है आनन्द, ऐसी सत् सँग महिमा हो राम । भाग बिना नहिं मिलता सत् सग, जिसकी पूरबली कमाई हो राम ॥४॥

६१ भैरवी

मनारे तुझे, विन पकड़े नाछोँड़ूँ ॥टेक॥ ना देखूं हाथ नाहिं देखू पाँव, अनुभव ज्ञान से धारूँ ॥१॥ सकल्प विकल्प रूप तेरो है, प्रभु के नाम से पकड़ूं ॥२॥ ऊपर जाय तो राज मेरा है, नीचे

दोहा—महादेव और देव को एकहि जानो भेव।
भेव भरम को त्याग के एकहि देव को सेव॥
तब तुझे मिटे जनम मरणा, सवेरे उठ महादेव कहना॥३॥ यह सिद्धांत कथा भाई वेद पुराण गुरु गाई॥ केशवानन्द ने सुनाई, सज्जन सुनेंगे चितलाई॥
दोहा—चित देकर के सुनेंगे, जिनके विमल विवेक।
क्या सुनेंगे कपटी भरमी, उनके मती अनेक॥
जैसा करना वैसा भरना सवेरे उठ महादेव कहना॥४॥

५८ भजन

राम मेरे नैना कहीं जाऊंगा॥ टेक॥ नाहीं जाऊं कासी जी, नहीं हरिद्वारे रे॥ नहीं जाऊं बद्रीनाथ, नहीं भटकाऊंगा॥१॥ नहीं इच्छा है स्वर्ग की, नहीं वैकुण्ठ रे। ना तो इच्छा राज साज का, वृथा न गमाऊंगा॥२॥ जैसे मिरग नाभि में, रहे कस्तूरी रे। जाने बिना भटकत फिरे, इम्रो विध नाजाऊंगा॥३॥ व्यापक राम है सही, मेरे दूर रे॥ समझ करके केशवानन्द, उसी में समाऊंगा॥४॥

५६ पद—बधावा

आज मेरे भाग जग, साधू आये पाहुना। हरिष निरखि के, दर्शन करना॥टेक॥ प्रेम की तो झारी भरकर, धीरज बिछौना॥ धरम का तो आसन देके, शान्ति जल से धोवना॥१॥ या रस

तैसे अज्ञ मूर्खन को । १।। सुन्दर कामिनि काल नागिनि, स्पर्श करत बहु प्रेम को ॥ ध्यान हरत है प्राण खात है, मुवे भेजे नरकन को ।।२।। धन पुत्रन को मानत है प्यारो, जैसे घूवा रात्रिन को ।। आखिर एक दिन छूट जायेंगे, लेय चलेगा उस बन को ।।३।। कृपा-सिन्धु दया-निधि स्वामी, अब तो रोको मन को ॥ केशवानन्द शरन तेरी अब न, भूलूंगा भजन को ।।४।।

६५ दादरा

दुष्ट संग से सदा, रहना उदास रे । टेक।। जैसे ओला खेत का, करता विनास रे ।। आप विलाय के फिर करता है, सकल धान का नास रे ।।१।। धन घाटे धरम घटे, पड़े भरम फास रे ।। लोक परलोक दोऊ से जावे, करे नरक में नास रे ।।२।। तेज घटे बुद्धि घटे, मिटे ज्ञान प्रकाश रे ॥ लख चौरासी से ना छूटे, पड़े दुःख के रासरे ।।३।। सर्प काटे बिच्छू कटे, सो है दु:ख खासरे । केशवानन्द दुष्ट से बचना, यही रहा है भाष रे ।।४।।

६६ बनजारा

अब निश्चय मेरा मन माना, कहीं मुझे नहीं है जाना ।।टेक।। रज्जू जाने बिन सर्प सीप मे रजत माने जी ।। भ्रम करके भय को लाना ।।१।। तैसे ही ब्रह्म को न जानै, आप विषै दुख मानै जी । शुभा-शुभ कर्म को ठाना ।।२।। मेरा स्वरूप है व्यापक, ज्ञान यही है दुख नाशकजी ॥ महा आकाश सम आना ।।३ ।

पिच सरिहूँ ॥३॥ सत् संगति की ओर से बाँधू, ज्ञान अग्नि स जारूँ ।।४।। वैरी सब परिवार ओर कर, (केशवानन्द) राज अखंड करूँ ॥५॥

६२ भैरवी

भमर काहे वृथा खुटावत है ॥ टेक ॥ कबहीं तो काम, क्रोध में कबहीं ॥ कबहीं तो छेम में गमावत है ॥१॥ कबहीं तो धन कबहीं तो जन में, पुत्र के संग छकावत है ॥२॥ भूले इन्द्रिय स्वाद के कारन, प्रभु जी को नाम बिसरावत है ॥३॥ वेद गुरू के उपदेश न मान, उल्टे ये गाल फुलावत है ॥४॥ मनुष तन है राम मिलन को, (केशवानन्द) राम में राम समवात है ॥५॥

६३ दादरा-भैरवी

पाया है अनमोल लाल, दूसरा न जोई । टेक॥ जिनके मैं ढूंढन कारन, सकल जगत में भरमोई । वो तो अब मिलि गये प्रेम स, घटहि में बिलोई ॥१॥ दुःख गये दारिद्र गये अरु चिन्ता सब खोई । ब्रह्म आनन्द में मगन होय के पाँव पर सोई ॥२॥ काम गये क्रोध गये छेम को छुबोइ । आशा तृष्णा गया दसों दिसि, डंका बजवाई ॥३॥ जो नहिं पाया लाल को वो, रात दिना रोइ ॥ केशवानन्द करो पुरुषारथ, आप रूप होई ॥४।

६४ असावरी

साधो सहो न जाय दुख जग को ॥ टेक ॥ या संसार में सार नहीं है जैसे मृग तृष्णा जल को । धावत ? प्राण तजत है,

६९ ग़ज़ल

उगा आकाश मे चन्दा, मिटा सब तिमिरका फंदा ।।टेक।। शोभता है सदा आकाश, है तारागण भी सारे पास, हुवा है सारे तम का नाश, दीखता आप स्वच्छन्दा ।।१।। नहीं बंधा नहीं छूटा, नहीं कभी भर्म में भूला ।। नहीं कोई गर्भ से मूला, नहीं चोर्‌यासी का धंधा ।।२।। है पाया सुख चकोरोंने, खिला है बनमें कुमुंदा । हुवा है शोक चकवा को, चकइया दुःख में दुंदा ।।३।। लगे नहीं दाव चोरों का, पड़ा पहरा सिपाही का ।। रास्ता है न जाने का नहीं कोइ खिड़की रोसंदा ।।४।। चले नहीं जोर है जिसका, जिन्होंने माललें चसका ।। केशवानन्द देखकर मुस्का, लिया वैराग का कंदा ।।५।।

७० ग़ज़ल

फिदा हम उस पर हैं प्यारे, जिनों ने तत्व धारा है ।। हैं बसते देश निर्जन में जगत सारे से न्यारा है ।। टेक ।। मार कर पाँच अरु पच्चीसा काम घर से निकारा है ।। १ ।। राखते नाहीं कौड़ी पास, किया है वासना को नाश ।। उठाया दिल से जमका त्रास, यही निश्चय विचारा है ।।२।। दृष्टि है जिनकी समान, चाहते नहीं किसी से मान ।। किया है ज्ञान रस का पान, जमको मार पछारा है ।।३।। किया है तन मन धन कुरबान, लिया है ब्रह्म को पहिचान ।। केशवानन्द जिनकी ऐसी बान, वोही आतम हमारा है ।।४।।

यह दुनिया स्वप्न वत झूठी, ज्यों आकाश नीलवर्ण दीठा जी ॥ केशवानन्द करें ना सरूप की हाना ॥४॥

६७ बनजारा

सब तजो विषय की भाई, अब जपो शिवोहं मन मांई ॥टेक॥
कभी भोगा है राजा होके, कभी इव गण माहीं जी ॥ कभी गंधर्वों में आई । १ ॥ कभी भोगा है भेड़ बक्कर में, कभी ऊंट में आई जी ॥ असंख्य जन्मों का पता नहिं पाई ॥ २ ॥ जब लग विषयों को नहिं त्यागे,तब लग मुक्ती नहीं पावें जी ॥ अब देखो विचार कर भाई ॥३ । बिन संतोष न काम नसाहो, काम अभाव सुख नाहीं जी ॥ केशवानन्द न भाव बताई ॥४॥

६८ गजल

समझ कर झूठ दुनिया को, ये फिर क्यों मन भटकता है ॥ तजो सब मर्म अन्दर से, ये विरथा क्यों छिपटता है ॥टेक॥ मारी गुरू वाण ज्ञानों का, कलसे में खटकता है ॥ तजा सब रागद्वेषों को, विषय से चित् सिमटता है ॥१॥ बना हाड़ चाम का पुतला, मध्य मल मूत्र का डगला, जानि दुःखरूप ये पुतला, नहीं मन अब चिपटता है ॥२॥ ज्यौं विषय-भोग सब खारी, जैसे विष खड़ में डारी ॥ खाने में लगे बहुत प्यारी आखिर को प्राण हरता है ॥३॥ जानि निज रूप को व्यापक मिटा सब पाप के व्यापक ॥ जरा सब कर्म के नाशक, केशवानन्द नहिं भटकता है ॥४ ।

७३ ठुमरी

वो तो पर घट दीखे भाई ॥ कहां वाहर देखो जाई ॥टेक॥ जाग्रत स्वप्न सुपुप्ती माहीं, एक रस रहे सदाही ॥ अवस्था तीन व्यतिरेक होजाई, आतम एक रहाई ॥१॥ जिन के आनन्द से आनन्दित, ब्रम्हा आदिक अरु सब पहित ॥ जैसे गुड़ मे रहे मिठाई, चावल कल्पना लाई ॥२॥ चेतन रूप से है प्रगटाई, जड़ देहन को रहा चेताई ॥ जिन के आसरे होत कमाई वोहो निरंजन राई ॥३॥ मगन समझ कर रहो लगन में, जनम मरण मिट जावे जग में ॥ केशवानन्द भर्म सब खोई ऐसी कीनी कमाई ॥४॥

७४ माड

सुन सुनरे मनवा, काहे भूला परदेश ॥टेक॥ इस परदेश में काटा खुवडा, पंथ न शुद्ध समेश ॥ नदी नाल जो अगम धार है, वड़े २ शूर वहेश ॥१॥ जंगल झाड़ वहुत हैं जिसमें, सिंह सर्प हमेश । भालू बन्दर राक्षस वहुतेरे, तासे वचावे रमेश ॥२॥ छाड देश यह हाट वाट को, धरले पंथ सुदेश ॥ या पथा में अटक नहीं हैं, कहता मुनि वर वेश ॥३॥ सत् गुरू मिलि या राह बतायी, तामे रागन द्वेष ॥ केशवानन्द आनन्द में मिल गये, श्री गुरू के आदेश ॥४ ।

७५ गुजराती माड

ऐ जन्टलमेनो मेरी मानो, सुनो केना लीजे तनिक विचार ॥ धर्मो से करमो से निष्टा उठाकरके, मनको फँसाया विकार ॥टेक॥

७१ गजल

चलो उस धाम को प्यारे, जहाँ सब काम होजावे ॥ टेक ॥ तभी से भूला उस शिव को, तभी से हुआ तू जीव को ॥ हुआ है मर्म जन्म भर को, अज्ञान निद्रा में सो जावे ॥१॥ है सोना क्या किसी कामे, भार हैं तुम्ही पर सारे ॥ भरम का बोझ पटक प्यारे, ब्रह्म एक क्यों न होजावे ॥२॥ होजा सद् गुरु की शरण जोग कर शान्ति कुछ वरन ॥ होवे मोहादि की हरन, जो मन से बंध खो जावे ॥३॥ आया है बन्ध को जाई, भागया अज्ञानन्द सोई ॥ केशवानन्द जनम ना होई । ऐसा निश्चय जो हो जावे ॥ ४ ॥

७२ ठुमरी

देखो प्रेम तो लगाई, जो तो, सब घट घट में माई ॥टेक॥ जैसे अगिन गुप्त काष्ट में, अविनाश रहे छिपाई ॥ प्रगट होय मर्षण करने से, तैसेहि सत् चित मन आई ॥१॥ रहत अगिन पत्थर के माहीं ऊपर दृष्टि से सूझत नाहीं ॥ अन्तर गुप्त विरची होजाई, ताते तम है नसाई ॥२॥ होय प्रगट फिर छिपती नाहीं, ज्यों के पूष कल्पत माहीं, रूठ गयी दुनिया काम कमाई तब अमर अमर पद पाई ॥३॥ करत जतन कोई एक पावे होय मस्त ना जाय जावे ॥ सत् चित् आनन्द एक के माई, ताम केशवानन्द समाई ॥ ४ ॥

७३ ठुमरी

वो तो पर घट दीखे भाई ॥ कहां बाहर देखो जाई ॥टेक॥ जाग्रत स्वप्न सुषुप्ती माहीं, एक रस रहे सदाही ॥ अवस्था तीन व्यतिरेक होजाई, आतम एक रहाई ॥१॥ जिन के आनन्द से आनन्दित, ब्रम्हा आदिक अरु सब पंडित ॥ जैसे गुड़ मे रहे मिठाई, चावल कल्पना छाई ॥२॥ चेतन रूप से है प्रगटाई, जड़ देहन को रहा चेताई ॥ जिन के आसरे होत कमाई वोही निरंजन राई ॥३॥ मगन समझ कर रहो लगन में, जनम मरण मिट जावे जग में ॥ केशवानन्द भर्म सब खोई ऐसी कीनी कमाई ॥४॥

७४ माड

सुन सुनरे मनवा, काहे भूला परदेश ॥टेक॥ इस परदेश में काटा खुवडा, पथ न शुद्ध समेश ॥ नदी नाल जो अगम धार है, वडे २ शूर वहेश ॥१॥ जंगल झाड़ वहुत हैं जिसमें, सिंह सर्प हमेश । भालू वन्दर राक्षस वहुतेरे, तासे वचावे रमेश ॥२॥ छांड देश यह हाट वाट को, धरले पंथ सुदेश ॥ या पथा में अटक नहीं हैं, कहता मुनि वर वेश ॥३॥ सत् गुरू मिलि या राह बतायी, तामे रागन द्वेष ॥ केशवानन्द आनन्द में मिल गये, श्री गुरू के आदेश ॥४ ।

७५ गुजराती माड

ऐ जन्टलमेनो मेरी मानो, सुनो केना लीजे तनिक विचार ॥ धर्मों से करमों से निष्टा उठाकरके, मनको फँसाया विकार ॥टेक॥

७१ गजल

चलो उस धाम को प्यारे, जहाँ सब काम होजावे ॥ टेक ॥ जभी से भूला उस शिव को, तभी से हुआ तू जीव को ॥ हुआ है मर्म जन्म भर का, अज्ञान निद्रा में सो जावे ॥१॥ है खोजा क्या किसी जाभे, भार हैं तुम्ही पर सारे ॥ भरम का बोझ फक प्यारे, ब्रह्म एक क्यों न होजावे ॥२॥ होजा सद्गुरु की शरण, खोज कर आनि कुछ मरन ॥ होवे मोहादि की हरन, तो मन से बंध जा जावे ॥३॥ आया है जन्म को आई, गागया ब्रह्मानन्द सोई ॥ केशवानन्द जनम ना होई । ऐसा निश्चय जा हो जावे ॥ ४ ॥

७२ ठुमरी

देखो प्रेम तो छगाई, वो तो, सब घट घट में माई ॥टेक॥ जैसे अगिन गुप्त काष्ट में, अविश्य रहे छिपाई ॥ मगन होव घर्षण करने से, वैसहि सत् संग मन लाई ॥१॥ रहत अगिन पत्थर के मांही ऊपर दृष्टि से सूझत नाहीं ॥ अन्दर गुप्त बिराजे होजाई वासे तम है मसाई ॥२॥ होय प्रगट फिर छिपती नाहीं, लाखो धूपा कल्पव माहीं, ऊठ गयी दुनिया करम कमाई वह अजर अमर पद पाई ॥३। करत जतन कोई एक माने होत मस्त मा भाव जावे ॥ सत् चित् आनन्द एक के माई, दास केशवानन्द गाई ॥

अरित भाति प्रिय रूप ताहीं में, मन को लगाऊंगा ॥१॥ कोई मानता देह प्राण को, कोइ इन्द्रिगगण सारा ॥ कोइ सूक्षम कारण स्थूल को, ये सब झूंठ लखाऊगा ॥२॥ कोइ देवी कोइ देवल पूजे, कोई भूतगण लारा ॥ कोई मंत्र तंत्र मसान का साधे, मैं नहिं भ्रम मे भुलाऊंगा ॥३॥ सब के मालिक सब के प्रेरक सबके साक्षी धारा, ऐसे सत् चित् आनन्द छोड के, केशवानन्द नहिं अटकाऊंगा ॥४॥

७८ कस्तूरी

आज इन्द्रिय–गण नाथूंगा, हरिनाम से पकड २ आतम मे लगाऊगा ॥टेक॥ सत्व गुण रूई शाति पूनी कर, शम दम वंट चढ़ाऊगा ॥ विवेक विचार का चरखा कर के, शुद्ध मन से वटवाऊगा ॥१॥ विराग सूवा सत्–संग घर के, सिघरे नाथ घलाऊंगा ॥ सत्यधर्म की डोर बाध कर, परमातम में रमाऊंगा ॥ ॥ २ ॥ चाहे तो सोऊ, चाहे तो जागूं, चाहे तो खेल खिलाऊंगा ॥ चाहे तो नाचूं, चाहे तो गाऊ, चाहे तो आनद समाऊंगा ॥ ३ ॥ वस भये मन फिर जीता जगत कूं, फिर न जगत् में आऊगा ॥ केशवानन्द आनन्द में मिल कर, दूजा भाव न दिखाऊगा ॥४॥

७९ जोगिया

राम नाम कह मैना, तूतो लख गुरु मुख को सेना ॥टेक॥ माया पारधी फंद लगायो, लाला फल धरेना ॥ लालच के बसतू जाइ वैठी, फँस गये दोऊ डेना ॥१॥ धंधे २ में मैना बोले, अब

दुनिया के धंधों में ऐशों में फंस कर के,भगवत को दीना बिसार ॥ सार्इकल पर चढ़ कर के, घंटी बजा करके जाता है बाजारी बजार ॥१॥ विस्की का चुस्की की चुस्की लगाकर के,मुख में दबाया सिगार ॥ आतम परमातम निरादर को करके, किया है जिन्दगी ख्वार ॥२॥ होटल में जाकर के बोटल को भर कर के, रोटी पर कीना शिकार ॥ कोट पटलून बूट माहिं साले जाता है मोटा चटार ॥ ३ ॥ वेद सिद्धांत निरादर करके, हेंड में हंटर हंकार ॥ लोक परलोक दोऊ से जावे, कंवल है कहवा पुकार ॥४॥

७६ गुजराती माड

सच्चिदानन्द है आनन्दकन्द, पूर्णानन्द आन रे ॥टेक॥ अस्ति भाति प्रिय रूप से व्यापि रह्यो सब ठौर ॥ नाम रूप सर कल्पित जाणो, ज्यों है ठूंठ का चोररे ॥१॥ जैसे दूध में घृत रम्यो है, ज्यों है तिलन में तैल ॥ पुष्प के अन्दर गंध मिल्यो है, देह में आतम मेलरे ॥२॥ एक सुवर्ण में भूषण पच्या नाना अंग अनूप ॥ सोन्य विचार कराही कच्या, सब साना का रूपरे ॥३॥ आने बिन ज्ञानी बहुत, सब चोरासी जाय ॥ कदावानन्द जबहा तू जान, आप में आप समामरे ॥४॥

७७ कस्तूरी

एक ब्रह्म को छोड़ दूजा कौन, ध्याऊंगा, आज मैं दूजा कौन ध्याऊंगा ॥टेक॥ भीतर बाहर एक रस है, रूप रंग स न्यारा,

काम जराने वाले ४।। अब डमरू को बजाले, तन मन को रिझाने वाले ।।५।। खुल गये दिल के ताले, झट प्रसन्न होने वाले ।।६ उर मे हैं मुड माले, व्याघ्र-चर्म ओढ़ने वाले ।। ७ ।। केशव आनन्द सभाले, आतम-दरश कराने वाले ।।८।

८२ रेखता

चढा परवत के ऊपर है हाथ पग जिसके है नाही नहीं रस्ता है कोई दूजी, विना पेडी चढे जाही ।।टेक।। जमा कर आसन पर बैठे, रोककर दशो दिश दृष्टी । नेत्र भी है नही जिनके, लगायी एक लोताही ।।१।। लक्षणा तीन कहते वेद, जहति अजहति ओ भागही ।। चौथी व्यंजना गावे, जहति अजहतो तजो माही ।।२।। लखो भाग त्याग से वृत्ती, विना तान गान करे निरती ।। तजो हर्ष शोक के झरती, सदा मन मोद में लाही ।।३।। विना अम्बर विना भूषण नही तीनो गुण हैं ये दूपण । केशवानन्द वानी विन प्रति दिन मोद में जाही ।।४।।

८३ रेखता

भरमना छोंडकर देखो तुम्हे क्या पादशाही है । तुही नौकर तुही चाकर, हुकुम तेरा ही जारी है ।।टेक।। हुकुम से तेरे सूरज ने तेज ज्योति पसारी है ।। शीतल गुण चन्द्रमा ने की है सारी रात उजारी है ।।१।। तेरे भय से पवन चाले, सदा क्या सुख कारी है । कभी मीठा कभी मदा, कभी सुगन्ध भारी है ।।२।। तुही

गुरु मोहिं छोड़ेना, अबकी बार गुरुजी मोहिं बना, मानूगो आपका कहेना ॥२॥ राम नाम से फंद छुड़ाय, ज्ञान बैराग होड बना ॥ कही पत्र स शरण में आमी, गुरु जी के चरण गहेना ॥३॥ निरभय होके अमृत पियाला, मिटि गये काल के ताना, केशवानन्द आनन्द कन्द मिल जग म अबना वहेना ॥४॥

८० भूप

बैल बाला सब दुनिया पाउन वाला ॥टेक॥ कुल में रहे बेहाल, त्रिन मार दिया है माला ॥१॥ नाम है मयो तिहाल, कम का गुरु किया काला ॥२॥ घर में है अजाया माला, भव दूर भया सब जाला ॥३॥ है फाँद गया जग जाल, विषयों स भया निराला ॥४॥ ऐसा है शंकर भोला, चढ़ाया चित्त स पोला ॥५॥ गले पड़ी शेष की माला,है बैठन को मृगछाला ॥६॥ सिर बहे गंग का नाला, फहरे तरंग बहु ज्वाला ॥७॥ कंठ है जिनका नीला, भूत पिशाच हैं करते क्रीड़ा ॥८॥ भंग धतूर पिये प्याला फुंकार करे हैं ब्याला ॥९॥ वामांग सुताहिमाला, गोद में गनपति बाला ॥१०॥ है केशवानन्द संभाला पता है अमरत्वाला ॥११॥

८१ भूप

बाबा बैल वाले, अभै बरदान दने वाले ॥टेक॥ कर त्रिशूल त्रिफल वाले मार त्रैताप निकालन वाले ॥१॥ गल में सर्प हैं काले पंच विषयों से छुड़ावन वाले ॥२॥ जटा में गंगा संभाले, त्रासे तृष्णा बुझाने वाले ॥३॥ शंकर त्रिनत्र वाले त्रिविधे

काम जराने वाले ४।। अव डमरू को बजाले, तन मन को रिझाने वाले ।।५।। खुल गये दिल के ताले, झट प्रसन्न होने वाले ।।६ उर मे हैं मुड माले, व्याघ्र-चर्म ओढ़ने वाले ।। ७ ।। केशव आनन्द संभाले, आतम-दरश कराने वाले ।।८।

८२ रेखता

चढ़ा परवत के ऊपर है हाथ पग जिसके है नाही नहीं रस्ता है कोई दूजी, विना पेडी चढे जाही ।।टेक।। जमा कर आसन पर बैठे,रोककर दशो दिश दृष्टी । नेत्र भी है नही जिनके, लगायी एक लोताही ।।१।। लक्षणा तीन कहते वेद, जहति अजहति ओ भागही ।। चौथी व्यंजना गावे,जहति अजहती तजो माही ।।२।। लखो भाग त्याग से वृत्ती, विना तान गान करे निरतो ।। तजो हर्ष शोक के झरती, सदा मन मोद में लाही ।।३।। विना अम्वर विना भूषण नही तीनों गुण हैं ये दूषण । केशवानन्द वानी विन प्रति दिन मोद मे जाही ।।४।।

८३ रेखता

भरमना छोड़कर देखो तुझे क्या पादशाही है । तुही नौकर तुही चाकर, हुकुम तेरा ही जारी है ।।टेक।। हुकुम से तेरे सूरज ने तेज ज्योति पसारी है ।। शीतल गुण चन्द्रमा ने की है सारी रात उजारी है ।।१।। तेरे भय से पवन चाले, सदा क्या सुख कारी है ।। कभी मीठा कभी मदा, कभी सुगन्ध भारी है ।।२।। तुही

चक्रवर्ती है राजा, तेरे जय का बजे बाजा । चतुरंगी फौज है साजा, गावे गुण वेद सारी है ॥३॥ है ऐसा बोध शुभ जिनके, चोन्यासी फंद क्यों भटके ॥ केशवानन्द अब नहीं भटके, एकता को संभारी है ॥४॥

८४ रासड़ा

विषय से भागन्ता हो । चोर ठगों सत जान विषय से भागना हो ॥टेक॥ विषय पोष पसारयो फन्दा, जीव मृग इसे नहीं अन्धा । अब तो छोड़ काम का धन्धा, प्रभु चरणन मन लावना हो ॥१॥ भोगत भोग कल्प बहु खोयो, तो भी भोग से रह गयो रीतो ॥ काम क्रोध को अब तो जीता, एक सन्तोष विन थापना हो ॥२॥ जनम मरन के बाम लगायो, तो भी बोझ को ख्याल न पायो ॥ जनम समय आत है बोता, जरा अब मानना हो ।३॥ सत संगत से फन्दा काटो, काम क्रोध को अन्दर डाटो ॥ केशवानन्द भरम सब माटो एक ब्रह्म को जोवना हो ॥४।

८५ रासड़ा

भरम में भूलना हो । जनम मरन के दुःख मिटावो, भरम में मूल नाहो । टेक॥ अपनी भूल से हा सप भासे, अवरो ज्ञान से सर्प नाम ॥ सब हो डर सब दूर हो भाग दुःख होवे नाशनमहो । १॥ बाजीगर का मूठ तमाशा, जामे पिना सत हो भासा । विचार किये से होवे नाशा, अजर अमर अब जोवना हो ॥२॥

जैसे बालक लकड़ी माहीं, घोड़ा मानि कुदावे ताहीं। दौड़त आप सड़क पर जाही, मन में माने मोद अधिक कुदावना हो ॥३॥ तैसे अपने आपको भूला, गर्भ वास मे आपै फूला। नख शिख छाई अविद्या मूला, तासे छूटो कर साधना हो ॥४॥ चारो साधन सम्पन्न होयकर, ज्ञान सलाका अंजन लाकर। केशवानन्द भर्म सब खोकर, तान चादर अब सोवना हो ॥५॥

८६ रासड़ा

मानुष जनम कठिन से पाया, जनम सुधारना रे ॥टेक॥ घट के अन्दर निरमल गंगा, तासे करो पाप को भंगा ॥ तब ही चढे ज्ञान की रंगा जनम मल काढ़ नारे ॥१॥ निरभय होकर रहो जगत् में, संगत करले संत भगत मे। मत कोइ फसो बुरे कर्म में, चित को विषय से छारना रे ॥२॥ भोगत २ जनम बिताया, चित सन्तोष शान्ती नहिं आया, चित्तको कर समाधान भरम को फारनारे ॥३॥ सबके अन्दर चेतन स्वामी, रंग रूप से रहित अनामा ॥ केशवानन्द सोई सुन्दर स्वामी, दिल का छाड़ गुवार, मिटे सब रारना रे ॥४॥

८७ जंगला

यह संसार पार होवन को, शीघ्र उपाय करो मेरे पियारे ॥टेक॥ यह नश्वर तनु थिर न रहत है, घड़ी पहर ठहराव पियारे। कंचन माया देखि लुभाया, जैसे नदी के नाव पियारे ॥१॥ छिन

में बढ़ जाय छिन में घटजाय, दीपक जोत परमान पियारे। नीचे स निकसि ऊपर बिलात है, ता में न विठ छमो मर पियारे ॥२॥ पार इ वन को सतसंग नैया, विचार के कर पतवार पियारे। सत् गुरू दया अरु कृपा पवन स, सहसा पार अगाव मर पियारे ॥३॥ काल बली न जाल पसाम्यो, छोड़त न राजा राव मेर पियारे। कहै केशवानन्द छांड़ फन्द सब, गुरू के शरन मांहि आव पियारे ॥४॥

८८ जगला

जाके मन में ज्ञान प्रगट हो, ताको सुभाव रहे नहि पाले ।टेक॥ सूर्य प्रकाश भया जब प्रात में, तारागण की जोत छिपाने। काम सुधा सब बैठे आदर में, मोह तस्कर य सारे लुकाने ॥१॥ तम फूलन स बस्तु प्रगट हो, सरस गये सिमि सेवरी आने। तैसे ही भूल के जीव बने ये अज्ञान गय फिर मायाहि माने ॥२॥ कोउक निंदत कोउक बंदत, कोउक मान करे मनमाने। कोउ कहत यह मूरख दीसे, कोउक चित में कामि पिछाने ॥३॥ केशवानन्द काहू स राग न द्वेष है, जैस काच में प्रति बिंब आने। साक्षी रूप स देखे तमाशा, समझ २ कर मन मुसकाने ॥४॥

८६ जगला

क्या मर क्या बहु रूप दिखावे ॥ भीतर तो भंगार भरी है ।टेक॥ अस्थी मांस त्वचा मेदा मिलिके चोमे रुधिर पर कफ भरी है ॥ मुख जिम्हा श्रुति नेत्र कर दोऊ, दोऊ भुजा सब अम

जडी है ॥१॥ देखन में वहु सुन्दर दीसे, इन्द्रिय महँनव द्वार झडी है ॥ मूरख देखि के वहुत लुभाने, जाने नहीं यह नरक जड़ी है ॥२॥ जेकर अज्ञवहु दुख उठावे, तेकर भवजल नहीं तरी है ॥ तज्ञ ताको दुख रूपहि जाने, विषयन से मन खींच रही है ॥३॥ चार दिना के रंग तमाशा, आखिर तो वनवास खरी है ॥ कहे केशवानन्द अब तो समझ प्राणी तेरे शिर पर काल वरी है ॥४॥

९० जंगला

जनम मरण के दुख मेटन को, पुरुषारथ करे क्यों न पियारे ॥टेक॥ असंख्य जनम से फिरता भटकता, कभी भेड़ वकरा मेरे पियारे ॥ कवहीं हाथी कवहीं घोड़ा, कवहीं कच्छप में, परत मेरे पियारे ॥१॥ चार लाख चोर्यासी भरम के, मानुष तन में आया मेरे प्यारे । या तनु मे ना जतन कियो तो, पुनि २ नरक भरे मेरे पियारे ॥२॥ सत् शास्त्र अरु गुरू शरण मे, आय वचन रत होवा मेरे पियारे ॥ छोड़ दे काम क्रोध मद ममता, काहे को तृष्णा में जरत पियारे ॥३॥ विना ज्ञान के भरम न जावे, सीप ज्ञान विन रजत है पियारे ॥ केशवानन्द जेवरी विनु जाने, डरप २ कर भगत पियारे ॥ ४ ॥

९१ ग़ज़ल धुमाल

भरम ना दिल से जब छूटी और नहिं कोई दिखता है ॥टेक॥ जहा पर सूर्य ना चन्दा, वहाँ पर आप स्वच्छंदा ॥ नहीं कोई जालऔ

में बहु आय छिन में भटजाय, दीपक जोत परमाव पियारे । नीचे स निकसि ऊपर दिखात है, ता में न दिख आमो मरे पियारे ॥२॥ पार हवन को सतसंग नैया, विचार क कर पतवार पियारे । सत् गुरु दया अरु कृपा पवन स, सहसा पार लगाव मेर पियारे ॥३॥ काठ पली न आल पसाऱ्यो, छोड़त न राजा राव मेरे पियारे । कहे केशवानन्द छांड़ फन्द सब, गुरु के शरन गहि आव पियारे ॥४॥

८८ जगला

आक घट में ज्ञान प्रगट हो, ताको सुभाव रहे नहिं आने ।टेक।। सूर्य प्रकाश भया जब मान में, तारागण की जोत छिपाने । काम मुषा सब बैठे आडर में, मोह तस्कर ये सारे लुकाने ॥१॥ तम फूटन स वस्तु प्रगट हो, भरम गय जिमि जेवरी जाने । तैसे ही भूख के जीव मन के अज्ञान गये फिर नाहिं माने ॥२॥ कोऊक निंदत कोऊक वंदत, कोऊक मान करे मनमाने । कोऊक कहत यह मूरख दीसे कोऊक दिल में कामि पिछाने ॥३। केशवानन्द कबहु स राग न द्वेष है, जैसे काष्ठ में मति विर्न जाने। साक्षी रूप से देखे तमाशा, समझ २ कर मन मुसकाने ॥४॥

८६ जगला

ऊपर क्या बहु रूप दिखावे ॥ भीतर तो भंगार भरी है ।।टेक।। अस्थी मांस ताम मेदा मिश्रित वीर्य रुधिर पर कफ करी है ॥ मुख शिक्षा श्रुति मंत्र कर शाऊ, दोऊ मुखा सब भ्रम

तव आगिरस्ता है ॥१॥ जिसे है मानता प्यारा, वो होता सारे से न्यारा ॥ कमाया पाप के भारा, एक ना साथ चलता है ॥ २ ॥ जवै तू करता कमाई, तवै तुझे मिलते हैं आई ॥ न इसमें झूंठ है राई सभी मतलब का नाता है ॥३॥ छांड़ सब कपट चतुराई, प्रभू से नेह कर भाई ॥ केशवानन्द कहे समझाई, तवहि आनँद माता है ॥ ४ ॥

९४ ग़ज़ल धुमाल

क्या है सुख विषयों में मूरख ने आलिपटता है ।टेक॥ हाड़ सूखा जभी श्वानो, धरा है मुख में मानो ॥ चावता जोर से जानो रुधिर मुख से टपकता है ॥१॥ लगा है हाड़ में आई, मानता इसे सुखदाई ॥ न जाने कुछ भी अपनाई, ये चस २ के चिपटता है ॥२॥ मिटा सब तेज वो बुद्धी, भूला पर लोक की शुद्धी विषय सुख मन में है लुब्धी, उमर सारी निपटता है ॥३॥ सहा शीतोष्ण अतिभारी, पड़ा है काम वेगारी ॥ है ऐसा मूढ़ अनारी, केशवानन्द यों भटकता है ॥४॥

९५ ग़ज़ल धुमाल

हमारा देश वोही है, जहाँ पर नहिं अन्धेरा है । टेक । नहीं चंदा नहीं सूरज, नहीं विजली न तारा है ॥ नहीं मणि मोती की जोती, पंच भूतों से न्यारा है ॥१॥ नहीं दिक् काल वो धारा, नहीं जग जाल है लारा ॥ नहीं कोइ ग[illegible] की धारा, नहीं सझा सवेरा

फन्दा असंख्यित जीव जरता है ॥१॥ नहीं है धूप वा छायाँ, नहीं कोइ काल न आया ॥ जगत भ्रम मूँठ है माया, वेद इस भाँति कहता है ।२॥ कर्म का जाल है फाँसी, यहीं से भूला अविनाशी ॥ भटकता मथुरा औ काशी, वृथा पच २ के मरता है ॥३॥ अजन्म कर्म केशवानन्द, जहाँ पर नहीं कोई द्वंद ॥ विचरते हैं सदा आनन्द, अमाना सैर करता है ॥ ४ ॥

६२ गजल धुमाल

घुसा है चोर घर में यार, तुम्हें क्या नाहिं सुझता है ॥ सोया है नींद में गाफिल माल सारा ये मुसता है ॥ टेक ॥ तोड़ा मन द्वार का ताला, चोर है पाँच जोर वाला ॥ खड़ा है जिनने माल्म, जरा नहिं काम करता है ॥१॥ जगाते चार चौकीदार, तो भी नहिं जागता गँवार ॥ है सोया अनादि काल से यार, जरा नहिं टेर सुनता है ॥२॥ सुनी है टेर कानों से बचा है माल चोरों से ॥ दरिद्दर होता नहिं धन से, सदा आनन्द रहता है ॥ ३ ॥ जगाने वाला केशवानन्द जहां पर चोर की नहिं सन्द ॥ सोने फिर हो करके निरद्वंद वृथा ही क्यों मरमता है ॥ ४ ॥

६३ गजल धुमाल

हरि से प्रेम करने में, तुम्हें क्या लोभ आता है ॥ किया है नेह विषयों से समय सारा ये जाता है ॥ टेक ॥ बालापन खेल में खोया अवानी काम वश सोया ॥ [illegible]

९८ कुण्डलिया

हीरा २ सब कोइ कहे, हीरा के तो तोल ॥ जो हीरा घट मे बसे, सो हीरा अनमोल ॥ सो हीरा अनमोल याहि तू क्यों ना जोवे । काम क्रोध मद लोभ, विषय में विरथा खोवे ॥ कहे केशवानन्द, जोहरी खोजो पक्का । छोड जगत के जाल फिरे क्यो खावे धक्का ॥

९९ कुण्डलियां

आतमनदी जल संजम, विवर्त सत्य को जान । तटदोई जहशील है, दया उर्मि पहिचान ॥दया उर्मि पहचान निहाले तिस में भाई, महाभारत में कृष्ण युधिष्टिर का समुझाई ॥ कहे केशवा-नन्द जो न्हाते अन्दर माही ॥ वो पाते पद निर्वाण स्नान जल मलना जाही ॥

१०० कुण्डलियां

ब्रम्ह माया का बाधक है साधक ताकू ज्ञान । ज्ञान होत है विरति में कहते सन्त सुजान॥ कहते सन्त सुजान विरती का काम यही है । दूर करे आवरण कु मारे दंड सही है ॥ कहै केशवानन्द, है चेतन स्वय प्रकाशा, तासे नरंचक भेद, हुआ अविद्या नाशा ॥

१०१ कुण्डलियां

तन बन मे बहु सर्प हैं, और हैं सिंह सियार । यासे बचना कठिन है, कहते संत पुकार ॥ कहते सत पुकार जतन कर बचना

है ।२।। हैं चारों वेद यूं गाता, पार नो कोई नहीं पाता ॥ शेष वो सारदा माता, यही बुद्धि विचारा है ।।३।। कहता खोल हर केशवानन्द, छुटा जन्म मोक्ष का सब फन्द ।। विचरते हैं सदा निरद्वंद, आज सारा निबेरा है ।।४।।

६६ गजल धुमाल

पड़ा था मोह के वश में गुरु न भ्रासैमारा है ।।टेक।। माया से रात दिन कहता ये मेरा है ? ।। नहीं कोई मेरा वो तेरा, सभी भव-जाल सारा है ।।१।। यही भव दुःख है भारी, करे क्यों समय की ख्वारी ।। अन्त में नहीं कोई यारी, ये सब मिथ्या पसारा है ।।२।। दिया गुरुजी ने ऐसा ज्ञान, सुष्य है सारा भास भान ।। मार दिया है सारा काल, दरिद्दर को निकारा है ।।३।। सदा रहते हैं हम सत भान लिया है मन विषय से तान ।। लगाया उसमें ये ध्यान, केशवानन्द काम आरा है । ४ ।।

६७ कुण्डलिया

पाँच विषय हैं जगत् में, जाको कहूं बखान । मरें पाँच न पाँच से, तिनको लेहु पिछान ।। तिनको लेहु पिछान शब्द से मृग को जानो । दीपक देखि पतङ्ग, स्पर्श न कुंजर मानो ।। रस के वश है मीन, भ्रमर वश गंध के कहिये । इनसे बचते जो दूर, परमपद सोई कहिये ।। कहे केशवानन्द काम, फन्द क्यों का यही है ।। मार जतन कर पाँच सोइ फन्दा सही है ।।

९८ कुण्डलिया

हीरा २ सब कोइ कहे, हीरा के तो तौल ॥ जो हीरा घट मे बशे, सो हीरा अनमोल ॥ सो हीरा अनमोल याहि तू क्यों ना जोवे । काम क्रोध मद लोभ, त्रिषय में विरथा खोवे ॥ कहे केशवानन्द, जोहरी खोजो पक्का । छोड़ जगत के जाल फिरे क्यों खावे धक्का ॥

९९ कुण्डलियां

आतमनदी जल संजम, विवर्त सत्य को जान । तटदोई जहशील है, दया उर्मि पहिचान ॥दया उर्मि पहचान निहाने तिस मे भाई, महाभारत में कृष्ण युधिष्ठिर का समुझाई ॥ कहे केशवानन्द जो न्हाते अन्दर माहो ॥ वो पाते पद निर्वाण स्नान जल मलना जाही ॥

१०० कुण्डलियां

ब्रम्ह माया का बाधक है साधक ताकूं ज्ञान । ज्ञान होत है विरति में कहते सन्त सुजान॥ कहते सन्त सुजान विरती का काम यही है । दूर करे आवरण कु मारे दड सही है ॥ कहै केशवानन्द, है चेतन स्वय प्रकाशा, तासे नरंचक भेद, हुआ अविद्या नाशा ॥

१०१ कुण्डलियां

तन वन में बहु सर्प हैं, और हैं सिह सियार । यासे बचना कठिन है, कहते संत पुकार ॥ कहते सत पुकार जतन कर बचना

प्यारे। ले वैराग की ढाल मार सु ज्ञान खड्ग से सारे॥ कहें केशवानन्द सबहिं पावे सुखरासी। छुटजावे चित से भीति मिट गयी लख चोरासी॥

१०२ कुण्डलियाँ

प्रथमहिं साधे चक्षु का विवेक गुरु से पाय। चक्षु की पूजा रूप है, कहें वेद में गाय॥ कहें वेद में गाय ताको समझ असारा। नासिका इन्द्रिय सुवास करे सम तहाँ निरधारा॥ कहे केशवानन्द भाव है सम्य अधीना। रोक शोक कुबोल करे सम कोइ प्रवीना॥

१०३ कुण्डलिया

काम इन्द्रिय कुत्सित है, वश किये सुर मुनि देव। तासे बचता सूर कोइ, था क्षमा गुरु सेव॥ जो क्षमे गुरु सेव सिवा एक ज्ञान सहाग। ब्रह्म आत्मा उपजा काम का मूल उपारा। कहें केशवानन्द कामिनी काल की खानी। तासे रहो असंग कहत यूँ मुनिवर ज्ञानी॥

१०४ कुण्डलिया

जिव्हा इन्द्रिय चहे स्वाद को खट्टा मीठा अरु मधुर। प्रारब्ध वसात् जो कुछ मिले पावे विचार कर सो चतुर॥ पावे विचार कर चतुर वर्में पदार्थ मेवाई मन से वासना हटाई। तावे जिव्हा

मांग सोते मसान में जाई ।। कहे केशवानन्द पायो सुख अखंडा । फिरते सदा स्वछन्द लिये बैराग का झंडा ।।

१०५ कुण्डलियां

पंच तत्व की गूदड़ी तामें रंग अनेक । ये पांचो से है परे, करके देख विवेक ।। करके देख विवेक तू ही है अचल अनादी । सत् चित आनन्द एक है कहते पडित वादी ।। कहे केशवानन्द तू ही है अज अविनाशी । सदा तुही एक रस सब ही घट २ का वासो ।।

१०६ कुण्डलियां

कहूँ लक्षण हंस के लखे कोइ बुद्धि निधान । दूर किया सब नीर को लिया दूध को छान ।। लिया दूध को छान बसत मान सरोवर माहीं । चुगते मोती फल सदा डोमरीयो निकट न जाहीं ।। कहे केशवानन्द कुण्डलीये है बनाई, किया यह विचार भर्म अन्दर से जाई.

१०७ कुण्डलियां

राम नाम को गहो नित, क्यों गहता है चाम । चाम केगहने छांड कर, भजो सदा एक राम ।। भजो सदा एक राम विचार ऐसा अबकीजे, मानुषदेह अनमोल, सोध परमातम लीजे ।। कहे केशवानन्द तबहिं हो सुफल कमाई । राम नाम पचिान,वृथा क्यों आयु गमाई ।।

प्यारे। ले बैराग की डाल मार तू काम लठ से सारे॥ कहे केशवानन्द तबहिं पावे सुखराशी। शठगमी चित से भीति मिट गयी अब चोरासी॥

१०२ कुण्डलियां

प्रथमहि साधे भक्षु का विवेक गुरु से पाय। चक्षु की पूजा रूप है, कहें वेद में गाय॥ कहें वेद में गाय ताको समझ असारा। नासिका इन्द्रिय सुवास करे सम त्यों निरधारा॥ कहे केशवानन्द मोक्ष है सभ्य अधीना। दोऊ बोल कुबोल करे सम कोइ प्रवीना॥

१०३ कुण्डलियां

काम इन्द्रिय कुटिल है, वश किये सुर मुनि देव। तासे बचता दूर कोइ, जो करते गुरु सेव॥ जो त्याग गुरु सेव सिया पद ज्ञान वैराग। ब्रह्म आत्मा उनका काम का मूल उपारा। कहे केशवानन्द कामिनी काम की खानी। तासे रही असंग कहत यूं मुनिवर ज्ञानी॥

१०४ कुण्डलिया

जिव्हा इन्द्रिय चाहे स्वाद का लगी मीठा अरु मधुर॥ प्रारब्ध बसात् जो कुछ मिले पाव विचार कर सो चतुर॥ पावे विचार कर चतुर बसें एकान्त मेवाई मन से वासना उठाइ। ताते मिथ्या

उलट करोवो वृत्ति रूप रामहि निज जोवो ॥ कहे केशवानन्द, तबहि पावे अविनाशी । कट गये दीरघ रोग, हुआ मन ब्रह्म मे वासी ॥

११२ कुण्डलिया

ईई यह तन पाय के करना सदा विचार। क्या असार अरु सार है, ताको करो शुमार ॥ ताको करो शुमार आत्मा सत्य बताया। झूठा जग संसार वेद ने योहीं गाया ॥ कहे केशवानन्द ये झूठी काया माया। झूठे मात अरु तात, झूठे सुत जननी जाया ॥

११३ कुण्डलिया

उऊ उसपरब्रह्म का करिये सदा तलाश। परब्रह्म जाने बिना, होता है बड हास ॥ होता है बड हास फिरे करता मजदूरी ॥ जैसे भूल कर सिंह होगये मेडा मेडी ॥ कहे केशवानन्द न जब लग ब्रह्म को जाने। तब तक मिटे न भेद न छूटे आने जाने ॥

११४ कुण्डलिया

ऋॠ ऋते आये हो, ऋते कर फिर जाय। चन्दरोज के रहन में अहंकार क्यों भाय ॥ अहंकार क्यों भाय न है कछु तेरा मेरा। प्रीति करो शिव संगवही है मेरा तेरा॥ कहे केशवानन्द, बाँधकर मुठी आया। झूठा है जग जाल पसारे हाथों आया।

११५ कुण्डलिया

लृलॄ लीजे राम को, हृदे सदा पहिचान। मिले दूध अरु नीर को, हंस लेत है छान ॥ हस लेत है छान, नीर जग किया

१०८ कुण्डलिया

आया है सो जायगा, राजा रंक कंगाल। रचा खेल यह माया ने पड़ा काल के गाल॥ पड़ा काल के गाल मुलुक बांधे कस कस के। मूरखे का यह मजा, खबर लेवे नस २ के॥ कहे केशवानन्द, न जब तक हरि को जाने॥ तब तक छुटेन मार, मुर्खे नहिं आने जाने॥

१०९ कुण्डलियां

कोइला काले होगये, निकसत अगिन माहि॥ मवन अनेकों करो पर, कालापन नहि जाहि॥ काला पन नहिं जाहि तीर्थो अरु नीर मगन वे। साबुन चोखी लायमले पनमें अलसावे॥ कहे केशवानन्द न धो भी मिट भी स्याही। जबहि मिले निज भाग, मिटे तबही वह स्याही॥

११० कुण्डलियां

तैसे ही मूखे आपको करन लगे बहुपाप काम क्रोध मद लोभ में करन लगे कलाप॥ करने लगे कलाप पुजता देवा देवो। ब्रह्म-स्वरूप को छोड़ करत है सदा सेवी॥ कहे केशवानन्द न जब तक रूप समावे॥ तब तक छूटे न फांस, बहुरि आवे अरु जावे॥

१११ कुण्डलिया

आया आय जगत् में कूट है क्या धाम। धाम कूटना छोड़ कर, ख्याल करो वह धाम॥ ख्याल करो वह धाम काम में आयु न खोवो।

उलट करोवो वृत्ति रूप रामहि निज जोवो॥ कहे केशवानन्द, तबहि पावे अविनाशी। कट गये दीरघ रोग, हुआ मन ब्रह्म में वासी॥

११२ कुण्डलिया

ईई यह तन पाय के करना सदा विचार। क्या असार अरु सार है, ताको करो सुमार॥ ताको करो सुमार आत्मा सत्य बताया। झूठा जग संसार वेद ने योंहीं गाया॥ कहे केशवानन्द ये झूठो काया माया। झूठे मात अरु तात, झूठे सुत जननी जाया॥

११३ कुण्डलिया

उऊ उसपरब्रह्म का करिये सदा तलाश। परब्रह्म जाने विना, होता है बड ह्रास॥ होता है बड ह्रास फिरे करता मजदूरी॥ जैसे भूल कर सिंह होगये मेढा मेडो॥ कहे केशवानन्द न जब लग ब्रह्म को जाने। तब तक मिटे न भेद न छूटे आने जाने॥

११४ कुण्डलिया

ऋॠ ऋते आये हो, ऋते कर फिर जाय। चन्दरोज के रहन में अहंकार क्यों भाय॥ अहंकार क्यों भाय न है कछु तेरा मेरा। प्रीति करो शिव संगवही है मेरा तेरा॥ कहे केशवानन्द, बाँधकर मुठो आया। झूठा है जग जाल पसारे हाथों आया।

११५ कुण्डलिया

ऌॡ लीजे राम को, हृदे सदा पहिचान। मिले दूध अरु नीर गो, हंस लेत है छान॥ हंस लेत है छान, नीर जग किया

है न्यारा । दूध रूप है आप लेय निश्चय निरधारा ॥ कह केशवानन्द मिटे तबही कंगाली । कोमल शिशु बनिकाश नाम की बैठा डाली ॥

११६ कुण्डलिया

पऐ ऐसा धरम कर जासे होय पद्धार । काम क्रोध मद छोम के, तज दो सभी विकार ॥ तज दो सभी विकार हार हिम्मत ना कबहीं । जैसे मोती आव शूर जन रण पर कबही ॥ कहे केशवानन्द, छीणजावे तो जाने । सच्चाशूर है वही न पीछे को जो भागे ॥

११७ कुण्डलिया

जो जो और दूजा नहीं, लखीजे संसार । जैसे मनके अनेक में, व्यापरहा यकतार ॥ व्यापरहा यक तार, तैसे ही आपको जानो । बचन कहे अनेक किसी की एक न मानो ॥ कहे केशवानंद ऐसा निश्चय कीजे । प्राण जायँ तो जायँ न पीछे चित्त को खाजे ॥

११८ कुण्डलिया

संभ मम के अंग से, जगत भया विस्तार । जैसे पुंबे स रुई निकसत है यहुतार ॥ निकसत है बहुतार, सूत से पट बुनावे । कोई मम ० दांदि कोई किमखाप कहावे ॥ कह केशवानन्द सभी पट रुई सरूपा ब्रह्म आतम आप रूप सब ब्रह्म सरूपा ॥

दोहा—

स्वर ज्ञान के अर्थ को, समुझे चितदे कोइ ।
ज्ञान रूप में गरक रहे, जन्म न दूजा होइ ॥
भूल चूक को माफ करो, सज्जन दीन दयाल ।
केशवानन्द की बीनती, बुद्धि है मम बाल ॥
कहना सुनना बहुत है, गुनना थोड़े माहिं ।
थोड़े महँ जो जन गुने, संशय शोक नसाहिं ॥
समिधा सूखी बहुत हैं, अग्नि रंचक मात्र ।
जो अग्नि के लगत ही, राख होत पल आत्र ॥

११६ तत्व बत्तीसी चौपाई

कका काया अन्दर भाई । सबका साक्षी रहा समाई ॥ आपहि द्रष्टा होवे जबही । जग मिथ्या ये लखता सबही ॥ खखा सबर करो मेरे प्यारे ॥ काम क्रोध से होवो न्यारे ॥ लोभ मोह कर रहा छिपाई । जैसे बादल सूर्य ढकाई ॥ गगा गावन की गुरुवानी ॥ तासे होय सकल भ्रम हानी ॥ भ्रम होत अधिष्ठान आसरे । रज्जू सर्प देख के ससरे ॥ घघा घर में रहो समाई । दूजे का घर होय दुखदाई ॥ जैसे अफीमची अमल को खाई । दूजे घर घुस गया पिटाई ॥ ङङा ऊपर नीचे समाया । अंत न शेष सारदा पाया ॥ सो आनन्द को गुरू लखावे । हद लख के बेहद को जावे ॥ चचा चमन खिली अति भारी । ताकी रंगत अजब निहारी ॥ मूरख देखकर फँस गये सारे । ज्ञानी तासे रहे

है न्यारा । पूप रूप है आप लेय निश्चय निरधारा ॥ कहे केशवानन्द मिट तबही कंगाली । क्षेपक शिशु वनिकाग आम की बैठा डाली ॥

११६ कुण्डलिया

एऐ ऐसा धरम कर जासे होय उद्धार । काम क्रोध मद लोभ के, तज दो सभी विकार ॥ तज दो सभी विकार हार हिम्मत ना क्यांहीं । जैसे मोती आव धूर जल रया पर चाही ॥ कहे केशवानन्द, हौसजावे तो आगे । सच्चाशूर है वही न पीछे को भी भागे ॥

११७ कुण्डलिया

ओ भी और दूजा नहीं, लखीजे संसार । जैसे मनके अनेक में व्यापरहा एकतार ॥ व्यापरहा एक तार तैसे ही आपको जानो । वचन कहूं मनके किसी की एक न मानो ॥ कहे केशवानंद ऐसा निश्चय कीजे । माया आयें तो जायें न चीत्त चित को दाजे ॥

११८ कुण्डलिया

अंभ ब्रह्म के संग से, जगत भया विस्तार । जैसे पुंज से सूर्य, निकसत है बहुतार ॥ निकसत है बहुतार, सूत से पट बुनावे । कोई मल ? आदि कोई क्रिमशाव कहावे ॥ कहे केशवानन्द सभी पट सूई सरूपा ब्रह्म जानो आप एक सब ब्रह्म सरूपा ।

दूजा रंग मिले वदरंगा ॥ दद्दा दर्श करोरे भाई। चूक पडे तो फिर पछिताई ॥ दमन करो सदा इन्द्रिय को। दसो दिशा से रोको मन को ॥ धधा धर्म यही है भाई। मानुप देह वृथा नहिं जाई ॥ यहही देह अमोल है भाई। लख निज रूप नारायण होई ॥ नन्ना नाम रूप को त्यागो। सत् चित् आनन्द रूप मे लागो ॥ पाव अंश मे जगत है सारा। अस्ति भाति प्रिय रूप तुम्हारा ॥ पपा परम धर्म यहि भाई। आप रूप में रहो समाई ॥ आगम निगम पुराण वखाना। एक रूप है ब्रह्म समाना ॥ फफा फांको ज्ञान की फकी। होवे निश्चय रहो निशंकी ॥ रोग दोप को भय नहिं कीजे। कटगये रोग अभय पद लीजे ॥ बबा वर वश मन को जीतो। तब ही ज्ञान रस अमृत पीतो ॥ जो नर मन को जीता विषय से। वही देश एकांत वसैसे ॥ भभा भरम का बुरुज ढहाया। ब्रह्म-ज्ञान का गोला चलाया ॥ माया महल उड़े बुद २ ही। जैसे पिंजारा रूई धुन ही ॥ ममा मरम भेद पच छेदा। रहा न रंचक भेद अभेदा ॥ जाश कर्म होवे निष्कर्मा। यह सतो के निश्चय धर्मा ॥ यया यारी चोरी न करना। करपुरुषारथ पेट को भरना ॥ जो अन्याय करे पेट कारन ॥ सो पशु मूढ है जान हजारन। ररा रमि रहा सब के माही। कीट पतग ब्रह्म लों आई ॥ जो जाने यह रमझ समज को ॥ वोही पहुँचे अजवा घर को ॥ लला लीन होवो उस माहीं। पुनः उलट कर जगत न आहीं ॥ तारा सूर्य प्रकाश न करई। स्वयं

किनारे ॥ छट्ठा छे रस तजो विकारा । छ रस में बहु गये हैं मारो ॥ छे रस को तजता जो कोई । अमर अमर पद पावे सोई ॥ जजा आप करो निज अपना । दूजो आप को तजो कल्पना ॥ झुमे माया से दूजा आप । एक ब्रह्म का निश्चय नापे ॥ झझा झगड़ा त्यागो भाई । एकहि ब्रह्म रहो लव लाई ॥ एक ब्रह्म देखन को दूजा । याको गुरु मुख लखो र भेवा ॥ अब्बा इस जगत को कर्ता । पाले पावे औ संहर्ता ॥ उपादान कारण माया जानो । निमित्त कारण ईश पिछानो ॥ टट्टा टारो सदा विपयन को । विपय पांच फसावें सबन को ॥ शम दम करिके माहि मिटावो । मन अमगाय ब्रह्म में लावो ॥ ठट्ठा ठाम कुग्राम में सूझी । ज्यों आकाश घट मठ में सोझा ॥ नहिं उपजे माहिं विनसे कबही । घट मठ उपजे बिन से सब ही ॥ डड्डा डमा डोल न होय कबही कबिग्मा रहे सो परमपद लहही ॥ जिनके निश्चय नहीं मन माहीं । यम-राजा से मार वो खाई ॥ ढढ्ढा ढूंढन को कहां जावो । करि विचार निज आप में पावो ॥ इक्षु में गुड़ तिल में तेल । तैसे ही आतम देह में मेल ॥ णाणा नगर बसा है कैसे माया गुण २ में फैल है तैसे ॥ घट की कारन मृत्तिका जानो । भीतर बाहर मृत्तिका जानो ॥ तत्ता तत्व ज्ञान कर देखो । एक ब्रह्म दूजो नहिं लेखो ॥ तरव ज्ञान को जाना जोई । सारा जगत् को जोवा सोई ॥ थथा थंम की नाई अचल । अवज्ञान रँग रखा में सबला ॥ रँग सोई जो रहे एक रँगा ।

दूजा रग मिले वदरंगा ॥ दद्दा दर्श करोरे भाई। चूक पडे तो फिर पछिताई ॥ दमन करो सदा इन्द्रिय को। दसो दिशा से रोको मन को ॥ धधा धर्म यही है भाई। मानुष देह वृथा नहि जाई ॥ यहही देह अमोल है भाई। लख निज रूप नारायण होई ॥ नन्ना नाम रूप को त्यागो। सत् चित् आनन्द रूप में लागो ॥ पांच अंश में जगत है सारा। अस्ति भाति प्रिय रूप तुम्हारा ॥ पपा परम धर्म यहि भाई। आप रूप में रहो समाई ॥ आगम निगम पुराण बखाना। एक रूप है ब्रह्म समाना ॥ फफा फांको ज्ञान की फक्की। होवे निश्चय रहो निशंकी ॥ रोग दोष को भय नहिं कीजे। कटगये रोग अभय पद लीजे ॥ बबा बर वश मन को जीतो। तब ही ज्ञान रस अमृत पीतो ॥ जो नर मन को जीता विषय से। वही देश एकात बसैसे ॥ भभा भरम का बुरुज ढहाया। ब्रह्म-ज्ञान का गोला चलाया ॥ माया महल उड़े बुद २ ही। जैसे पिंजारा रूई धुन ही ॥ ममा मरम भेद पच छेदा। रहा न रंचक भेद अभेदा ॥ जाश कर्म होवे निष्कर्मा। यह संतो के निश्चय धर्मा ॥ यया यारी चोरी न करना। करपुरुषारथ पेट को भरना ॥ जो अन्याय करे पेट कारन ॥ सो पशु मूढ है जान हजारन। ररा रमि रहा सब के माही। कीट पंतग ब्रह्म लों आई ॥ जो जाने यह रमझ समज को ॥ वोही पहुँचे अजवा घर को ॥ लला लीन होवो उस माहीं। पुन. उलट कर जगत न आहीं ॥ तारा सूर्य प्रकाश न करई। स्वयं

रूप जानहि सो नरई ॥ यथा वाके घट में माई ओक चतुरस रहा समाई ॥ काहू कहत घट में आशा । सारे घट आकाश में बाशा ॥ ताना ज्ञान करो मन प्यारे । रात पढ़गो जाय उचारे ॥ जो कछु करता स्वास के पहिले । बिन निश्चय फिर पढ़ोगे पहले ॥ एपा निश्चय सेन को लखना । फिर जामो नहि होय मरना ॥ जीवन मरन अविद्या करावे । निजस्वरूप में सूरत गावे ॥ सत्त श्रवण मनन नित कीजे । निदिध्यास में चित्त का दीजे ॥ तब ही चित्त को होवे चैना ॥ लख निज रूप गुरू की सैना ॥ हर हर-दम देखो नूरा । सो नर जानो जग में पूरा ॥ हुवे अलमस्त नहीं कहुँ भटके । जो न जानि चौरासी भटके ॥ रक्षा रक्षा करो मन माहीं । हर्ष शोक अरु संशय नाहीं ॥ हर्ष शोक ये मन के धर्मा । ब्रह्म रूप होवो निष्कर्मा ॥ ब्रह्मा वरनी रसमत भीना ॥ ध्यान हरे अरु मन को कीनो ॥ धर्म पुण्य में भाग लगावे । ज्ञान ध्यान से मन को सुखावे ॥ ज्ञाता ज्ञान हुवा अब पूरा । ब्रह्म-ज्ञान में हरदम जूरा ॥ यही ज्ञान वशिष्ठ बतलाया । व्यास आदि मन पुराण गाया ॥ जो यह बत्तीसी पढ़ मन लाई । जनम मरण संताप नसाई ॥ करे विचार पावे निर्वाणा । होय मरम के कटे फाना ॥ अक्षर भूल रही हो कोई । गुण करि कृपा सुधारें सोई ॥

१२० दोहा

ब्रह्म बत्तीसी के अर्थ को, जो कोइ लेय पिछान । दुःख
[illegible] ॥ [illegible] रहो निज रूप में

मन में राखो धीर । जैसे हीरा घनन से, चोट सहे गंभीर ॥ ज्ञानी ज्ञान को पाय के, रहते सदा आनन्द । संशय शोक रहे नहीं, कहत केशवानन्द ॥

१२१ ग़ज़ल

अगर चाहो जो कुशलाई । करो वह देश भलाई ॥ कड़ापन दिल से तुम छोडो । जो दिल मे होवे नरमाई ॥टेक॥ मातृवत् जान पर जननी ॥ द्रव्य पर को नहीं हरनो ॥ दम्भ पाखड को तजनी । यही है चाल चतुराई ॥ १ ॥ सबईसे मित्रता कीजे । सुहित के काम को लीजे ॥ अमीरस प्रेम से पीजे । सुफल होवेगी कमाई ॥२॥ ये छिन में श्वास छुट जावे । न कछु भी हाथ मे आवे ॥ तू सिर धुन २ के पछतावे । जनम मानुष का गमाई ॥३॥ कहा अब मानले मेरा । निकट स्वराज का डेरा । तजो भ्रम पाप का घेरा । केशवानन्द बात जनाई ॥४॥

१२२ होली

सत् गुरूजी से खेलो होरी । मैल मनके धोवोरी ॥टेक॥ सत्सग केतो फरश बैठ कर, विषय वासना टारी ॥ मल विक्षेप, आवरण दूर कर । तव होवे अधिकारी, प्रेम को रग चढोरी ॥१॥ साधन चार बजाओ बाजा । शम दम दोऊ करतारी ॥ वैराग्य विवेक के झाँझ हैं बाजे, श्रद्धा तितिक्षा सारी, मुमुक्षुता तान तोडोरी ॥२॥ मनन श्रवण अबीर उडावो निदिध्यासन रग घोरोरी । ज्ञान पिचकारी

मुख पर मारी, वस्त्र भींज गये सारी, रंग में मस्त भयोरी ॥३॥ काम, क्रोध, अरु लोभ, मोह ईंधन एकत्र करोरी । संचित आगमें भर तृष्णा, फूंक दियो जिमि होरी, केशवानन्द सन्त कह्योरी ॥४॥

१२३ होली

सुजन जन ही खेलेंगे होरी । कहा खले मन्द मति भोरी टेक। छत्र चोरासी भ्रमि कर आयो, मनुज जन्म पायोरा । जरा विचार करो दिल अन्दर, देवाए चाह करोरी, ताहि क्यों वृथा खोयोरी ॥ १ ॥ बालापन सब खेलि गंवायो, युवा मस्त भयोरो । पर तिरिया पर मन को चाहे मात पिता दहि गारी, महा उनमत्त भयोरी ॥ २ ॥ वृद्धापन में सब अंग कांपे, उपाय न एक चलोरी । तृष्णा चिन्ता भरभार मरो है खांसी खांस खाँय करोरी, बुढ़ापी फिर यों मरोरी ॥३॥ विवेक विचार करो मन अन्दर, समा ठाठ कसो रा, श्वास के छूटते बिछुड़ जावेंगे घर दौलत परिवारी, केशवानन्द आप कह्यो री ॥४॥

१२४ होली

आयो दाव न हारो भाई, करो संभाल कमाई ॥टेक॥ चार दिशा का घर बाजी है, चोखट रचदी न्यारी ॥ त्रिगुण निद्रा चोव पाशा डारी, मारत चोट बनाई काल की घर पहुराई ॥१॥ चारों खानी गोटी आगे डोरी बाजी बनाई । निडर होय के सब को मारे, [illegible]

क्षमा सिर कुण्डी, दया त्राण वनाई ॥ ढाल कृपान विराग ज्ञान, सत्य सुकृत से चलाई, काल नियरे नहि आई ॥३॥ ऐसा खेल जो खेले खिलारी, अटकी गोटि छुड़ाई ॥ सर्व्व ओर से वह वचि गयी है,पक्की घर में आई, केशवानन्द कहि समुझाई ॥४॥

१२५ होली

शिवजी पूजन करू तुम्हारी, आप हो वीर विहारी ॥टेक॥ आत्मा आप है गिरजाजी मति, प्राण बन्यो सहचारी ॥ शरीर मन्दिर में आप विराजे, पूजा को तैयारो, सत्य व्रत थार भरारी ॥१॥ चित्त के चन्दन, प्रेम की पाती, अक्षत दया चढ़ारी ॥ शान्ति जल से स्नान कराओ, शील संतोष पयढारी, मनवा बन्यो है पुजारी ॥२॥ क्षमा गुलाल अबीर उड़ावो, निष्काम आरती बारो ॥ ब्रह्मानन्द नैवेद्य धर्यो है, घड़ी घंट घमसारी, करुणा मुदिता आरती उतारी ॥३॥ पादप्रदक्षिणा अरु जिव्हास्तुति, अपर्ण सर्व्वस्व करोरी । या विधि पूजा जो नर कीन्ही, जन्म मरन भये दूरी, केशवानन्द आप भयोरी ॥४॥

१२६ दादरा

समझ मन स्वपने को संसार ॥टेक॥ स्वपने माहिं बहुत सुख पायो राजपाट परिवार ॥१। जागपड़ा तव लाव न लशकर, ज्यों का

क्षण क्षण हि तपावे, अवा कुलाल के तास ॥२॥ जब तक जीवे अंतः जरावे, मुवे होली सम खास ॥३॥ अस शरीर में अहम् भाव करि, हुवा विवेक का नाश ॥४॥ केशवानन्द लखो अविनाशी, नहि तो हो जमपुर में हाँस ॥५॥

१२६ होली (पद कुटिया, धूल उड़ान)

उड़ावो उड़ावो, कुटिया की धूल उड़ावो ।टेक'। कुटिया बनी है पंच भूत की तामें जगत् पसारो ॥ सत्व अंश मे ज्ञान इन्द्रियां अत करण समारो, ताहि में आतम पावो ॥१॥ रजो अंश है कर्म इन्द्रियें, पांचो प्राण लगावो ॥ तामें कोइ रूप नहीं है अपना, परिछिन्न अह को जरावो, तवहि निज रूप को पावो ॥२॥ सार वस्तु है रूप आपनो, गो को दूर वहावो ॥ दस दिशि दरशन होत हमेशा, निश्चय धजा उड़ावो, ये ही भेषज को खावो ॥३॥ चारो साधन कोट बनावो, श्रवण मनन दोउ वारी ॥ निज निदिध्यास है नीर निरंतर तामें मल २ न्हावो, मल विक्षेप नसावो ॥४॥ अहं ब्रह्मास्मि प्रगट भयो पावक कुटिया में लगिगयो झारो॥ कुटिया अरु कुटिया अभिमानी, जरि भये दोऊ छारो, राख सब गगन समावो ॥५॥ कुटिया का अभिमान करे सो, मूरख मूढ़ गमारो ॥ एक घर छोड दिया है अपना, काहे करो मुख कारो, केशवानन्द कहि समझावो '। ६ ॥

त्यों निरधार ॥२॥ मात तात भ्राता सुत वनिता, मिथ्या सर्व विकार ॥३॥ कर सत् संग ज्ञान अब आयो, नहिं कोई म्हारो न थार ॥४॥ धमक धाम को वृत्ति न सूझे, यह सब माया असार ॥५॥ छुट्टे है स्वाँस सब बिसर जावेगे, ज्यों मनका का तार ॥६॥ कर निष्काम प्रेम भक्ति को, जो चाहो भव पार ॥७॥ सत्य धर्म को कबहु न त्यागो, केशवानन्द निरधार ॥८॥

१२७ पद

प्रभुजी से करो ना यारो, मन सुम ॥टेक॥ स्वारथ वश परिवार सबहि है मात पिता सुत नारी ॥१॥ अन्त समय कोई काम न आवे, सास ससुर अरु सारी ॥२॥ छल कपट करि माल कमायो, मन में उमँग भयो भारी ॥३॥ अब यमराज कंठ में घेरें, सुध बुध बिसरि है सारी ॥४॥ ज्ञान वैराग्य हृदय में धारो जो चाहो भव पारी ।५॥ नर देही का काम यही है, भजते संत विचारी ॥६॥ दया धर्म हृदय में राखो, बिगड़ी बात सम्हारो ॥७॥ केशवानन्द अमर पद पइहो, तजो जगत् सब खारो ॥८॥

१२८ पद

दृढ़ नर त्रिमि पास ॥ समझ मन ॥टेक॥ तृष्णा आग अहनिशि फूंके, जिमि समुद्र अनन्त कर रास ॥१॥ काम क्रोध

१३२ दोहा

जो निरख्या निज रूप को, देखन जोगन कोय। हम तुम दफ्तर गुम भये, म्हर तान के सोय ॥१॥ अस्ति भाति प्रिय रूप में नाम रूप दो बाध ।.वक्र भाव कैसे रहे, लागी शुद्ध समाध ॥२॥ षीर नीर में प्रीति सम, मिलि रहा एकहि जान। कपट खटाई परत ही, विलग २ होय मान ॥३॥ मुख्य प्रीति का विषय है, आतम ब्रह्म सरूप। तासे ना प्रीती करे, क्यो न पड़े भव कूप ॥४॥ गुरू २ सब कोइ कहे, गुरू लखे ना कोय। एक बार जो गुरु लखे, वह खुद गुरू होय सोय ॥५॥

१३३ राग बंगला

कुटी में क्यों करता अभिमान, कुटिया नरकों की है खान ॥टेक॥ प्रथम गर्भ पिताजी धारे, पीछे माता जान ॥ नरक द्वार से निकस पडी है, नरक द्वार समान ॥१॥ प्रथम दिवस संयोग भयो है, तीजे दधी जमान ॥ तीन मास में पिंड सम जानो, चौथे नख शिख कान ॥२॥ पंचम मास आकार बन्यो है, चेते पिंड में प्रान। छटे मास पुष्ट सब होगये, सप्तम तेज बल जान ॥३॥ अष्ट मास में दुर्बल भयो है, नौमें पूर्ण निर्मान ॥

१३० पद कालिंगड़ा

कुटिया लगी अति खारी ।। मोमन कुटिया लगी अति खारी ।।टेक।। यह कुटिया में बहुत दुख पायो, मल-मूत्र त्याग २ हारी ।। १ ।। यह कुटिया अति जड़ परिणामी, बरत षट विकारी ।। २ ।। या कुटिया में भयो है अनुभव, लगी पंचताप बीमारी ।।३।। जो अभिमान करे सोइ मूरख, ताकी मति गइ मारी ।। ४ ।। कुटिया छोड़े का पद सभी को, सुरपति नर अधिकारी ।। ५ ।। केशव सत गुरु भेद लखायो, छुटि गई कल्पना सारी ।। ६ ।।

१३१ पद कलिंगड़ा

सच्चे पति स लाग ।। सुघरी, सच्चे पति से लाग।। टेक ।। सच्चे पतिव्रिता स्वभाव हैं, ता संग खेलो फाग ।।१।। झूटे पति संग बहुत दुख पायो, तासे पीठ दे भाग ।।२।। शील संतोष की साड़ी पहरो, भूषण पहिरो बैराग ।।३।। सच्चे पति निज रूप कूटस्थ है, तास करो अनुराग ।।४।। निर्भय होकर रहो जगत में डरो न जग की आग ।।५।। केशव सच्चा सतगुरु मिलिया सोइ मरम के दाग ।।६।।

१३२ दोहा

जो निरख्या निज रूप को, देखन जोगन कोय। हम तुम दफ्तर गुम भये, चद्दर तान के सोय ॥१॥ अस्ति भाति प्रिय रूप में नाम रूप दो बाध। वक्र भाव कैसे रहे, लागी शुद्ध समाध ॥२॥ धीर नीर में प्रीति सम, मिलि रहा एकहि जान। कपट खटाई परत ही, विलग २ होय मान ॥३। मुख्य प्रीति का विषय है, आतम ब्रह्म सरूप। तासे ना प्रीती करे, क्यो न पड़े भव कूप ॥४॥ गुरू २ सब कोइ कहे, गुरू लखे ना कोय। एक बार जो गुरु लखे, वह खुद गुरू होय सोय ॥५॥

१३३ राग बंगला

कुटी में क्यों करता अभिमान, कुटिया नरको की है खान ॥टेक॥ प्रथम गर्भ पिताजी धारे, पीछे माता जान ॥ नरक द्वार से निकस पड़ी है, नरक द्वार समान ॥१॥ प्रथम दिवस संयोग भयो है, तीजे दधी जमान ॥ तीन मास में पिंड सम जानो, चौथे नख शिख कान ॥२॥ पंचम मास आकार धन्यो है, चेते पिंड मे प्रान। छटे मास पुष्ट सव होगये, सप्तम तेज बल जान ॥३॥ अष्ट मास में दुर्बल भयो है, नौमें पूर्ण निर्मान ॥

१३० पद कालिंगड़ा

कुटिया लगी अति खारी ॥ मोमन कुटिया लगी अति खारी ॥टेक॥ यह कुटिया में बहुत दुख पायो, मल-मूत्र त्याग २ हारी ॥ १ ॥ यह कुटिया अति जड़ परिणामी, घरत पट विकारी ॥ २ ॥ या कुटिया में भयो है अनुभव, सभी पंचकोष बीमारी ॥३॥ जो अभिमान करे सोइ मूरख, ताकी मति गइ मारी ॥ ४ ॥ कुटिया लखे का बंध सभी को, सुरपति नर अधिकारी ॥ ५ ॥ केशव सत गुरू भेद लखायो, छुटि गई कल्पना सारी ॥ ६ ॥

१३१ पद कलिंगड़ा

सच्चे पति से लाग ॥ सुबुद्धी, सच्चे पति से लाग॥ टेक ॥ सच्चे पतिचित्रआत्मराम हैं, ता संग खेलो फाग ॥१॥ झूठे पति संग बहुत दुख पायो, तासे पीठ दे भाग ॥२॥ दक्षिण संतोष की साड़ी पहरो, भूषण पहिरो वैराग ॥३॥ सच्चे पति निज रूप कूटस्थ है, तासे करो अनुराग ॥४॥ निर्भय होकर रहो जगत में, जरो न जग की आग ॥५॥ केशव सच्चा सतगुरु मिलिया तोड़ भरम के दाग ॥६॥

रती करत है, बुद्धी होगई हान ॥४॥ ग्राम छोड़ कर जंगल रहते, सोवे चद्दर तान ॥ ज्ञान ध्यान की राह न पाई, अन्तर मैला जान ॥५॥ काला नाग बसे बाम्बो में कितनो हि दूध पियान ॥ औसर पाके काटे उसको, असर जाति का जान ॥६॥ बडे भाग मानुष तन पाके समझो चतुर सुजान ।। ज्ञान बिना सुख तीन काल नहिं कहते वेद पुरान ॥७॥ सच्चा लेना सच्चा देना, सच्चा रूप पिछान ॥ केशवानन्द आनन्द बन व्यापक,लखते एक समान ॥८॥

शेर—

सूर्य वत प्रकाश हो, पर आतिस की तरह गरम नहीं ।
चंद्र सम शीतल सदा, पर जलवत् नरम नहीं ॥
आकाशवत् भरपूर हो, नाम रूप सब कूर हो ।
सच्चिदानन्द जहूर हो, सो केशवानन्द का नूर हो ॥

—०—

१३५ दोहा

गुसे तीनों गुण को, प पकड़ा मजबूत ।
नसे तत्व ज्ञान कर, माया करी निपून ॥
ईश्वर के पर पंच में, मालव देश के माहिं ।
शहर एक रतलाम है, राजस्थान हैं ताहिं ॥
ताके पश्चिम भाग में, मील एक है स्थान ।
सागोदिया खाल कहत हैं, नाम यही पहिचान ॥

कुटिया कारन बहुत दुख पायो, कष्ट कर्मातर मान ॥४॥ नरक द्वार में प्रगट भयो है, सुख होय मूढ़ अजान ॥ मानन्द में सब मगन भये हैं, बाजत नभ्य निशान ॥५॥ इस कुटिया में तीन अवस्था बाल युवा अरु ज्ञान ॥ बाल मातानी युवा मस्तानी वृद्ध चिंता ज्ञान ॥६॥ कुटी बनी थी बपूनोमजन को, उलटे फँसा अभिमान भरम करम में ताका जोड़ा, फस गय कुम्भकर ज्ञान ॥७॥ अन्दर नरक बाहर हु नरक, है नरकहि नख शिख मान ॥ जो अभिमान करे कुटिया का, पकड़े चारो खान ॥८॥ जिसको सच्चा गुरु मिला है, बताया गगन निशान ॥ केशव कुटिया की धूल उड़ा के, सोवें ज्वहर तान ॥९॥

१३४ वगला

तजवे कुटिया का अभिमान सुनले कथा लगा कर कान ॥टेक॥ अस्थि मांस की कुटी बनी है मल मूत्र अस्थान ॥ रोम रोम स नरक झरत है, आखिर मिथ्या जान ॥१॥ रावण कुम्भकरण खरदूषण महबाबाहु जान ॥ जिन २ कुटिया राग करा है, तिन ० की भई हान ॥२॥ हिरनाकुश दुर्योधन राजा मधुकैटभ बलवान ॥ कुटिया का अभिमान करे से रहा न नाम निशान ॥३॥ तनक बड़ाई तन धन पाकर पावत है बड़ा मान ॥ खान पान में

उभय ग्राम के बीच में, गुप्त कुटी को जान ।
तामें बैठ पूरण भयो, तत्त्व गुटका ज्ञान ॥
सम्वत की संख्या कहूं, सुनिये चित्त दे कान ।
वसु आठ नव ग्रह है, शशी शशी पहिचान ॥
फाल्गुण कृष्ण द्वितिया भौमवार को आन ।
ता दिन यह पूरण भयो, तत्त्व गुटका ज्ञान ॥

—०—

इति श्री महात्मा परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामीजी
श्री केशवानन्दजी महाराज (श्री केशव भगवान)
कृत तत्त्व-ज्ञान गुटका समाप्त